वक्तव्य

'चतुर्दश-भाषा निबंधावली'-नामक प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय संविधान द्वारा स्वीकृत चौदह प्रमुख भाषाओं और उनके साहित्य पर उनके विशेषज्ञ अधिकारी विद्वानों के लिखे निबंध संगृहीत हैं। ये निबंध बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् के वार्षिकोत्सवों में स्वयं निबंधकारों द्वारा समय-समय पर पढ़े गये थे। आरंभ की निबंध सूची में निबंधकारों के नाम के साथ निबंधों के लेखन-प्रकाशन-वर्ष का भी उल्लेख कर दिया गया है। पुस्तक के अंत में निबंधों के क्रम से निबंधकारों का सचित्र परिचय भी प्रकाशित है।

इस संग्रह के कुछ निबंध बहुत संक्षिप्त हैं। जिन निबंधों में कुछ विस्तृत विवरण है, उन्हें भी हम पूर्णतया संतोषप्रद नहीं मान सकते, क्योंकि चौदह भाषाओं में प्रत्येक भाषा ऐसी है, जिसपर एक स्वतंत्र पुस्तक ही लिखी जा सकती है। अतः चौदह पुस्तकों का विषय चौदह संक्षिप्त निबंधों में ही विशदता से स्पष्ट नहीं हो सकता। फिर भी, इस निबंध-संग्रह में एक साथ ही चौदह भाषाओं के साहित्य की मुख्य-मुख्य बातों का परिचय प्राप्त करने में पाठकों को बड़ी सुविधा होगी। इस निबंध-संग्रह के प्रकाशन का उद्देश्य भी यही है कि संविधान-स्वीकृत भाषाओं और उनके साहित्य की विशेषताओं से हिन्दी-पाठक एक ही स्थान पर थोड़े में ही परिचित हो जायँ।

प्रकीर्णक-पुस्तक-माला का यह दूसरा पुष्प है। पहला पुष्प है—मुंडा-लोक-गीत-संग्रह—'बाँसरी बज रही'। आशा है, भारत की प्रमुख लोकभाषाओं और उनमें उपलब्ध साहित्य पर जो महत्त्वपूर्ण निबंध अबतक पढ़े जाकर प्रकाशित हो चुके हैं, और आगे भी होनेवाले हैं, उनका संग्रह भी कुछ दिनों बाद परिषद् से ही निकलेगा। इस तरह, विविध भारतीय भाषाओं और उपभाषाओं से थोड़ा-बहुत परिचय प्राप्त करके, हिन्दी पाठक भाषा-तत्त्व के अनुशीलन के तो अनुरागी बनेंगे ही, यह भी देख सकेंगे कि सभी स्वदेशी भाषाओं के साहित्य में भारतीय संस्कृति की पुनीत धारा किस प्रकार अन्तःसलिला की भाँति प्रवाहित हो रही है।

अक्षय तृतीया, १८७९ शकाब्द,
२०१४ विक्रमाब्द, खीष्टाब्द १९५७

शिवपूजन सहाय
(संचालक)

विषय-सूची

निबन्धकार-परिचय

चतुर्दशभाषा-निबन्धावली

संस्कृत भाषा और उसका साहित्य

सस्कृत भाषा, जिसे अमरभाषा या देववाणी भी कहते हैं, भारत ही नहीं, सारे विश्व की प्राचीन और परिष्कृत भाषा है, जिसने मानव-सस्कृति और सभ्यता के निर्माण में सर्वाधिक सहयोग प्रदान किया है। ससार की प्राय. सभी आर्यभाषाएँ इसी एक मूलस्रोत से उत्पन्न और अनुप्राणित हैं। यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों ने कोरी कल्पनाओं और हेत्वाभासपूर्ण अनुमानो के आधार पर तुलनात्मक भाषाविज्ञान का आडम्बर खड़ा करके यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि सस्कृत भाषा पूर्वीय भाषाओं की आदि जननी है, किन्तु निरन्तर होनेवाले अनुसन्धानो और गवेषणाओं से यह सिद्ध होता जा रहा है कि पाश्चात्य भू-खण्ड की ग्रीक, लैटिन, इगलिश, जर्मन, रूसी आदि भाषाएँ भी इसीसे अनुप्राणित हैं।

यह भी निर्विवाद मान लिया गया है कि ससार की सर्वप्रथम पुस्तक ऋग्वेद, इसी भाषा मे लिखी गई है, जिसका निर्माणकाल कम-से-कम आठ हजार वर्ष पूर्व हुआ था। जिस समय विश्व के अनेक भू-भागों के निवासी मानव, सकेतों द्वारा अपने मनोभावों को व्यक्त करते थे, उस समय भारतीय ऋषि-महर्षि प्रकृति के गूढ रहस्यों एव आध्यात्मिक तत्त्वों का विशद विवेचन कर रहे थे, जो उनकी ऋचाओं में व्यक्त हुए हैं।

पूर्वीय भू-खण्ड की अनेक भाषाएँ और भारत की सभी प्रान्तीय भाषाएँ तो इसी एक-मात्र मूलस्रोत से उत्पन्न हैं। यद्यपि भारत की द्रविड़ भाषाएँ, जिनका मूल और पद्धति सस्कृत से भिन्न है, उनमें भी अत्यधिक शब्द सस्कृत भाषा के ही हैं।

पारस्य भाषा, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त तथा अफगानिस्तान की पश्तो भाषा सस्कृत से ही उत्पन्न हैं। सिलोन की सिंहली भाषा साक्षात् सस्कृत-प्रसूत भाषा है। सुवर्णद्वीप, जिसे आज कल हिन्दचीन कहा जाता है, और जो लगभग ६-७ शताब्दियों तक भारतीय नरेशों द्वारा शासित होता रहा, उसकी राजभाषा सस्कृत ही रही है। ,काम्बोज (कम्बोडिया), चम्पा (फ्रान्सीसी हिन्दचीन), जावा, सुमात्रा आदि की भाषाएँ सस्कृत से ही अनुप्राणित और भारतीय देवनागरी लिपि में ही लिखी गई। इन देशों की सस्कृति, सभ्यता और साहित्य का विकास एकमात्र सस्कृत भाषा द्वारा ही हुआ है।

इन द्वीपों की सस्कृति और सभ्यता का निर्माण सस्कृत भाषा में तो हुआ ही था, इन द्वीपो पर अनेक शताब्दियों तक हिन्दू-नरेश, मनु के धर्मशास्त्र और कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार राज्य भी करते रहे। कौटिल्य-अर्थशास्त्र के आधार पर निर्मित 'कामन्दकीय नीतिसार' नामक राजशास्त्र की प्रसिद्ध पुस्तक की मूल प्रति जावाद्वीप में उपलब्ध हुई थी और भारत में

प्रकाशित हुई। जावाद्वीप मे ऐसे शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जो ललित गद्यो और पद्यों मे लिखे गये हैं। आज भी इन द्वीपो के मठों, मन्दिरो, नाटको, लोक नृत्यों, लोक कथाओं—यहां तक कि नामों में भी रामायण और महाभारत का प्रभाव पूर्ण रूप से पाया जाता है।

फारस या ईरान के धर्मग्रन्थ 'आवेस्ता' का निर्माण, भारतीय जरदस्त्र ऋषि ने वैदिक भाषा के अपभ्रंश के रूप में किया है। आज भी पारसियो मे अनेक प्राचीन भारतीय परम्पराएँ, रीति-रिवाज प्रचलित हैं। उनके मन्त्र और देवता ऋग्वेद से ही मिलते जुलते हैं।

इस प्रकार विविध भाषा-प्रसविनी प्राचीनतम संस्कृत भाषा मे अनेक महान् गुण और अपनी विशेषताएँ हैं, जो ससार की किसी भाषा में उपलब्ध नहीं हैं।

सस्कृत भाषा के अनुपम गुणो में स्थिरता, सस्कृत भाषा का एक महान् गुण है। कुछ हजार वर्ष पूर्व विकसित होनेवाली ग्रीक, रोमन, हिब्रू आदि पाश्चात्य भाषाएँ तथा पाली, प्राकृत आदि भारतीय भाषाएँ, काल-प्रभाव से आज विलुप्त हो गई, किन्तु सस्कृत-भाषा, ऋग्वेद से लेकर आजतक अविकृत रूप से समूचे भारत राष्ट्र मे एक समान व्यवहृत हो रही है। आज भी स्वल्पतम मात्रा में सही, सस्कृत में नवीन वाङ्मय का सर्जन हो रहा है। पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं नाटको के अभिनय होते हैं और अविरल रूप से भाषण किये जाते हैं।

पाली और प्राकृत भाषा में लिखित बौद्ध और जैन वाङ्मय आज गवेषणा का विषय बन गया, किन्तु सस्कृत में लिखा गया उनका साहित्य आज भी विश्वविद्यालयों और महा-विद्यालयों मे पढा और पढाया जाता है। चरक, आर्यभट्ट, कालिदास, शङ्कराचार्य आदि यदि अपने ग्रन्थों का निर्माण, स्वकालीन और स्वप्रान्तीय प्राकृत भाषा में करते तो आज हम उनके उस अनुपम ज्ञान-विज्ञान से कुछ भी लाभ न उठा सकते और न उनकी ही विश्व में इतनी ख्याति होती। महाकवि 'गुणाढ्य' ने ईसा के पूर्व तीसरे शतक में पैशाची भाषा में एक लाख श्लोकों की 'बृहत्कथा' का निर्माण किया था, जो आज वह नामशेष रह गई, किन्तु सस्कृत भाषा में किये गये इसके अनुवाद— बृहत्कथामञ्जरी' और 'कथासरित्सागर' के रूप में अभी विद्यमान है।

सस्कृत भाषा का शब्द-भाण्डार, अक्षय और अनन्त है। इस भाषा का यौगिक शब्द-निर्माण यन्त्र इतना वैज्ञानिक और समर्थ है कि उसके द्वारा आवश्यकतानुसार प्रत्येक विषय के नवीन शब्दों का निर्माण सरलता से सम्पन्न हो जाता है। इस कारण इस भाषा में तथा इससे प्रसूत क्षेत्रीय भाषाओं में शब्दों का दारिद्र्य कभी भी सम्भव नहीं है।

भिन्न भिन्न अवस्थाओं, प्रसगो, वस्तुओं, भावों और रसो के वर्णन के लिए तदनुकूल वर्णो, शब्दों और क्रियाओं के प्रयुक्त करने की सुविधा एकमात्र सस्कृत भाषा में ही है। एक एक उपसर्ग और अव्यय के द्वारा महान् अर्थों की प्राप्ति इसी भाषा में सुलभ है। एक कथा के पात्र का ओठ किसी कारण कट गया था, अतः उससे ओष्ठो द्वारा उच्चारण सम्भव न था। विद्वान् कवि ने उसके द्वारा कही जानेवाली लम्बी कथा में ओष्ठ्य अक्षरों का प्रयोग ही नहीं किया। एक राजा के महल में व्यावहारिक वार्त्तालाप में 'ट ठ ड ढ ण'—इन कर्णकटु अक्षरों का व्यवहार सर्वथा वर्जित था। इतनी स्वतन्त्रता और सुविधा के साथ आवश्यकतानुकूल शब्दों का समुचित प्रयोग सिवा सस्कृत के किसी भी भाषा में असम्भव है।

एक या दो अक्षरों द्वारा समस्त श्लोक का निर्माण करना, एक ही श्लोक से प्रसङ्ग-सगति पूर्वक दो दो और तीन तीन कथाओं का अथ से इति तक निर्वाह करना; अष्टदल, षोडश दल, और द्वात्रिंशद् दल कमल-बन्धों, भयङ्कर और जटिल सर्प आदि बन्धों का निर्माण करना संस्कृत भाषा की आश्चर्यजनक और कौतूहलपूर्ण विशेषता है। राघव पाण्डवीय, राघव नैषधीय और राघव-पाण्डव यादवीय आदि अनेक महाकाव्य इसके प्रमाण-स्वरूप उपलब्ध होते हैं। रामकृष्णविलोम काव्य जैसे काव्य भी इस भाषा में हैं, जिनमें सीधा पढने से रामकथा और उलटा पढ़ने से कृष्णकथा वर्णन किया गया है। इनका कारण संस्कृत भाषा का अनन्त शब्द-भाण्डार और उसकी यह अद्भुत 'टकसाल' है, जिसमें आवश्यकतानुसार उपयुक्त और नवीन शब्द रूपी सिक्के सर्वदा ढाले जा सकते हैं।

दूसरे, संस्कृत भाषा का प्रत्येक शब्द किसी विशेष अर्थ को लेकर बनाया गया है। शब्दों के पीछे इतिहास है, विकासक्रम है, प्रयोजन है, प्रत्येक शब्द की निरुक्ति है, व्युत्पत्ति है और उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण है। इसके लिए भी पृथक् शास्त्रों का निर्माण किया गया है। अँगरेजी या अन्य भाषाओं में जिस प्रकार अर्थरहित शब्दों का प्रयोग केवल संकेत के लिए किया जाता है, उसी प्रकार यह संस्कृत भाषा में दूषित है। एक उदाहरण लीजिए। संस्कृत भाषा में पत्नी के अनेक नाम हैं जैसे—पाणिगृहीती, द्वितीया, सहधर्मिणी, भार्या, जाया और दारा। यहाँ प्रत्येक शब्द का अर्थ क्रमिक विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को बताता है। पाणिग्रहण होने के समय पाणिगृहीती और उसके अनन्तर द्वितीया। द्वितीया होने पर उसे सहधर्मिणी का पद प्राप्त हुआ। जब सहधर्मिणी रूप में घर का भरण-पोषण करने लगी तब उसे भार्या कहा गया। उसके अनन्तर जब पुरुष ने उसके द्वारा नया जन्म ग्रहण किया तब 'जायते अस्यामिति जाया'। अन्तिम अवस्था में जब विशाल परिवार की स्वामिनी हुई तब उसे दारा का पद प्राप्त हुआ—'दाराः स्यात्तु कुटुम्बिनी'। इस प्रकार पत्नी से दारा तक सभी नाम स्त्री के होते हुए भी अवस्था-भेद से स्वतन्त्र अर्थ रखते हैं। इसके अतिरिक्त 'दारा' शब्द को पुँल्लिंग और बहुवचन माना गया है। इसलिए कि दारावस्था मे वह पत्नी पुरुष के समान कुटुम्ब पर शासन करती है। अत' स्त्रीवाचक 'दारा' शब्द पुँल्लिंग माना गया। फिर घर की सबसे बड़ी और सम्मानित होने के कारण आदर के लिए 'दारा' शब्द बहुवचन में ही प्रयुक्त किया गया है। ऐसी सुव्यवस्थित और सभ्य भाषा एकमात्र संस्कृत भाषा ही है। इसी प्रकार, मनुष्य के जन-लोक, पुरुष, नर आदि शब्दों में मानव की उत्पत्ति से उच्चतम अवस्था में पहुँचने तक का इतिहास अन्तर्निहित है।

संस्कृत भाषा की स्थिरता, विशाल भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों को एक सांस्कृतिक सूत्र में ग्रथित करनेवाली एक अटूट शृङ्खला है। कश्मीर से कन्याकुमारी तक भारतीयों के धार्मिक और सांस्कृतिक कृत्यों में पूजा-पद्धतियों में, एव संस्कारों में संस्कृत भाषा का समान रूप से व्यवहार होता है। आज भी भारत की सभी क्षेत्रीय भाषाओं को संस्कृत भाषा की सन्तान होने और उसके अक्षय और अनन्त शब्द-भाण्डार से आप्यायित होने का समान रूप से अधिकार है। सभी प्रान्तों में वेदों, उपनिषदों, दर्शनों, आयुर्वेद और ज्योतिष के सभी ग्रन्थ एकरूप में ही पढ़े-पढ़ाये जाते हैं। आज चिरवियुक्त हमारे प्राचीन उपनिवेशों—स्याम,

जावा, सुमात्रा, बाली आदि द्वीपों—में इसी भाषा और साहित्य के द्वारा हमारे सम्बन्ध जीवित बने हुए हैं। बाली द्वीप के ब्राह्मण पुरोहित अपनी सन्ध्या-पूजा आदि में उन्हीं मन्त्रों और क्रिया-कलाप का आज भी प्रयोग करते पाये जाते हैं।

यही कारण है कि नैसर्गिक, वैज्ञानिक और शास्त्रीय प्रबल आधारों पर आश्रित संस्कृत भाषा आज सहस्र वर्षों से अविरल रूप में जीवित रह सकी है। संसार की अनेक उच्च भाषाएँ जो ग्रीक और यूनान की संस्कृति और सभ्यता के उत्थान एवं विकास में सहायक थीं, आज काल के अनन्त गर्भ में विलीन हो गईं, किन्तु संस्कृत भाषा की स्थिति आज भी सुदृढ़ है। आठ या दस हजार वर्षों के सुदीर्घ काल में भारत पर अनेक विदेशी आक्रमण हुए, कितने ही सामाजिक सुधार हुए और अनेक धार्मिक आन्दोलन होते रहे, किन्तु संस्कृत भाषा भूत और वर्तमान काल के अंतर को निरन्तर करती हुई चिरन्तन काल से विशाल भारत के कोने-कोने में विराजमान है।

संस्कृत भाषा की सर्वोत्कृष्ट विशेषता इसकी शास्त्रीय उच्चारण-पद्धति है। स्वर शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् भारतीय ऋषिगण ने नाद-विज्ञान का गम्भीर गवेषण किया था। वे नाद-ब्रह्म के उपासक थे। इसी कारण उनकी गद्य-पद्यमयी वाणी में छन्दों का सौन्दर्य और संगीत का स्वारस्य अन्तर्निहित है। पाश्चात्य विद्वान् ई० एच० जोनस्टन ने लिखा है—"प्राचीन भारतीय विद्वानों को नाद और ध्वनि-तरङ्गों के विविध प्रकारों का असाधारण और अति सूक्ष्म ज्ञान था। शब्दोच्चारण और उसके अर्थों के मधुर संगम से जो महान् अलौकिक आनन्द उत्पन्न होता है, वह अन्य भाषा और साहित्य में सर्वथा असंभव है।"

यदि उच्चारण-सम्बन्धी नियमों और तत्सम्बन्धी शास्त्रों का निर्माण न किया जाता, तो आज वह समस्त वैदिक वाङ्मय, अविकल और अविकृत रूप से प्राप्त न हो सकता जो लेखन-कला के अभाव में सहस्रों वर्षों तक वंश परम्परा और गुरु-परम्परा द्वारा केवल स्मरण शक्ति के आधार पर सुरक्षित किया गया था।

आज भी वेदों का परायण, उसी स्वर, लय, मात्रा और गति से और उसी उच्चारण-परम्परा द्वारा किया जाता है, जो सहस्रों वर्ष पूर्व प्रचलित थी।

इसके अतिरिक्त हमारा सर्वस्व इसी भाषा में निहित है। ऋषि-मुनियों का अलौकिक आध्यात्मिक ज्ञान, कपिल-व्यास-गौतम का अनुपम दार्शनिक तत्त्व-ज्ञान, वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति के स्वर्गीय काव्य, चरक, सुश्रुत एवं आर्यभट और वराहमिहिर का आयुर्विज्ञान एवं ज्योतिर्विज्ञान, सृष्टि से प्रलय तक का इतिहास बताने वाले पुराण, धर्म और अर्थशास्त्र, जिनके द्वारा सहस्रों वर्षों से आज तक आर्यजाति शासित हो रही है, वास्तु-स्थापत्य और कला-विज्ञान, सहस्रों वर्षों की आर्य-परम्परा एवं इतिहास इसी भाषा में सुरक्षित है। इसी भाषा में हमारी प्राचीनतम संस्कृति और सभ्यता का निर्माण हुआ है। इसी भाषा के वाङ्-मय में भारतीय आत्मा की पवित्र झाँकी हमें मिलती है, जो हमारे गौरव, गर्व तथा विश्व की अपार श्रद्धा का सुदृढ़ आधार है। संस्कृत के महत्त्व-प्रदर्शन-सम्बन्धी विषय का उपसंहार हम अपने प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल के शब्दों में करते हैं। उन्होंने कहा है—

"यदि मुझसे पूछा जाय कि भारत की सबसे विशाल सम्पत्ति क्या है? और उत्तरा-

धिकारी रूप में उसे कौन-सी वस्तु प्राप्त हुई है, तो मैं निसकोच उत्तर दूँगा की यह सम्पत्ति है—सस्कृत भाषा, उसका साहित्य और उसके भीतर जमा सारी पूँजी।"

सस्कृत भाषा के सम्बन्ध मे पाश्चात्य विद्वानों और कुछ उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों का मत है कि सस्कृतभाषा, जनसाधारण की व्यावहारिक भाषा कभी नहीं रही, प्रत्युत वह सभ्य समाज की परिष्कृत साहित्य-भाषा रही। साधारण जनता की भाषा प्राकृत भाषा थी। उक्त दोनों के नाम से ही यह स्पष्ट प्रतीत होता है। प्राकृत का अर्थ प्रकृति से प्रचलित अर्थात् स्वाभाविक है और सस्कृत का अर्थ है सस्कार की गई भाषा।

इस विषय पर विशेष विवेचन न करते हुए इतना ही कहना आवश्यक है कि रामायण-काल के पहले वैदिक और लौकिक सस्कृत के उन दो भेदों के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। रामायण के लङ्का कांड में हनुमान सीता को सन्देश देने के पहले सोचते हैं कि 'यदि मैं द्विजाति के समान सस्कृत भाषा में बातें करूँगा तो सीता मुझे बानर के रूप में मायावी रावण समझकर भयभीत हो जायेंगी।' इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उस समय उच्च वर्णों की मातृ-भाषा सस्कृत थी और निम्न श्रेणी के व्यक्ति एवं अरण्य-निवासी किसी अन्य असस्कृत भाषा का व्यवहार करते थे।

इससे यह तो निश्चित रूप से माना जा सकता है कि उच्च वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वश्य—सस्कृत भाषा का व्यवहार करते थे और राज-भाषा के रूप में उसका ही व्यवहार होता था। इससे यह भी सहज ही समझा जा सकता है कि जो इस भाषा का व्यवहार न करते थे, वे इसे भलीभाँति समझ सकते थे। इसका उदाहरण सस्कृत के नाटक हैं, जिनमें उत्तम पात्र इसी भाषा का प्रयोग करते हैं और दूसरे पात्र उसे भलीभाँति समझकर अपनी भाषा में उत्तर देते हैं। आज भी यह स्थिति देखी जाती है।

इस विषय पर सक्षेपत यह कहा जा सकता है कि विक्रम सवत्सर से लगभग ७-८ शताब्दी पूर्व उत्पन्न भाषा-विज्ञान के महान् विद्वान् यास्कमुनि ने अपने निरुक्त में तथा उनके कुछ ही परवर्ती महर्षि पाणिनि ने अपने व्याकरण-शास्त्र मे सस्कृत के लिए 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया है। वैदिक भाषा के अतिरिक्त समाज में प्रचलित जिस व्यावहारिक भाषा के व्याकरण की रचना पाणिनि ने की है, वह सस्कृत भाषा ही है। कुछ लोगों का कथन है कि पाणिनि द्वारा तत्कालीन प्रचलित भाषा को सस्कृत और परिष्कृत किये जाने पर ही यह सस्कृत भाषा कही जाने लगी। पाणिनि ने अपने समय में बोली जानेवाली भाषा का व्याकरण लिखा है। यदि वह व्यावहारिक भाषा न होती तो इसके लिए इतना विस्तृत लिखने की आवश्यकता ही न होती। पाणिनि ने अपने समय में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों और मुहावरों को सस्कृत और परिष्कृत किया। पाणिनि के अनन्तर वररुचि ने वार्तिक बनाकर नवीन शब्दों का संस्कार किया। कारण यह है कि उनके समय मे व्यावहारिक भाषा में नये-नये शब्द प्रयुक्त होने लगे थे, जो पाणिनि के काल में प्रचलित नहीं थे।

पाणिनि के समय 'यवनानी' शब्द यवन की स्त्री के लिए प्रयुक्त होता था, किन्तु वररुचि के

समय वह यवनों की लिपि के लिए भी प्रयुक्त होने लगा था, इसलिए उन्होंने 'यवनाल्लिप्याम्' इस वार्तिक का निर्माण कर उसे नियमित किया। इसी प्रकार वार्तिकों द्वारा अनेक नवीन शब्दों का शोधन और समावेश किया जाना संस्कृत भाषा की व्यावहारिकता और प्रगति का द्योतक है।

वररुचि के अनन्तर पतञ्जलि ने, सम्राट् पुष्यमित्र के शासनकाल में, पाणिनि के सूत्रों पर विस्तृत भाष्य लिखा, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक होने के कारण आदरार्थ महाभाष्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसकी भाषा प्राञ्जल लौकिक भाषा का उदाहरण है। इन्होंने तत्कालीन लोक व्यवहार में आनेवाले नवीन शब्दों और मुहावरों का प्रचुर मात्रा में संग्रह और संस्करण किया है। एक सारथी और वैयाकरण विद्वान् के संवाद द्वारा उन्होंने यह प्रदर्शित किया है कि एक वैयाकरण विद्वान् की अपेक्षा रात-दिन भाषा व्यवहार करनेवाला सारथी, शुद्ध शब्दों का प्रयोग करता है और विद्वान् अशुद्ध शब्दों का प्रयोग करता है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया है कि शिष्टजन, व्यवहार में जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं, वे भी प्रामाणिक और शुद्ध हैं। इससे सिद्ध है कि संस्कृत भाषा पतञ्जलि के समय तक व्यावहारिक भाषा थी। भले ही, वह शिष्टजन समाज की भाषा रही हो। ईसा के पूर्व दूसरी-शताब्दी की यह स्थिति है। ईस्वी सन् के प्रारम्भ और आगे की एक-दो शताब्दियों तक इस भाषा के व्यवहार का पता चलता है। सम्राट् साहसाङ्क के राजमहल में संस्कृत भाषा बोलने का ही नियम था—इसका उल्लेख राजशेखर ने किया है। अनेक शताब्दियों तक अखिल भारतीय सभा सम्मेलनों, आयोजनों, न्यायालयों में संस्कृत भाषा ही माध्यम के रूप में प्रयुक्त की जाती रही।

विक्रम से तीन शतक पूर्व आचार्य कौटिल्य ने सम्राट् चन्द्रगुप्त का शासन-विधान संस्कृत-भाषा में ही लिखा और उसके अनन्तर समस्त धार्मिक और व्यावहारिक शास्त्रों का निर्माण संस्कृत भाषा में ही होता रहा।

कुछ लोगों का यह कथन भी समुचित प्रतीत नहीं होता कि "पाणिनि के द्वारा व्याकरण-नियम-निगडित होने के कारण संस्कृत भाषा की गति अवरुद्ध हो गई। पाणिनि ने व्याकरण-शास्त्र का निर्माण करके उसे सीमाबद्ध कर दिया।" किन्तु वास्तविक दृष्टि से विचार करने पर यह मानना पडता है कि पाणिनि, उनके परवर्ती वररुचि और पतञ्जलि ने उस भाषा को सुव्यवस्थित परिष्कृत और नियमित बनाकर उसके अमूल्य जीवन की ही रक्षा नहीं की, उसे स्थिर और समुन्नत बनाने तथा सजाने-सँवारने का महान् प्रयत्न किया। अन्यथा इस भाषा का इतना व्यापक, मधुर और ललित रूप आज दृष्टिगोचर न होता। आज इसका न जाने कैसा विकृत रूप बन जाता। यद्यपि इनके पूर्व और पश्चात् अनेक व्याकरण थे और बनते रहे, किन्तु इन्होंने इस भाषा के जीवित रखने और उत्तरोत्तर समुन्नत करने में जिस अलौकिक प्रतिभा, वैज्ञानिकता और दूरदर्शिता का परिचय दिया है, वह आश्चर्यजनक है।

अब संस्कृत भाषा सम्बन्धी प्रसङ्ग को समाप्त करके उसके विस्तृत साहित्य के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत किये जाते हैं।

'साहित्य' शब्द का अर्थ है—शब्द और अर्थ का समान भाव से मधुर सामञ्जस्य। इस प्रकार 'साहित्य' शब्द का प्रयोग काव्य के विशेष अर्थ में किया गया है। राजशेखर और

वक्रोक्ति जीवितकार भट्ट कुन्तक ने भी 'साहित्य' शब्द का यही अर्थ किया है कि जहाँ शब्द और अर्थ की परस्पर एक की अपेक्षा दूसरे का अपकर्ष या उत्कर्ष न होकर समान रूप से स्थिति हो, उसे साहित्य कहते हैं। अन्य शास्त्रों में कहीं शब्द की और कहीं अर्थ की प्रधानता पृथक् रूप में देखी जाती है, किन्तु काव्य में दोनों की प्रधानता समान रूप में रहती है। अतः साहित्य शब्द, काव्य का वाचक है, जिसमें शब्द और अर्थ का समान रूप से प्राधान्य है। इस अर्थ के अनुसार 'साहित्य' शब्द उस वाङ्मय का प्रतिपादक है, जिसमें काव्य और उसके भेद-प्रभेद एव उसके सभी अगों एव उपाङ्गों पर लिखी समस्त ग्रन्थराशि सम्मिलित है। यद्यपि आजकल इस सीमित अर्थ को छोड़कर साहित्य शब्द का अर्थ किसी भाषा में निवद्ध समस्त ग्रन्थराशि के लिए किया जाता है। किन्तु सस्कृत में इसके लिए व्यापक शब्द 'वाङ्मय' है। अत' हम यहाँ 'साहित्य' शब्द के उसी सीमित अर्थ को लेकर ही उसका दिग्दर्शन करेंगे।

सस्कृत भाषा में निवद्ध समस्त शास्त्रीय ग्रन्थराशि या सस्कृत-वाङ्मय का सक्षिप्त दिग्दर्शन इस स्वल्पकाय निवन्ध में सम्भव नहीं है। ऋग्वेद-काल से आजतक इस भाषा के वाङ्मय में कितनी ग्रन्थराशि लिखी गई, इसकी गणना करना वर्षों के अन्वेषण द्वारा कठिन है। आज अनेक सहस्राब्दियों से विशाल भारत में सहस्र-सहस्र विद्वानों द्वारा जिस वाङ्मय का निरन्तर निर्माण होता रहा है, ऐसे वाङ्मय की विवेचना दुष्कर और महान् कार्य है। अतः यहाँ सस्कृत-वाङ्मय की एक शाखा साहित्य शास्त्र का अतिसक्षिप्त परिचय कराना ही हमारा ध्येय है।

'साहित्य' शब्द का अर्थ काव्य है, जिसमें उसके भेद, प्रभेद तथा उसके सम्बन्ध की सभी सामग्री—रस, अलङ्कार, गुण, रीति, छन्द आदि—का समावेश किया जाता है।

सस्कृत भाषा के मूलग्रन्थ वेद हैं, जो आध्यात्मिक भावना से ओतप्रोत धर्मप्राण भारतीय सस्कृति और सभ्यता के आदि स्रोत और समस्त विद्याओं के मूल स्थान हैं। अतः समस्त भारतीय वाङ्मय उसीकी भित्ति पर स्थित है और सस्कृत साहित्य का भी वही ध्येय है। अन्तर केवल भाषा और भाषण के प्रकार का है। इसीलिए वेदों की भाषा और भाषण शैली प्रभुसम्मित है, पुराणों की मित्रसम्मित और साहित्य या काव्य की भाषा और शैली कान्ता-सम्मित है। सभी का चरम लक्ष्य एक है।

भारतीय सस्कृति का लक्ष्य है—ससार की विकट सघर्षमय स्थिति में रहते हुए भी उसकी उपेक्षा कर, आनन्द-घन सच्चिदानन्द की अनुभूति और उपलब्धि। भारतीय साहित्य का भी यही लक्ष्य है। इसीलिए उसकी आत्मा रस है, जो ब्रह्म का आनन्दमय स्वरूप है, जैसाकि वेद में कहा है—'रसो वै स, रस ह्येवाय लब्ध्वा आनन्दी भवति'। नाट्यवेद के आचार्य 'भरत' ने लिखा है कि 'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।' रस ही काव्य का जीवन प्राण है। अलङ्कार, गुण, रीति, औचित्य आदि सभी काव्य के गुण-रस के साधन हैं। वे रसोन्मेष के कारण हैं। सहृदय हृदय जब रस-ब्रह्म से तादात्म्य भाव को प्राप्त कर लेता है तब समस्त वेद्यान्तर विगलित हो जाते हैं। उसी प्रकार रसास्वाद होने पर उसके सभी साधनों का ज्ञान विगलित हो जाता है। इसी महान् ध्येय के आधार पर साहित्य-सृष्टि हुई है, नाट्य-शास्त्र के प्रथम प्रवर्त्तक आचार्य 'भरत' का यही सिद्धान्त है। यही कारण है कि भारतीय

काव्यों में भारत की दार्शनिक संस्कृति का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। भारतीय नाटकों के दुःखान्त न होने का यही कारण है। भारतीय संस्कृति संसार के पर्यवसान को दुःखान्त नहीं मानती, वहाँ तो जीवन का अन्त सदा मंगलमय और आनन्दमय है। अन्य साहित्यों से संस्कृत साहित्य की यही विशेषता है।

पाश्चात्य संस्कृति के भक्त भौतिकवादी, स्थूल, दृष्टिकोण से हमारे साहित्य की समीक्षा और गवेषणा करते हुए अनाप-शनाप कल्पनाओं और दूषित अनुमानों द्वारा जो भ्रान्त धारणाएँ उत्पन्न करते हैं, वे वास्तव में हमारी आध्यात्मिक संस्कृति के अति गम्भीर रहस्यों से अनभिज्ञ होने के कारण उसके अन्तस्तल में प्रवेश नहीं कर पाते। अस्तु।

संस्कृत साहित्य, उसके भेद-प्रभेद तथा उसके अङ्ग-उप-अङ्ग आदि को मिलाकर विस्तृत वाङ्मय की सृष्टि हुई है। भारतीय विद्वानों का सदा से यह स्वभाव रहा है कि वे जिधर झुके, उसके अन्तिम स्तर तक पहुँचने और उसे सर्वाङ्गपूर्ण बनाने मे उन्होंने कुछ बाकी नहीं छोड़ा। इसी प्रकार साहित्य-विद्या भी अत्यन्त लोकप्रिय रूप मे अपने पूर्ण विकास पर पहुँच चुकी थी। इसके विस्तार का दिग्दर्शन कराने के पूर्व हम इसके विकास और इतिहास पर एक दृष्टिपात कर लेना आवश्यक समझते हैं।

भारतीय साहित्य का प्रारम्भ वाल्मीकि रामायण से माना जाता है—यद्यपि समस्त विद्याओं के स्रोत-स्वरूप वेदों में सर्वप्रथम गीति-काव्यों का तथा उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि अनेक अलङ्कारों का अस्तित्व प्राप्त होता है और संवाद सूक्तों मे नाटकों के बीज भी दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु उनका सर्वाङ्ग पूर्ण और प्राञ्जल रूप सर्वप्रथम रामायण के रूप मे ही दृष्टि-गोचर होता है। रामायण, संस्कृत भाषा का आदि महाकाव्य है। उसमे भारतीय संस्कृति और सभ्यता का विकसित रूप स्पष्ट दीखता है। रामायण के आधार पर संस्कृत साहित्य मे शताधिक काव्यों और नाटकों की रचना की गई है। अनेक पुराणों तथा महाभारत मे इसीके आधार पर रामकथा का वर्णन किया गया है। बौद्ध-ग्रन्थों के चीनी और तिब्बती अनुवादों में तथा बौद्ध और जैनग्रन्थों में रामायण का अधिकाधिक प्रभाव देखा जाता है। संसार की समस्त रचनाओं मे रामायण की कथा सर्वाधिक लोकप्रिय हुई है। रामायण का अन्तरराष्ट्रीय महत्त्व है। जिस प्रकार वैदिक वाङ्मय में ऋग्वेद का सर्वप्रथम और प्रधान स्थान है, उसी प्रकार लौकिक संस्कृत के वाङ्मय में रामायण का सर्वोच्च स्थान है।

रामायण के अनन्तर दूसरा स्थान महाभारत का है। इसके सम्बन्ध में यही एक उक्ति पर्याप्त है कि 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्'। यद्यपि महाभारत को रामायण के समान महाकाव्य नहीं कहा जा सकता, किन्तु अनेक महाकाव्यों का जनक तो निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है। महाभारत वास्तव में इतिहास-ग्रन्थ है।

ये दोनों महाकाव्य, हिमाचल और विन्ध्याचल के समान संस्कृत-साहित्य के नगाधिराज हैं, जिनके अक्षय स्रोतों से निकलनेवाली अनेक साहित्य-सरिताओं ने सहस्रों वर्षों से भारत-भूमि को आप्लावित और आप्यायित करते हुए सरस बना रखा है।

काव्य दो प्रकार के होते हैं—श्रव्य और दृश्य। उनमें श्रव्य काव्य के दो महान् स्रोतों के

अतिरिक्त दृश्यकाव्यों के प्रधानाचार्य भरतमुनि भी संस्कृत-साहित्य के अन्यतम स्रोत हैं। साहित्य के लक्षण-ग्रन्थों में सर्वप्रथम ग्रन्थ, भरत का नाट्यशास्त्र है। नाट्यशास्त्र का मुख्य विषय दृश्यकाव्य है। यद्यपि भरत ने श्रव्यकाव्यों से संबन्ध रखनेवाले रस, अलङ्कार, गुण, वृत्ति, छन्द, नायिकाभेद और काव्यदोषों की विस्तृत विवेचना नहीं की है, तथापि अनेक अध्यायों में इन विषयों पर प्रकाश डाला है। भरत के परवर्ती आचार्यों ने इन विषयों का विस्तृत विवेचन किया है।

उक्त तीनों साहित्य-शास्त्र-प्रवर्तकों के समय आदि के सम्बन्ध में पाश्चात्य और तदनुयायी भारतीय विद्वानों ने अनेक निर्मूल कल्पनाएँ की हैं, जिनमें अनेक अप्रामाणिक और हास्यास्पद भी हैं। जैसे—रामायण का महाभारत के बाद निर्माण और दोनों का बुद्धकाल के बाद निर्माण आदि।

महाभारत के अनन्तर विक्रम-संवत् के प्रारम्भ तक मध्यकाल में साहित्य की प्रगति अनेक धार्मिक और राजनैतिक परिस्थितियों के कारण मन्द थी। लौकिक संस्कृत भाषा में अभी इतना लालित्य और माधुर्य नहीं आया था कि उसमें साहित्य या काव्यों की सृष्टि की जा सके—पाश्चात्य विद्वानों का यह मत है। किन्तु ईसा के पूर्व छठी शताब्दी में पाणिनि ने व्याकरण शास्त्र का निर्माण करने के अनन्तर 'जाम्बवती-विजय' या 'पाताल विजय' नामक काव्य की रचना की थी। यद्यपि ये काव्य, आज उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु कुछ शताब्दी पूर्व तक इनके अस्तित्व का पता लगता है। नवम शताब्दी के राजशेखर ने उनके काव्य की प्रशंसा की है। दशम शतक के क्षेमेन्द्र ने उनके उपजाति वृत्त की प्रशंसा की है। रुद्रट काव्यालंकार की टीका और अमरकोष की टीका में उनके काव्यों की चर्चाओं से भली भाँति उनके कवि होने का प्रमाण मिलता है।

पाणिनि के कुछ परवर्ती आचार्य वररुचि के 'कण्ठाभरण' काव्य की चर्चा राजशेखर ने की है। पुष्यमित्र के समकालीन पतञ्जलि ने 'वाररुच काव्यम्' कहकर उनके काव्य का उल्लेख महाभाष्य में किया है। सूक्तिग्रंथों में वररुचि के अनेक पद्य मिलते हैं। उनकी कविताओं को देखने से वररुचि की उत्कृष्ट कवित्व शक्ति का परिचय मिलता है।

पतञ्जलि ने महाभाष्य में अनेक श्लोक खण्डों, कंस वध, बलिबन्धन आदि नाटकों तथा वासवदत्ता, सुमनोत्तरा और भैमरथी नामक आख्यायिकाओं का उल्लेख किया है। पाणिनि के समकालीन छन्दःशास्त्र के आचार्य पिंगल ने काव्यों में प्रयुक्त होनेवाले अनेक लौकिक छन्दों के लक्षण लिखे हैं, जो नवीन साहित्य में प्रयुक्त होने लगे थे। अतः साहित्य का उदयकाल विक्रम के अनेक शतक पूर्व हो चुका था—यह निःसन्देह कहा जा सकता है।

विक्रमकालीन महाकवि कालिदास ने जिन भास, रामिल, सौमिल, कविपुत्र आदि कवियों के नामों का उल्लेख किया है, वे उनके समय से पूर्व उत्पन्न हो चुके थे। --विक्रम के १५०-२०० वर्ष पूर्व के शिला-लेखों में अत्यन्त ललित संस्कृत-पद्यों में लिखे शिला-लेख प्राप्त होते हैं। अतः विक्रम के पूर्व संस्कृत साहित्य का पूर्ण विकास हो चुका था—इसमें सन्देह नहीं।

विक्रमसंवत् के प्रारम्भ से सस्कृत-साहित्य का यौवन-काल प्रारम्भ होता है। इस समय सस्कृत के साथ प्राकृत भाषा भी पूर्ण विकसित हो चुकी थी। पैशाची भाषा में लिखी गई 'बृहत्कथा' और 'हाल' की 'गाथा सप्तशती' उसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इस समय देश में साहित्य का प्रबल रूप से प्रचार होने लगा था। राजा स्वय कवि होते थे, अतएव वे कवियों का आदर-सम्मान करते थे। 'यथा राजा तथा प्रजा' नियम के अनुसार प्रजा में साहित्य-प्रेम उद्दीप्त हो उठा था। इसी अवसर पर सस्कृत-साहित्य-क्षेत्र के सर्वोत्कृष्ट कलाकार कालिदास ने अपनी अनुपम रचनाओं द्वारा महाकाव्य, खण्डकाव्य और दृश्यकाव्यों की सुसस्कृत, परिमार्जित और सुस्थिर शैली का आदर्श उपस्थित करके साहित्य-क्षेत्र में नवीन युग का प्रवर्तन किया। उनकी रचनाए 'न भूतो न भविष्यति' का वास्तविक उदाहरण हैं। अश्वघोष, भारवि, माघ, कुमार-दास, श्रीहर्ष, रत्नाकर आदि महाकवियों ने इसी शैली का अनुसरण और परिबृहण किया है। उनके खण्डकाव्य या गीतिकाव्य एव मेघदूत के आदर्श पर अनेक दूत-काव्यों की तथा सरस एव मधुर गीतिकाव्यों की रचना को प्रेरणा मिली और उनके भू लोक एव स्वर्लोक का मधुर सामञ्जस्य करनेवाले 'अभिज्ञान शाकुन्तल' ने रूपक रचना में सर्वोत्कृष्ट आदर्श स्थापित किया। यही कारण है कि वे वास्तविक अर्थ में कविकुल-गुरु थे। उनकी स्थापित परम्परा आजतक अविकृत रूप से समस्त भारत में किसी रूप से जीवित है। पिछले कुछ दशकों तक भी सस्कृत भाषा में महाकाव्यों और गीतिकाव्यो की रचना होती रही है।

छठी शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी पर्यन्त कश्मीर मे मस्कृत साहित्य का अत्यन्त मधुर परिपाक हुआ। इस समय महाकवि मेण्ठ, रत्नाकर, आनन्दवर्धन, शिवस्वामी, जगद्धर भट्ट, क्षेमेन्द्र, शम्भु, विल्हण, कल्हण, जल्हण, अभिनन्द आदि वडे वडे दिग्गज महाकवि हुए, जिन्होंने पचास सर्गों तक के महाकाव्यो और सैकड़ों गीतिकाव्यों का निर्माण किया। काव्य-कला की प्रौढता, माधुर्य का अतिशय और रचना का अलौकिक सौन्दर्य इनकी रचनाओं में चरमसीमा तक पहुँच चुका था। कवियों के समान यहाँ के मातृगुप्त और अवन्तिवर्मा जैसे राजा भी महाकाव्यों का प्रणयन करते थे।

सस्कृत-साहित्य के निर्माण, सरक्षण, सवर्द्धन और प्रसार-कार्यों में भारतीय राजाओं द्वारा सर्वाधिक प्रोत्साहन और प्रेरणा प्राप्त हुई। शूद्रक, साहसाङ्क, विक्रम, हाल समुद्रगुप्त, हर्षवर्द्धन, मातृगुप्त, कुमारदास, अवन्तिवर्मा, यशोवर्मा, वाक्पतिराज, भोजदेव तथा कर्णाट, केरल आदि दक्षिण भारत के अनेक राजाओं ने स्वय उच्चकोटि की रचनाएँ की हैं। इनके द्वारा प्रश्रय-प्राप्त अनेक साहित्यकारों ने उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण किया। इनके अतिरिक्त प्रायः सभी भारतीय राजाओं के दरबारो में कवि और विद्वान् रहा करते थे।

प्राचीन समय से राजाओं के दरबारों में प्रतिवर्ष काव्य-गोष्ठियाँ और परीक्षा-सभाएँ होती थीं, जिनमें दूर दूर देशों के कवि अपनी-अपनी रचनाओं को सुनाते थे। उत्कृष्ट रचनाओं पर पुरस्कार प्राप्त होते थे। सर्वोत्कृष्ट साहित्यकारों को विशेष प्रमाणपट्ट दिये जाते थे और ब्रह्म

रथ पर बैठाकर उनकी शोभायात्रा (जुलूस) निकाली जाती थी। राजशेखर ने ऐसी सभाओं की चर्चा की है। पाटलिपुत्र में पाणिनि, वररुचि, पतञ्जलि आदि की परीक्षा तथा उज्जैन में कालिदास, अमर, सूर भारवि आदि कवियों की परीक्षा, पुरस्कार आदि का निर्देश किया है। इस प्रकार के आयोजनों द्वारा दूर-दूर के साहित्यकारों का सम्मेलन और उनकी रचनाओं का प्रसार बहुत शीघ्र होता था। यही कारण था कि केरल से कश्मीर तक नवनिर्मित साहित्य का शीघ्र ही प्रसार हो जाता था।

कवियों के अतिरिक्त, साहित्य शास्त्र के महान् आचार्य आनन्दवर्धन आचार्य अभिनव गुप्त, वामन, रुद्रट, रुय्यक वक्रोक्तिमार्ग के प्रवर्तक भट्ट कुन्तक, मम्मट, महिम भट्ट आदि साहित्य-दर्शन के मर्मज्ञ विद्वानों ने अपनी गम्भीर गवेषणाओं और अखण्ड पाण्डित्य के आधार पर साहित्य को दर्शन आदि गम्भीर शास्त्रों की कोटि में लाकर उसका महान् गौरव बढ़ाया। कश्मीर के सिद्ध-सारस्वत कवियों ने संस्कृत भाषा के साहित्य को बाह्य और आभ्यतर रूपों से प्रौढतम और मधुरतम बनाने एवं संस्कृत-साहित्य के उत्कर्ष बढाने में सर्वाधिक कार्य किया है।

आठवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक कन्नौज भी साहित्य सृष्टि का केन्द्र रहा है। स्वयं महाकाव्य के प्रणेता यशोवर्मा, महेन्द्रपाल, महीपाल आदि राजाओं के समय यहाँ भवभूति, राजशेखर, वाक्पतिराज, आर्य क्षेमीश्वर, प्रचण्ड दार्शनिक महाकवि श्रीहर्ष आदि विद्वानों ने उच्च कोटि के दृश्यकाव्यों की रचना द्वारा साहित्य की महनीय सेवा की है। उत्तररामचरित, मालतीमाधव, बालरामायण, कर्पूरमञ्जरी, विद्धशालभञ्जिका, चण्डकौशिक जैसे साहित्य ससार के उच्चतम नाटकों की तथा 'नैषधीय चरित' ऐसे अद्भुत महाकाव्य की रचना की गई, जो साहित्य में अत्यन्त गौरवपूर्ण मानी जाती है।

बंगाल के सेनवंशी राजाओं के समय आचार्य गोवर्धन, महाकवि जयदेव, धोयी, कविराज, शरण आदि महाकवियों ने आर्यासप्तशती, गीतगोविन्द, पवनदूत आदि काव्यों का निर्माण किया, जो संस्कृत के गीतिकाव्यों में युगान्तर उत्पन्न करते हैं। इनमें संस्कृत भाषा की मधुरिमा चरम रूप में दीख पड़ती है।

दसवीं शताब्दी के अनन्तर दक्षिण भारत में संस्कृत-साहित्य का निर्माण विशेष रूप में प्रारम्भ हुआ। इनकी रचना-शैली अन्य प्रान्तीय शैलियों से भिन्न थी, किन्तु अत्यन्त प्रौढ़ और आकर्षक। यहाँ कुछ महाकाव्यों के अतिरिक्त खण्डकाव्यों, स्तोत्रकाव्यों, नाटकों, चम्पूग्रन्थों, भाण, प्रहसन आदि रूपकों का प्रचुर मात्रा में निर्माण हुआ। इस युग के अंत में वेंकटाध्वरि पण्डितराज तथा जगन्नाथ के अतिरिक्त अप्पय दीक्षित, नीलकण्ठ दीक्षित आदि महाकवि और साहित्य-दर्शन के प्रचण्ड विद्वान् उत्पन्न हुए। रसगंगाधर और कुवलयानन्द ऐसे प्रौढ, प्रामाणिक और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों का इनके द्वारा निर्माण हुआ। दक्षिण देश में संस्कृत-साहित्य पर जो प्रचुर कार्य हुआ है, वह अत्यन्त गौरवान्वित और स्पृहणीय है।

ग्यारहवें शतक में गुर्जर देश में भी संस्कृत-साहित्य के रचनात्मक और विवेचनात्मक कार्य हुए हैं। कायस्थ महाकवि सोड्ढल की 'उदय सुन्दरी कथा' और वास्तुपाल के रूपक इसी शताब्दी में उपलब्ध हुए हैं। इस समय में संस्कृतप्रेमी गुजरात के राजाओं के प्रश्रय में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई है। इसमें जैन विद्वानों का अधिक सहयोग रहा है।

पिछली शताब्दियों में राजस्थान मे भी संस्कृत-साहित्य का निर्माण हुआ है। इस समय भी अनेक साहित्यकारों की रचनाएँ प्राप्त होती हैं। हम्मीर-विजय, पृथ्वीराज-विजय आदि अनेक महाकाव्यों की रचना हुई है। विक्रम की पिछली शताब्दी में जयपुर के श्रीकृष्णरामकवि प्राचीन महाकवियों की टक्कर के साहित्यकार थे। जयपुर विलास आदि अनेक ललित रचनाएँ इन्होंने की हैं, जो अब अलभ्य हैं।

साहित्य-निर्माण काल की अन्तिम अवधि विक्रम की विंश शताब्दी के प्रारम्भ कालतक रही है। इस समय भी भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में साहित्य निर्माण-कार्य चलता रहा है और आज भी किसी रूप में प्रचलित है।

इस शतक में भारत प्रसिद्ध महाविद्वान् महामहोपाध्याय गङ्गाधर शास्त्री तैलङ्ग का अलिविलासिसलाप, बंगाल के महामहोपाध्याय पञ्चानन तर्करत्न, विहार के रामावतार शर्मा पाण्डेय एवं मिथिला के अनेक विद्वानों द्वारा उच्चकोटि के श्रव्य और दृश्यकाव्यो का उल्लेखनीय निर्माण हुआ है।

श्रव्यकाव्यों के अवान्तर भेदों में कुछ स्तोत्र-काव्य भी साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। रस, भाव, अलङ्कार, गुण आदि की दृष्टियो से ये स्तोत्र उत्कृष्ट साहित्य में स्थान प्राप्त करते हैं। कश्मीर के महाकवि जगद्धर भट्ट का स्थान इनमें सभी दृष्टियो से श्लाघ्य है। इनका 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' नामक वृहत्-स्तोत्र-संग्रह, अद्भुत कवित्वमय है। सोलह वर्ष के इस शिवभक्त महाकवि की आश्चर्यजनक और प्रसादमय कविता में कुछ अलौकिक आस्वाद और अनिर्वचनीय माधुर्य है। इसके अतिरिक्त बाणभट्ट का चण्डीशतक, मयूर का सूर्यशतक, शङ्कराचार्य की सौंदर्य-लहरी, मूककवि के पञ्चस्तव, वेंकटाध्वरि का लक्ष्मीसहस्र, पण्डितराज का लहरी-पञ्चक, विष्णुभक्तिकल्पलता आदि अनेक उत्कृष्ट स्तोत्र हैं। इन्हींके आदर्श पर बनाया गया आचार्य रामावतार शर्मा का मारुतिशतक भी इसी कोटि की आधुनिक रचना है।

दृश्यकाव्यों के सम्बन्ध में पिछले प्रघट्टकों में साधारण चर्चा की गई है। इनकी उत्पत्ति कब और कैसे हुई ?—यह विषय अत्यन्त जटिल और छान-बीन का है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय नाटकों पर ग्रीक और यूनानी प्रभाव का समर्थन करने का महान् यत्न किया है, जो सर्वथा असार और निर्मूल संकुचित भावना पूर्ण होने के कारण विमर्शनीय नहीं हो सकता। समस्त विद्याओं के मूल-आधार वेदो के संवाद सूक्तों में इसके बीज पाये जाते हैं। 'उर्वशी ह्याप्सरा पुरूरवसमैड चकमे' इस सूत्र के आधार पर कालिदास के विक्रमोर्वशीय रूपक की रचना की गई है। नाट्यविद्या को पञ्चम वेद माना गया है। पाश्चात्य विद्वानो ने यह

स्वीकार किया है कि वैदिककालीन यज्ञों में गायन और नर्त्तन के साथ सवाद सूक्तों का अभिनय होता था।

भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार देवताओं की सभा में त्रिपुरदाह नामक डिम और समुद्रमन्थन समवकार का प्रथम अभिनय किया गया था। पाणिनि के पूर्व नटसूत्र नामक सूत्र-ग्रन्थ का पता चलता है, जो नाट्यशास्त्र विषयक मूलग्रन्थ था। पतञ्जलि ने अपने भाष्य में कसवध और बलिबन्धन नाटकों के नाम दिये हैं।

लगभग उन्हींके समय निर्मित भारतीय नाट्यशास्त्र मे अनेक नाटकीय विषयों का विस्तार देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि नाटकों की रचना उससे सहस्रों वर्ष पूर्व होने लगी थी। उसका इतना विकसित रूप दो-चार सौ वर्षों में सम्पन्न नहीं हो सकता।
'जवनिका' शब्द को लेकर ग्रीक और यूनान द्वारा भारतीय नाट्यकला का उन्मेष मानने वाले कुछ पाश्चात्य विद्वानों की कल्पनाएँ या तो उनके घोर अज्ञान-प्रसूत हैं या संकुचित मनोवृत्ति के कारण दुराग्रह-ग्रहिल हैं। ग्रीक और भारतीय नाट्य परम्पराएँ प्रकृत्या भिन्न हैं, उनका लेशमात्र सामञ्जस्य भी सम्भव नहीं है। फिर, ग्रीक और यूनान की सभ्यता के जन्म-ग्रहणकाल तक भारतीय नाट्यकला पर्याप्त मात्रा में परिष्कृत और परिमार्जित हो चुकी थी।

उपलब्ध सस्कृत रूपकों में सर्वप्रथम 'भास' की नाटकावली उपलब्ध होती है, जिसमें तेरह नाटक प्राप्त हुए हैं। इस सबंध में कुछ लोगों का मत है कि 'स्वप्नवासवदत्तम्' को छोडकर अन्य नाटक भास के नहीं हैं उनके नाम से कल्पित किये गये हैं। इस सम्बन्ध में इस अवसर पर विचार करना कठिन है। भास के अनन्तर कविकुल-गुरु कालिदास के तीन नाटक उपलब्ध होते हैं, जिनमें अभिज्ञान शाकुन्तल, समस्त रूपक-जगत् में सर्वोच्च कोटि का नाटक माना जाता है। इनके अनन्तर अश्वघोष का 'शारिपुत्र प्रकरण' है, जो नौ अङ्कों में लिखा गया है। विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस,' शूद्रक का 'मृच्छकटिक' और भट्ट नारायण का 'वेणीसहार' अपने-अपने विषय के प्रथम श्रेणी के नाटक हैं। इनके अनन्तर कालिदास की कोटि के भवभूति का समय आता है—इनके तीन नाटकों में करुणरस-प्रधान 'उत्तर-रामचरित' सस्कृत-साहित्य का अमूल्य रत्न है। सम्राट् हर्षवर्धन की 'रत्नावली' और 'नागानन्द' भी उच्चकोटि के रूपकों में हैं। राजशेखर, आर्य क्षेमीश्वर, मुरारि और जयदेव के रूपक साहित्य-क्षेत्र में अपना विशेष स्थान रखते हैं। इसके अतिरिक्त सस्कृत-साहित्य में अनेक छाया-नाटक और प्रतीक नाटकों की रचना हुई है।

सस्कृत के दृश्यकाव्यों के मुख्यतः दस प्रकार और अट्ठारह उपप्रकार हैं। इस अतिशय मधुर और ललित साहित्य का संस्कृत में श्रव्यकाव्यों की अपेक्षा अधिक विस्तार हुआ है। इन दृश्यकाव्यों में कुछ सस्कृत रूपकों की चर्चा पहले की गई है।
पद्य-काव्यों के अतिरिक्त सस्कृत के गद्य काव्यों का निर्माण भी अपनी तुलना नहीं रखता। सस्कृत में सर्वप्रथम और सर्वप्राचीन गद्य के दर्शन तो वैदिक सहिताओं से प्रारम्भ

होते हैं, जो अन्त में नव्य न्याय की क्लिष्टतम शैली में पर्यवसित होते हैं। इस शास्त्रीय गद्य के अतिरिक्त साहित्य गद्य का प्रारम्भ महाकवि सुबन्धु की 'वासवदत्ता' से होता है। इनके पूर्व भी भट्टार हरिचन्द्र के गद्य-प्रबन्ध की चर्चा बाणभट्ट ने की है, जो अभी तक उपलब्ध नहीं है। संस्कृत साहित्य में गद्य शैली का सर्वोत्तम और मधुरतम रूप बाणभट्ट के ग्रन्थों में पाया जाता है।

पद्य-शैलियों के समान गद्य की भी अनेक शैलियाँ हैं। किंतु गद्य का प्रधान गुण ओज है। ओज के बिना गद्य निर्जीव-सा हो जाता है। गद्य, कवि की प्रतिभा और पाण्डित्य की कसौटी है। इसमें पूर्ण सफलता प्राप्त करनेवाले महाकवि बाणभट्ट का सर्वोच्च स्थान है। उनके अतिरिक्त दण्डी, धनपाल, सोमदेव सूरि, त्रिविक्रम भट्ट, अनन्त, सोड्ढल आदि गद्य के प्रौढ़ महाकवि हैं। इनमें सोमदेव, त्रिविक्रम और अनन्त कवि ने क्रमशः यशस्तिलक, नल और भारत चम्पुओं का निर्माण किया है, जो गद्य-पद्यात्मक हैं, किंतु उनमें उत्कृष्ट गद्य भाग साहित्य-दृष्टि से उच्च स्थानीय है। दक्षिण की प्रचण्ड गद्यशैली 'वरदाम्बिका परिणय' चम्पू में देखी जाती है। आधुनिक युग के प्रसिद्ध कवि विश्वेश्वर पाण्डेय की मन्दारमञ्जरी' तथा अम्बिकादत्त व्यास का 'शिवराज-विजय' सरल, प्रौढ और सुन्दर गद्य शैली के उल्लेखनीय ग्रंथ हैं।

संस्कृत का कथा-साहित्य भी विश्व के साहित्य में प्रभावपूर्ण स्थान रखता है। यद्यपि पाश्चात्य साहित्य में आज इस कथा-साहित्य को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है, किंतु इसका उद्गम भी भारतीय साहित्य के आदिस्रोत ब्राह्मण ग्रंथों में पाया जाता है। धार्मिक और पौराणिक कथाओं को छोडकर मनोरजन-प्रधान लोक-कथाओं का प्रारंभ, अज्ञात काल से प्रचलित था। किंतु उनका सर्वप्रथम संग्रह महाकवि गुणाढ्य ने 'बृहत्कथा' के नाम से किया, जिसके संस्कृत में तीन अनुवाद प्राप्त होते हैं। इन कथाओं के आधार पर अनेक संस्कृत गद्यकाव्यों तथा नाटकों की रचना हुई। पञ्चतन्त्र इस साहित्य की सर्वप्रिय रचना है, जिसका छठी शताब्दी में प्रथम अनुवाद पहलवी भाषा में हुआ और उसके बाद विश्व की अनेक भाषाओं में अनूदित होकर इसने विश्व को एक नवीन शैली प्रदान की। वेताल पंचविंशति, शुकसप्तति आदि संस्कृत की कथाएँ भी अपनी लोकप्रियता के कारण अनेक भाषाओं में अनूदित हुई हैं।

संस्कृत-साहित्य के इस ललित निर्माण में बौद्ध-कवियों की रचनाएँ भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। कालिदास-युग के अश्वघोष, मातृचेट और आर्यसूर जैसे मर्मज्ञ महाकवियों की बुद्धचरित, सौन्दरनन्द, जातकमाला आदि रचनाएँ प्रथम श्रेणी की रचनाएँ हैं। जैन-कवियों ने भी संस्कृत-साहित्य के मधुर और सरस निर्माण में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। साहित्य क्षेत्र में संकुचित साम्प्रदायिक भावनाओं को दूर कर उन्होंने रामायण और महाभारत ही नहीं, भागवत की कृष्ण लीलाओं के आधार पर भी अनेक महाकाव्यों की रचना हिन्दू दृष्टिकोण से की है। ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग जैन महाकवियों ने इस क्षेत्र में प्रवेश किया है। अमरचन्द्र सूरि का ४० सर्गों में लिखा गया 'बालभारत' नामक महाकाव्य वैदर्भी रीति का सुन्दर

उदाहरण है। पाण्डव-चरित, नरनारायणानन्द, वसन्त-विलास, धर्मशर्म्माभ्युदय, हीरसौभाग्य आदि महाकाव्यों के अतिरिक्त अनेक महाकाव्यों और खण्डकाव्यों की रचना की गई है। आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' जैसे उत्कृष्ट काव्य-रचना-शास्त्र के निर्माण के अतिरिक्त सस्कृत साहित्य के अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों का निर्माण भी किया है।

सस्कृत-साहित्य की सृष्टि में अनेक महिला कवयित्रियो ने भी अत्यधिक योगदान किया है। इनमें महाराष्ट्र, आन्ध्र, कर्णाट, केरल और लाटदेश की कवयित्रियों का अधिक पता चलता है। जिनमें विजया विज्जिका, कर्णाट-राजप्रिया, मधुरवाणी, प्रभुदेवी, सुभद्रा आदि की स्फुट रचनाएँ तो प्राप्त होती हैं, किन्तु उनके निबन्ध नहीं मिलते। दक्षिण भारत में कुछ कवयित्रियों के प्रबन्ध प्राप्त हुए हैं। राजशेखर ने इनकी चर्चा अपनी प्रशस्तियों में की है। काव्य-प्रकाश ऐसे उच्चकोटि के ग्रन्थों में इनकी रचनाएँ उद्धृत हैं। पिछले दशकों में श्रीमती क्षमाराव ने, जो कर्णाटदेशवासिनी थीं, गान्धीवाद तथा अनेक स्फुट विषयों पर सुन्दर काव्य निर्माण किया है।

काव्य के मध्ययुग में चित्रकाव्य-रचना की ओर कवियों का ध्यान अधिक आकृष्ट हुआ प्रतीत होता है। सर्वप्रथम भारवि के किरातार्जुनीय' में एक सर्ग चित्र-रचना का है, जिनमें एकाक्षर और द्व्यक्षर श्लोक तथा मुरज, कमल आदि बन्धों द्वारा आश्चर्य और कौतूहलपूर्ण चित्र-निर्माण किया गया है। इस परम्परा को माघ ने परिबृंहित किया है। आगे चलकर इस रचना की ओर कवियो का झुकाव अधिक दीखता है। अनेक चित्र-काव्य निर्मित्त हुए। इसके अन्तर्गत क्रियागुप्त, कारकगुप्त प्रहेलिका और कूट-रचनाएँ भी होने लगीं और इनपर कुछ लक्षण-ग्रन्थ भी लिखे गये।

उच्च साहित्य की दृष्टि से यह तृतीय श्रेणी का काव्य माना गया है और साहित्य के तृतीय युग में ही ऐसी रचनाएं अधिक उपलब्ध भी हुई हैं। तृतीय श्रेणी की रचना होने पर भी इसमें कवि की प्रतिभा, पाण्डित्य, सूझ-बूझ और व्यापक ज्ञान का पता चलता है। ऐसी रचनाएँ पिछली तीन-चार शताब्दियों के इधर अधिक मात्रा में देखी गई है। आज भी सस्कृत के ऐसे अनेक कलाकार विद्यमान् हैं।

सस्कृत-साहित्य की चर्चा में लक्ष्य-चर्चा के साथ लक्षण-चर्चा भी आवश्यक है। लक्षण-ग्रन्थों में काव्यों के लक्षण, स्वरूप, प्रकार, उनके गुण, दोष, अलङ्कार, शैली वृत्ति, रस, ध्वनि और अन्यान्य अनेक निर्माण सामग्री आदि का विवेचन किया गया है। यह एक अतिविस्तृत और गहन विषय है। इसमें अलङ्कार, रस, वक्रोक्ति, औचित्य आदि अनेक सम्प्रदाय हैं।

काव्य लक्षण-सम्बन्धी सर्वप्रथम चर्चा अग्निपुराण में की गई है। इसके अनन्तर मेधावी रुद्र, भामह, दण्डी, वामन, रुय्यक आदि अलङ्कारवादी विद्वानों ने इस विषय पर ग्रन्थ लिखे हैं। अलङ्कार और रीति को काव्य की आत्मा माननेवाले ये प्राचीन आलङ्कारिक हैं। नवम शतक के कश्मीरी आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि पर अत्युत्कृष्ट और गभीर ग्रन्थ लिखा

है, जो साहित्य का प्रामाणिक और मूल ग्रन्थ माना जाता है। ये ध्वनिमत-प्रतिष्ठापनाचार्य कहे जाते हैं। अभिनव गुप्त और मम्मट ने इस मत को शास्त्रीय दृष्टि से प्रतिष्ठित किया है। ये ही तीन, ध्वनि-रस शास्त्र के, प्रधान और प्रामाणिक आचार्य हैं।

कश्मीर के महिमभट्ट ने, जो प्रचण्ड तार्किक थे, ध्वनि के खण्डन में व्यक्ति विवेक नामक ग्रन्थ की रचना की है। कश्मीर के ही भट्टकुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवन मानते हुए 'वक्रोक्तिजीवित' नामक सूक्ष्म मीमासापूर्ण ग्रन्थ लिखा है।

दशम शतक के गम्भीर समालोचक क्षेमेन्द्र ने औचित्य पर नवीन मीमासा की है। इनके अनन्तर साहित्य दर्पण, रसगगाधर--ये दो अत्यन्त उत्कृष्ट ग्रन्थ निर्मित हुए।

इनके अतिरिक्त मीमासक-कवि राजशेखर ने काव्य रचना शास्त्र के सम्बन्ध मे नवीन और सूक्ष्म मीमासा-पद्धति का आरम्भ किया। उनकी शैली का अनुकरण करते हुए भोजदेव, जैनाचार्य हेमचन्द्र, शारदातनय आदि ने सरस्वती-कण्ठाभरण, काव्यानुशासन आदि सग्रहात्मक ग्रन्थों का निर्माण किया है।

सस्कृत-साहित्य का क्षेत्र इतना व्यापक और विस्तृत है कि उसकी चर्चा सीमित पृष्ठों में नहीं की जा सकती। उसके अवान्तर भेद-प्रभेद भी अत्यधिक हैं। यदि कलाओं को भी साहित्य के अन्तर्गत माना जाय तो इसका विस्तार और भी अधिक हो जाता है। चौंसठ कलाएँ और चार सौ उपकलाएँ हैं। भामह ने लिखा है—

न तच्छास्त्रं न सा विद्या न तच्छिल्पं न सा कला
जायते यन्न काव्याङ्गं अहो भारो महान् कवेः।

हम इस प्रसङ्ग को यहीं समाप्त करते हुए यही चाहते हैं कि समस्त प्रान्तीय भाषाओं को और विशेषतः राष्ट्रभाषा को उन्नत बनाने के लिए इसकी रक्षा की जाय, इसके उपयोगी वाङ्मय का हिन्दी तथा प्रान्तीय भाषाओं में अनुवाद किया जाय और नव साहित्य का निर्माण करने वालों के लिए इसका अध्ययन अनिवार्य हो। इस भाषा और साहित्य की उपेक्षा करना अपनी अक्षय और अनन्त सम्पत्ति से वचित होकर अपने अस्तित्व की उपेक्षा के समान होगा।

—केदारनाथ शर्मा सारस्वत

तमिल् भाषा और साहित्य

आमुख—तमिल् द्राविड़-परिवार की भाषाओं में प्रमुख और समृद्ध भाषा है। यह संसार की प्राचीनतम मौलिक भाषाओं में एक है। इस भाषा की प्रथम साहित्यिक रचना कब हुई, कहना कठिन है। प्राप्त प्रमाणों से इतना निश्चित है कि ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व यह भाषा सुसंस्कृत और सुव्यवस्थित थी तथा इसमें अनेक उत्तमोत्तम रचनाएँ हो चुकी थीं। प्रचलित भारतीय भाषाओं में तमिल् ही एक ऐसी भाषा है जो संस्कृत शब्दों की सहायता के बिना हर प्रकार के विचार को अभिव्यंजित करने में समर्थ रही है। यद्यपि गत कई शताब्दियों से संस्कृत से तमिल भी प्रभावित हुई है, फिर भी अन्य द्राविड भाषाओं की अपेक्षा तमिल् में संस्कृत के शब्द अत्यल्प मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। तमिल्-साहित्य पर विस्तार से विचार करने के पूर्व तमिल्भाषी क्षेत्र, लिपि और भाषा की विशेषताओं पर संक्षेप में प्रकाश डालना असंगत नहीं होगा।

क्षेत्र—आज तमिल्भाषी प्रदेश का क्षेत्रफल लगभग पचास हजार वर्गमील है और तमिल् बोलनेवालों की संख्या लगभग तीन करोड़ है। कुछ विद्वानों के मतानुसार ईसा से सदियों पूर्व तमिल्भाषी प्रदेश, पूर्व में जावा द्वीपसमूह से लेकर दक्षिण-पश्चिम में अफ्रीका तक फैला हुआ था। उस भूखण्ड को 'लेमोरिया' कहते थे। प्राकृतिक उथल-पुथल के कारण वह भू-भाग जलमग्न हो गया और दक्षिण भारत तथा श्रीलंका ही शेष रह गये। इसके अतिरिक्त मोहनजदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेष ने भी द्राविड जाति और भाषा की प्राचीनता और विस्तार को प्रमाणित किया है।

लिपि—कई लोगों का मत है कि नागरी की तरह तमिल् लिपि का आधार ब्राह्मी लिपि है। परंतु कुछ लोगों का कहना है कि इसका संबंध एक स्वतंत्र और मौलिक लिपि से है। इसको गोल-लिपि (वट्टेळुत्तु) कहते थे। तमिल् में बारह स्वर और अठारह व्यंजन हैं। नागरी की भाँति तृतीय अक्षर और महाप्राण अक्षर नहीं हैं। उदाहरण के लिए 'क' वर्ग से लेकर 'प' वर्ग तक केवल प्रथम और अंतिम अक्षर हैं (कुल १० अक्षर); फिर य, र, ल, व चार अक्षर हैं। इन चौदह अक्षरों का रूप नागरी लिपि में लिख सकते हैं। इनके अतिरिक्त चार वर्ण और हैं जो तमिल् के विशेष वर्ण हैं। वे हैं - ऴ (Zha), ळ (Lla), ऱ (Rra), ऩ (Nna)। इनमें पहला 'ऴ' तमिल् का प्राण है।

संस्कृत के प्रभाव के कारण बहुत-से संस्कृत के शब्द तमिल में सम्मिलित कर लिये गये। महाप्राण अक्षर के अभाव में इन शब्दों के लिखित रूप को शुद्ध-शुद्ध पढ़ना कठिन हो गया था। अतः ग्रन्थ-लिपि का प्रचलन हुआ। यह लिपि आकार-प्रकार में द्राविड भाषाओं से मिलती-जुलती थी, लेकिन उच्चारण और क्रम में, नागरी तथा इसमें कोई अंतर नहीं था। परंतु साहित्य-क्षेत्र में यह लिपि नहीं चली, केवल चार वर्णों का दान करके यह धार्मिक ग्रन्थों तक सीमित रह गई। वे चार अक्षर हैं—ज, स, ष, ह।

तमिल्-साहित्य का प्रारंभ—प्राप्त प्रामाणों से विद्वानों का मत है कि ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व ही से तमिल् में सुव्यवस्थित साहित्य-रचना आरंभ हो गई थी। साहित्य-सृजन

के कार्य को उस समय के पाडिय राजाओ ने पर्याप्त प्रोत्साहन दिया था। इसके लिए उन्होने अपने तत्त्वावधान में साहित्य परिषद् की स्थापना की थी जिसे तमिल में 'सघम' कहते हैं। इस प्रकार के तीन सघ एक के बाद एक स्थापित हुए जिनके सदस्यों ने अद्वितीय ग्रन्थों की रचना करके तमिल्-साहित्य को समृद्ध किया। प्रथम दो सघों के समय के रचे ग्रन्थ नहीं मिलते। केवल तृतीय सघ के समय के रचे ग्रन्थ ही मिलते हैं। आगे इन सघों को आधार मानकर तमिल्-साहित्य का काल-विभाजन किया जायगा और प्रत्येक काल की साहित्य-रचनाओं और उनकी विशेषताओ पर प्रकाश डाला जायगा।

काल-विभाजन—सुविधा की दृष्टि से तमिल साहित्य के इतिहास को निम्नलिखित विभागों में विभाजित कर लेना समीचीन होगा :—

(१) सघपूर्वकाल, (२) सघकाल, (३) सघोत्तरकाल, (४) भक्तिकाल, (५) कवनकाल (प्रबध काव्यकाल), (६) मध्यकाल, (७) आधुनिक काल।

१. **संघपूर्वकाल**—अन्यत्र लिखा जा चुका है कि तीन साहित्य परिषदें या सघ थे। इनमें प्रथम दो सघों के समय के अधिकाश ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। केवल तृतीय सघ के समय के ग्रन्थ प्राप्त हैं। अतः तृतीय सघ का काल, 'सघकाल' कहा जाता है और शेष दो सघो के काल 'सघपूर्वकाल' कहलाते हैं। विद्वानों का अनुमान है कि ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व प्रथम सघ की स्थापना 'कयूच्चिनवलुति' नामक राजा ने दक्षिण मधुरा में की थी। ग्रथों से यह भी विवरण प्राप्त है कि प्रथम सघ में कुल ५४८ विद्वान् सदस्य थे। इनमे प्रथम व्याकरण 'अगत्तियम' के प्रणेता अगस्त्य प्रमुख थे। पश्चात् द्वितीय सघकाल में जो व्याकरण रचा गया, वह इसीके आधार पर रचा गया।

दक्षिण मधुरा के जलमग्न हो जाने के कारण 'कवाटपुरम्' पाडिय-राजधानी बना। यहाँ द्वितीय सघ का आविर्भाव हुआ। वाल्मीकि रामायण, कौटिल्य के अर्थशास्त्र और महाभारत में कवाटपुरम् का उल्लेख मिलता है।

ततो हेममयं दिव्य मुक्तामणि विभूपितम्।
युक्तं कवाटं पाड्यानां गता द्रक्ष्यथ वानरा.॥

—(किष्किन्धा काड, सर्ग ४१, श्लोक १७)

इस सघ में, प्रारभ में ५१ विद्वान् सदस्य थे जिसमें तोलकाप्पियर भी एक थे। इन्होने ही तमिल का पुराना उपलब्ध व्याकरण ग्रन्थ 'तोलकाप्पियम' का, १२७८ सूत्रो के रूप में, प्रणयन किया था। तमिल-साहित्य का इससे पुराना ग्रथ अब तक प्राप्त नहीं हुआ है। ये अगस्त्य के शिष्य बताये जाते हैं। यद्यपि 'तोलकाप्पियम' तमिल की सबसे प्राचीन रचना है, फिर भी उसके प्रणयन के पूर्व ही तमिल में सस्कृत-शब्दों का समावेश हो चुका था।

'तोलकाप्पियम' में अनेक प्राचीन लेखको का उल्लेख है। वह पूर्ववर्ती तमिल समाज का भी वर्णन करता है। इस ग्रथ के तीन भाग हैं—

(१) एलुत्तधिकारम् (वर्ण-विचार), (२) शोल्लधिकारम् (शब्द-विचार), (३) पोरुलधिकारम् (अर्थविचार)। हर अध्याय आठ-नौ उपभागों में विभक्त है। प्रत्येक विभाग में व्याकरण के नियम सूत्रों के रूप मे दिये गये हैं। प्रथम विभाग में अक्षरों की प्रयोग-विधि, ध्वनि-भेद, शुद्ध-लेखन आदि पर शास्त्रीय निबध है जिसमें आधुनिक विचार-शली और दृष्टिकोण मिलता है।

दूसरे विभाग में शब्दों के निरुक्त, व्युत्पत्ति, प्रकृति-प्रत्यय आदि का विवेचन किया गया है। लेखक ने शब्दों के चार विभाग किये हैं :—(१) इयल-शोल (ठेठ तमिल् के शब्द), (२) तिरिशोल (तद्भव शब्द), (३) वडशोल (उत्तर के शब्द अर्थात् संस्कृत के तथा तिशैचोल (अन्य भाषाओं के शब्द । इस श्रेणी-विभाजन में तोलकाप्पियर की दूरदर्शिता ज्ञात होती है। उन्होंने भाषा के चारों ओर कोई लौह-भित्ति खड़ी नहीं की। विकासशील एव सजीव भाषा के लक्षण को ध्यान में रखते हुए ही उन्होंने तमिल् में अन्य शब्दों के प्रवेश के लिए भी गुंजाइश कर रखी थी। इस द्वितीय अध्याय की दूसरी विशेषता शब्दों के लिंग-सबंधी सूत्र हैं। तमिल् में शब्दों के लिंग का निर्णय उनकी ध्वनि के आधार पर नहीं, परन्तु अर्थ के आधार पर है। स्त्रीलिंग और पुँल्लिंग मनुष्यों और देवों के लिए ही हैं। पशु पक्षी, वृक्ष तथा अन्य निर्जीव वस्तुओ का बोध करानेवाले शब्द नपुंसक लिंग माने गये हैं।

तीसरा है—'पोरुलधिकारम्'। तमिल् में 'पोरुल' के तीन अर्थ हैं—अर्थ (Meaning) धन और वस्तु (विषय)। इस दृष्टि से इस अध्याय में व्याकरण-सबन्धी विषयों के अतिरिक्त जीवन और प्रकृति-सबन्धी विषयों की भी चर्चा की गई है। इसमें साहित्य के तीन विभाग किये गये हैं—(१) इयल (पाठ्य साहित्य), (२) इशै (गेय-साहित्य) और (३) नाटकम् (नाटक-साहित्य)। इनमें से केवल इयल' (पाठ्य-साहित्य) पर इस अध्याय में प्रकाश डाला गया है। इसमें पद्य, छन्द-शास्त्र, अलकार, कवि-समय आदि का विमर्श किया गया है। रस आठ माने गये हैं और वे पद्य के प्राण हैं। उनके प्रयोग में ही कवि की प्रतिभा प्रकट होती है। शृंगार रस के विभिन्न रूपों का यहाँ अध्ययन किया गया है। उपमा और रूपक कवि कल्पना के मर्म को प्रकट करते हैं। अन्य अलंकार इन्हींके भिन्न रूप हैं। उन दिनों मुक्तक पद्यों की साहित्य में प्रधानता थी। सामाजिक जीवन और उसकी व्यवस्थाओं का अच्छा परिचय इसमें मिलता है। बोलचाल की भाषा तथा शिष्टसम्मत शास्त्रीय शैली में आबद्ध नई पुरानी हास्य-कथाएँ, दन्त-कथाएँ, लोक-कथाएँ इसमें उल्लिखित हैं। नाटकीय स्वगत भाषणों में ध्वनि का विशिष्ट महत्त्व है।

तोलकाप्पियम् के अनुसार प्रतिपाद्य विषय को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया गया था—(१) अहम् (Subjective- आतरिक), (२) पुरम् (Objective - बाह्य)। 'अहम्' में आंतरिक विषय जैसे प्रेम, भक्ति और अन्य भावात्मक विषय और 'पुरम्' में बाह्य विषय जैसे, युद्ध, शासन-विज्ञान नीतिशास्त्र आदि आते थे।

द्वितीय संघ का अन्त ईसा से लगभग दो शताब्दी पूर्व अचानक समुद्र के उमड़ आने से हो गया। इस जल-प्लावन ने कवाटपुरम् और आस-पास के क्षेत्रों को जल-मग्न कर दिया। पाडियों की राजधानी कवाटपुरम् बहुमूल्य सपत्ति और अमूल्य साहित्य-रत्नों को लेकर समुद्र के गर्भ में विलीन हो गया। इस घटना की ऐतिहासिकता श्रीलंका के बौद्ध-इतिहास 'राजावली' में वर्णित घटनाओं और अन्य विवरणों से प्रमाणित होती है। तृतीय अर्थात् अंतिम संघ के एक सदस्य ने एक कविता में जल-प्लावन में धीरे-धीरे डूबनेवाले एक पर्वत का

वर्णन यों किया है—"समुद्ररानी लहरों के नूपुर पहने, कल्लोल करती हुई, पर्वत शिखर पर नृत्य करने लगी। उसके वेग मे अचल पर्वत भी सिहर उठा।'

२. संघकाल—इसके पश्चात् तृतीय सघ की स्थापना वर्तमान मधुरा नगरी मे ई० पूर्व १५० वर्ष के आस-पास हुई। यह काल तमिल् साहित्य का स्वर्णयुग माना जाता है। इस काल की बहुत सी रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। परन्तु महामहोपाध्याय डा० स्वामिनाथय्यर के अथक परिश्रम के फलस्वरूप कुछ रचनाएँ प्रकाश में लाई गई हैं। वे हैं (१) एट्टुतोगै (आठ सग्रह), (२) पत्तुप्पाटट्ट (दस कविताएँ) और (३) पतिनेणकीलकणक्कु (अठारह नीति-सबन्धी लघु कविताओं का सग्रह)।

(१) एट्टुतोगै (आठ सग्रह) के अतर्गत आठ वृहत् सग्रह-ग्रथ आते हैं। उनके नाम यों हैं—(१) कलित्तोगै (२) परिपाडल, (३) ऐंगुरुनूरु, (४) पदिट्रुपत्तु (५) अगनानूरु, (६) पुरनानूरु, (७) नट्रिणै, (८) कुरुतोगै।

कलित्तोगै अग्रेजी के सॉनट जैसे गीतो का सग्रह है। परिपाडल लवा और आडंवर-पूर्ण गीतों का सग्रह है। ऐंगुरुनूरु चेर राजाओं की प्रशस्तियों का संग्रह है। नट्रिणै और कुरुतोगै प्रेमप्रगीतों का सग्रह है। पुरनानूरु (पुरम साहित्य) में ४०० पद्य हैं। जैसा पहले उल्लेख हो चुका है, पुरम काव्य का अर्थ वाह्य जगत् की कविता है। ये प्रेम गीत नहीं हैं। इनमें सघम युग के राजाओ और सामन्तों के राजसी वैभव, शौर्य, औदार्य और विजयों का वर्णन है। अहनानूरु मे अतर-जगत् की कविता है। इन गीतों के रचयिताओं ने वाह्य जगत् का जितना विशद निरीक्षण किया, उतना ही मानसिक जगत् की विभिन्न परिस्थितियों, भाव-परिवर्त्तनों, उद्‌गार-उमंगों, आहों कराहो का गूढ़तम अन्वेषण भी किया है। उस समय के लोगो ने प्रकृति मे रमकर स्वच्छ मन से जीवन विताया। उनकी कविता का विषय जैसा प्रेम था, वैसा ही वीरता एव दानशीलता भी कविता की सामग्री थी।

(२) 'पत्तुप्पाट्टु' में दस लबी लंबी कविताओं का सग्रह है। तमिल में पाट्टु का अर्थ अधिक पक्तियोंवाली कविताएँ हैं। कई कविताओं में छः सौ तक पक्तियाँ हैं। पत्तुप्पाट्‌टु की दस कविताओं में 'तिरुमुरुकाट्रुपड' एक है। इसमें भगवान कार्तिकेय जहाँ-जहाँ विराजमान हैं, उन-उन तीर्थस्थानों का रोचक वर्णन है। शैव लोग इसे महत्त्वपूर्ण धर्मग्रन्थ मानते हैं। शेष ग्रथों में क्रमशः राजाओं के साहित्य-प्रेम और उदारता का, शासन और व्यापार संबधी वातों का युद्ध में गये पति के विरह में तपनेवाली पत्नी की मनोदशा का, पर्वतीय दृश्यो एव वहाँ के लोगों के जीवन का वर्णन अतीव मनोमोहक ढग से किया गया है। यहाँ एक गीत का उद्धरण देना उपयुक्त होगा।

> शुडर्तोडी केळाय्—तेरुविल नाम आडुम्
> मणल शिट्रिल कालिल शिदैया अडैच्चिय
> कोदैप्परिन्दु, वरिपन्दु कोण्डोडी
> नोदक्कच्चेय्युम शिरुपट्टी, मेलोरनाळ्
> अन्नैयुम यानुम इरुन्देमा इल्लीरे
> उण्णनीर वेट्टेनयेनवन्दार्कु, अन्नै

अडपोंचिरकत्ताल वाक्षी शुडरिलाय्
'उरणु नीर ऊट्टी वा' येन्ड्राल, येन यानुम्
तन्नैयरियादु शेन्ड्रेन, मट्रू एन्नै
वलै मुन्कै पट्री नलियत्तेरुमन्दिट्
'अन्नाय'! इवनोरुवन शेय्ददुकाण येन्ड्रेना
अन्नै अलरीप्पडरतर तन्नैयान
'उरणुनीर विक्किनान!' येन्ड्रेन, अन्नैयुम्
तन्नै पुरम्वलित्तु नीव मट्रेन्नै
कडैक्कण्णाल कोल्वानपोल नोक्की
नहैक्कूट्टम् शेय्दान अक्कल्वन महन

—'कलित्तोगै' से

(अर्थात्—उज्ज्वल कंकणवाली। सुनो। मैं जब सखियों के साथ घरौंदे बनाकर खेलती थी, तब वह (प्रेमी) उन्हें नष्ट करता था, कसकर बँधी वेणी को प्रेम से खोल देता था तथा गेंद को उठाकर ले जाता था। इस प्रकार हमे दिक्क करनेवाला, उस दिन जब मैं माता के साथ बैठी थी, उस समय जल पीने के बहाने हमारे घर आया था। माता ने मुझसे कहा—"जाओ, सोने के लोटे में उसको पानी दो।' (उसकी उपस्थिति से मुग्ध होकर) मैं भी अपने को भूली हुई भीतर गई। वह तो जल पीने आया ही। परंतु मुझे एकांत में पाकर उसने मेरा प्रकोष्ठ ग्रहण किया। मैं सिर से पैर तक सिहर उठी और उच्च स्वर से बोली—"माताजी, इसको देखो तो।" माताजी दौड़ी हुई भीतर आईं। मैंने उसकी रक्षा करने के विचार से वास्तविक बात को छिपाकर कहा—"कुछ नहीं, माताजी, पानी पीते समय इसको हिचकी आ गई।" माताजी ने उसकी पीठ सहलाई। तब वह मनचोर अपनेको नेत्रों की कोर से मुझे देखता हुआ मुसकुराया और चला गया। सखी, उसका स्मरण करते ही मेरे मन में वेदना होती है।)

ऐसे रसमय पदों से 'कलित्तोगै' नामक संग्रह-ग्रंथ भरा हुआ है।

(३) पतिनेण कीलकणक्कु (नीतिग्रन्थ और सूक्तिग्रन्थ)—गीतों और वर्णनात्मक कविताओं के पश्चात् सूक्तियों का युग आरंभ होता है। वास्तव में सूक्तियों का महत्त्व संघकाल में बढ़ गया था। अब तक अर्थात् ईसा से लगभग १५० वर्ष पूर्व तक दक्षिण में जैन और बौद्ध धर्मों का प्रभाव पड चुका था। इन नये धर्मों के कारण शील, कविता का मुख्य विषय बन गया। दीर्घ मुक्त छन्दों का स्थान चतुष्पदियों और द्विपदियों ने ले लिया। इस समय अठारह नीतिग्रन्थ रचे गये। उनमें छः प्रेम-प्रधान हैं। शेष में अधिकांश पुरम्काव्य हैं, जिनमें युद्ध आदि का वर्णन और नैतिक सूक्तियाँ हैं। इनमें तीन ग्रंथों के नाम अत्यंत प्रसिद्ध तीन ओषधियों पर रखे गये हैं। इस प्रकार के नामकरण का तात्पर्य यही है कि आध्यात्मिक रोगों के निवारण के लिए इन ग्रंथ-रूपी ओषधियों की आवश्यकता है। कुछ सूक्तियाँ संस्कृत के सुभाषितों की भाँति हैं। जिस प्रकार संघकाल की काव्यधारा प्रेमोपासक मानव का चित्रण करती है, उसी प्रकार सूक्ति साहित्य नैतिक और आचार-परायण जीवन का निरूपण करता है।

इस प्रकार के सत्रह सूक्ति-ग्रन्थों की रचना के पश्चात् अठारहवाँ ग्रंथ आता है—विश्वविख्यात 'तिरुक्कुरल' या 'तमिलवेद', जिसके रचयिता 'तिरुवल्लुवर' थे। अनुमान

किया जाता है कि 'तिरुवल्लुवर' आज से लग-भग दो हजार वर्ष पूर्व हुए थे। सघकाल के उत्तरार्द्ध में जब साहित्य जीवन की वास्तविकताओं से कुछ दूर हो गया तब तिरुक्कुरल ने समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। कहा जाता है कि किसी धनी व्यापारी के पुत्र को शिक्षा देने के लिए तिरुवल्लुवर ने अनेक सूक्तियाँ बनाईं और उनका सग्रह किया। इसीका नाम तिरुक्कुरल पड़ा। विद्वानों ने इस ग्रथ की महत्ता जानी और मुक्तकंठ से उसकी प्रशंसा की। तिरुक्कुरल के तीन विभाग हैं -(१) अरत्तुप्पाल (धर्म भाग) ; (२) पोरुट्पाल (अर्थ-भाग) ; (३) कामत्तुप्पाल (काम भाग)। तीन पुरुषार्थ तो आ गये, परतु चौथे पुरुषार्थ 'मोक्ष' का समावेश तिरुवल्लुवर ने प्रथम विभाग, धर्म मे ही कर दिया है। तीनों विभागों में कुल मिलाकर १३३० द्विपदियाँ (कुरल) हैं। धर्मवाले भाग के ३८ अध्याय हैं। इस भाग में प्रथमतः ईश्वर की जो वदना की गई है, वह किसी विशेष धर्म या सम्प्रदाय के देवता की वन्दना नहीं है। विश्व की सृष्टि सबधी वैदिक सिद्धान्त ही इसमें प्रतिपादित है।

अकर मुदलेलुत्तेल्लाम आदि
भगवन मुदट्रे उलगु।

(अर्थात् समस्त अक्षरराशियाँ अकार से आरभ होती हैं। वैसे ही समस्त विश्व का आरभ आदिपुरुष भगवान से है।)

ईश्वर-वन्दना के पश्चात् धर्म का महत्त्व बताया गया है और उस अध्याय के अत में गृहस्थ और वानप्रस्थ जीवन के सबन्ध में लिखा गया है। अर्थवाले भाग के कुल ७० अध्याय हैं। इनमें राजा, अमात्य, सेना, देश, प्राचीरें, धन, मित्रता आदि के लक्षण तथा शासन विधान, अर्थनीति, समर-शास्त्र आदि के वर्णन हैं। आक्रमण और रक्षा के उपाय, समय, क्षेत्र, एवं साधन-संबधी ज्ञान की विशद शिक्षा इन अध्यायों में दी गई है। काम-सबधी विभाग के २५ अध्याय हैं। प्रथम पाँच अध्यायों में सयोग और शेष अध्यायों में वियोग के संबंध में लिखा गया है। तिरुवल्लुवर की जीवन-रसज्ञता एवं सहृदय कवित्व शक्ति का अमर प्रमाण है 'कामत्तुप्पाल'। कूटनीतिज्ञ तथा उपदेशक तिरुवल्लुवर यहाँ पूर्ण-रूप से कवि के रूप में प्रकट हुए हैं।

कुरल में मानवीय प्रकृति का गभीर अध्ययन और परिशीलन है। इसमें वर्णित प्रेम का स्वरूप, कामशास्त्रो में वर्णित प्रेम से भिन्न है। २५० द्विपदियों में संघकाल के विशुद्ध तथा आदर्श प्रेम का साक्षात्कार होता है। यह ग्रन्थ सार्वकालिक और सार्वदेशीय है। क्योंकि इसमें चिरंतन सत्यों का प्रतिपादन है जो देश, काल, आदि परिधि से परे हैं। तमिल् भाषा और भारतीय साहित्य इस अद्वितीय ग्रन्थ पर गर्व कर सकता है। तमिलभाषी तो इसे तमिल्वेद ही कहते हैं। ससार की लगभग २०० भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है।

३. **संघोत्तरकाल**—१००-६०० ई० (काव्य काल) :—विद्वानों का अनुमान है कि दूसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में किसी कारण से तृतीय सघ का विघटन हो गया। अतः इस तृतीय सघ को अतिम सघ भी कहते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि साहित्य-रचना का काम अवरुद्ध हो गया। स्वतत्र रूप से कविगण साहित्य-सृजन के काम में सलग्न रहे। अब तक अर्थात् तृतीय सघ तक केवल स्फुट कविताएँ ही रची जाती थीं। परंतु घटनाप्रधान या

वर्णनात्मक महाकाव्य और खडकाव्य की रचना नहीं हुई थी। इस युग में महाकाव्य का प्रणयन होना प्रारंभ हुआ।

इससे पूर्व इसका उल्लेख हो चुका है कि प्रथम शताब्दी में जैन और बौद्ध धर्मावलवियों का आधिपत्य आरभ हो गया था। जब यहाँ के लोगों का जीवन अत्यत सुखमय था और इसलिए उन्हें जीवन-लक्ष्य पर विचार करने की आवश्यकता नहीं पड़ी, उस समय बौद्ध धर्म अपने क्लिष्ट एव शुष्क विचार और नीति-नियमों को लेकर आया। धीरे धीरे लोगों के स्फटिक से मन पर नवीन धर्म की विचार-लहरियों का प्रभाव पडा। परिणामस्वरूप नीति ग्रन्थ और सूक्ति-ग्रन्थों का निर्माण हुआ जिनके बारे में ऊपर लिखा जा चुका है। इन जैनियों और बौद्धों के प्रयत्नो से तमिल् में पाँच महाकाव्य रचे गये —(१) शिलप्पधिकारम् ; (२) मणिमेखलै , (३) जीवक चिंतामणि , (४) वलयापति , (५) कुण्डलकेशी।

तमिल-साहित्य का प्रथम महाकाव्य है, 'शिलप्पधिकारम्'। इसके रचयिता चेर-नरेश के भाई 'इलगो' मुनि थे। इन्होंने युवावस्था मे जैन-धर्म ग्रहण कर लिया था। इस काव्य में कण्णकी नामक सती-साध्वी की कथा है। कण्णकी का पति 'कोवलन' सुन्दर भावनाओं से जाग्रत हृदयवाला तथा युग के ज्ञान और विश्व के अनुभवों से युक्त था। दोनों धनी परिवार के थे और इस कारण से दोनो का जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता था। परतु इस शांति के बाद उनके जीवन में आँधी आई। उन्हींकी नगरी मे माधवी नामक एक नर्त्तकी रहती थी। एक दिन उसका नृत्य देखने 'कोवलन' गया। कलाकार के रूप में पहले उसके मन मे जो प्रेम और प्रशसा का भाव उत्पन्न हुआ, वह आगे चलकर उस वारागना के प्रति विलासमय प्रेम के रूप में परिणत हो गया। कोवलन अपनी पत्नी को भूलकर वारागना माधवी के साथ रहने लगा। सारी सपत्ति उसके भेंट हो गई। एक दिन किसी विषय पर कोवलन और माधवी में मतभेद हुआ। कोवलन को इस समय अपनी सती-साध्वी पत्नी का स्मरण आया। पुन कण्णकी उसके मन में छा गई और वह उसकी ओर वढा। चूँकि अब सारा धन समाप्त हो गया था, अतः कोवलन कोई धंधा करने के उद्देश्य से पांडिय-राजधानी मधुरा गया। कण्णकी भी साथ गई। परतु दुर्भाग्य ने उनका पीछा नहीं छोडा। जब कोवलन मधुरा में अपनी पत्नी के नूपुर का विक्रय करने गया तब एक सुनार से उसकी भेंट हुई। वह वही सुनार था जिसने मधुरा की रानी के नूपुर को चुरा लिया था। रानी के नूपुर और कण्णकी के नूपुर में समता देखकर सुनार को एक उपाय सूझा। वह तत्काल ही राजा के पास जाकर बोला—"महाराज, रानी के नूपुर को चुरानेवाला चोर पकड़ा गया है।" सुखभोग में निमग्न राजा में इसपर विचार करने की क्षमता नहीं रही। उसने आज्ञा दी—"चोर का वध कर नूपुर को ले आओ।" जो होना नहीं चाहिए था, वह होकर ही रहा।

अज्ञात देश मे असहाया सती कण्णकी में पति की मृत्यु के पश्चात् असाधारण साहस आ गया और प्रतिशोध की भावना से उसका सारा शरीर जलने लगा। वह तत्काल ही राज सभा में गई और प्रमाणित किया कि उसका पति निरपराध था। राजा को जब अपने अन्याय का भान हुआ तो मूर्च्छा आई और थोड़े ही क्षण में उसके प्राण-पखेरू उड गये। उसकी सती रानी भी मृत्यु को प्राप्त हुई। कण्णकी के क्रोध से सारा मधुरा नगर जल गया। इस

प्रकार अपने क्रोध को शात कर लेने के बाद वह अपने सतीत्व के बल से स्वर्ग चली गई। इस सती के स्मारक के रूप मे चेर नरेश ने एक मदिर बनवाया जिसके लिए हिमालय पर्वत से पाषाण लाये गये।

इस महाकाव्य की प्रधान विशेषता सतीत्व का बल है। समाज की भलाई के लिए सती स्त्री वर्षा ला सकती है तो अन्याय दमन के लिए नगर को भस्म भी कर सकती है। सतीत्व की महत्ता और अन्यायी का अत ही इस महाकाव्य का सदेश है। इस कारण से यह कहानी सैकड़ों वर्षों बाद भी लोकप्रिय है। दूसरी बात यद्यपि तमिल् देश राजनीतिक दृष्टि से एक नहीं था, परतु इस काव्य मे उसे एक सास्कृतिक इकाई बनाया गया है। कोवलन और कण्णकी चोल देश के रहनेवाले थे। पाडिय देश में धधा करने के विचार से गये और अत में चेर देश में जाकर वह स्वर्ग को प्राप्त हुई। अत तीनों राज्यों मे सतीत्व की महिमा के कारण कण्णकी की प्रशसा हुई।

इस महाकाव्य में, काव्य तथा नाट्य दोनों शीर्षस्थानीय हैं। इसके अतिरिक्त इसमें राज-नर्त्तकों, आखेट करनेवालो तथा पर्वतीय लोगो के अनेक लोकगीत और नृत्य भी हैं। यत्र-तत्र गद्यशैली में भी कुछ अश लिखा गया है। अत. शिलप्पधिकारम् प्रथम महाकाव्य ही नहीं, वरन् यह तमिल के गद्य का प्रथम आधार भी है।

इस समय का दूसरा महाकाव्य 'मणिमेखलै' है। कथानक की दृष्टि से यह काव्य शिलप्पधिकारम् का उत्तरार्द्ध ही है। गणिका माधवी और कोवलन से उत्पन्न लडकी मणिमेखला की कहानी इसमें वर्णित है। कोवलन की त्यागी हुई माधवी विरक्ता होकर बौद्ध भिक्षुणी बनती है और बाल्यवस्था मे ही अपनी पुत्री को भिक्षुणी बना देती है। राजकुमार उदयकुमारन उसे चाहने लगा। परतु मणिमेखला उससे अलग की जाती है और अत तक भिक्षुणी बनी रहती है। इस काव्य के रचयिता 'शीत्तलेचत्तनार' हैं जो महापडित थे। इस काव्य की भाषा शैली अद्भुत और कवित्व शक्ति अद्वितीय है।

तीसरा महाकाव्य 'जीवक चिन्तामणि' है जिसके रचयिता जैन मुनि तिरूत्तक्कतेवर' हैं। इस काव्य में जीवक नामक राजकुमार की जीवनी का, उसके जन्म से लेकर सिद्ध-लोक यात्रा तक, विशद रूप से वर्णन है। कहा जाता है कि श्रीपुराण में वर्णित जीवक-चरित्र के आधार पर यह रचा गया। कथावस्तु सस्कृत की होने पर भी कवि ने तमिल देश के राजनैतिक, सामाजिक, कलात्मक एव सास्कृतिक जीवन का वास्तविक तथा सजीव वर्णन किया है। सस्कृत-रचना-शैली को अपनाकर लिखा गया प्रथम तमिल ग्रन्थ यही है। इसके पदों की गेयता एव मधुरता सराहनीय है। पश्चात् रची गई रामायण के लेखक कबन ने भी इसकी चुस्त शैली को अपनाया। राजनीति तथा शासन प्रबध मे किस प्रकार अहिंसा के सिद्धांत को क्रियान्वित किया जा सकता है इसका सदेश यह कृति देती है।

शेष दोनो महाकाव्य आज उपलब्ध नहीं है। इन दोनों की कथा का सारांश दूसरे ग्रन्थों में दिये गये उद्धरणो से अनुमान द्वारा जाना जा सकता है।

इन पाँच महाकाव्यों के अतिरिक्त नीलकेशी, शूलामणी यशोधरकाव्यम्, नागकुमार 'काव्यम्' उदयणन् कथै आदि खण्डकाव्य भी इस युग मे रचे गये। ये पाँचो महाकाव्य और

पाँचों खंड काव्य जन कवियों द्वारा रचे गये। पाँच महाकाव्यो की भाँति इन खण्डकाव्यों में भी नवरस और कल्पना का प्राचुर्य है। काव्य-मर्मज्ञों का विचार है कि काव्योचित लक्षण की अपेक्षा धर्म-प्रचार की बातें इनमें अधिक हैं। सघकाल के ग्रन्थों में जीवन की प्रधानता का परिचय मिलता है, परतु काव्य-काल के ग्रथों में धार्मिक तर्क-वितर्क एवं धर्म-प्रचार की बातें वहुत मिलती हैं।

४ **भक्तिकाल** (सन् ६००-६०० ईस्वी)—वस्तुतः भक्ति-प्रधान ग्रन्थों की रचना दो सौ वर्ष पूर्व ही आरंभ हो गई थी, परतु उनकी संख्या एक-दो ही थी। इसी युग में अधिक संख्या में भक्ति-प्रधान ग्रन्थ रचे गये। अवतक जैनियों और वौद्धों का प्रभाव सामाजिक जीवन में और साहित्य-क्षेत्र में वढ़ चुका था। इस समय हिन्दू धर्म के पक्षपाती शैव और वैष्णव सत कवियों का आविर्भाव हुआ। अपनी साहित्य रचनाओं और धर्मप्रचार द्वारा हिन्दू धर्म की ओर लोगों को खींच लाने का श्रेय इन्हीं संत कवियों को है। इस कारण से आज भी इन शैव और वैष्णव सत-कवियों को अवतार मानकर लोग पूजते हैं। संस्कृत भाषा तथा भावों से प्रभावित होने के कारण इनकी रचनाओं में एक मिश्रित शैली दृष्टिगोचर होती है। उस शैली को 'मणिप्रवालम्' शैली कहते हैं। इन नवीन शैली रूपी माला में संस्कृत और तमिल् भाषा के शब्द मणि और प्रवाल की तरह पिरोये गये। अर्थात् तमिल् और सस्कृत के शब्द सतुलित रूप से प्रयुक्त होने लगे। इन सत-कवियों ने काव्य का विषय ईश्वरोन्मुख प्रेम वना लिया। इनके गीत एक ओर साहित्यिक आनन्द देते हैं और दूसरी ओर पाठकों को उद्वेलित करते हैं। इन गीतों का पाठ करते समय अनुभव करते हैं कि हम स्वप्नलोक में हो अथवा ईश्वर से रहस्यपूर्ण सवन्ध स्थापित कर रहे हों।

सन्त-कवि दो सप्रदाय के थे। एक शैव सम्प्रदाय को माननेवाले थे जिन्हें 'नायन्मार' कहते हैं, और दूसरे, वैष्णव-सप्रदाय के थे, जिन्हें 'आलवार' कहते हैं। शैव सप्रदाय के कवियों में चार मुख्य हैं :—(१) माणिक्कवाचकर, (२) तिरुज्ञानसवधर, (३) अप्पर, (४) सुन्दरमूर्ति स्वामिगल। इनमें माणिक्कवाचकर अन्य कवियो से वहुत पूर्व के हैं। ये शिव के अद्वितीय भक्त थे। ये पाडिय राजा के अमात्य थे। परन्तु पीछे अपना पद छोड़कर धर्मप्रचार में लग गये। इन्होंने तर्क द्वारा वौद्धों को परास्त कर दिया था और अनेक वौद्ध लोग इनके तर्कों से प्रभावित होकर हिन्दू वन गये। 'तिरुवाचकम्' इनके भक्तिपूर्ण पदों का संग्रह है। इन पदों की विशेषता है कि ये प्रचलित लोक-गीतों के तर्ज में रचे गये। इन पदों में गूढतम आध्यात्मिक तत्त्वों को अत्यत सरल भाषा में प्रकट किया गया है। करुणामय, दीनवत्सल भगवान पर लिखे गये इन गीतों को पढने से पाषाण-हृदय भी द्रवित हो जाता है। उनका एक गीत इस प्रकार है—

अम्मैये अप्पा, ओप्पिला मणिये
अन्पिनिल् विलैन्द आरमुदे
पोय्मैये पेरुक्की प्पोलुदिनै शुरुक्कुम्
पुलुत्तलै पुलैयनेन तनुक्क

चचेम्मैये श्राय शिवपदम अलित्त
शेल्वमे शिवपेरुमाने
इम्मैये उन्नै शिक्केन पिडित्तेन
एगेलुन्दरुलुवदिनिये ।

[अर्थात्—हे प्रेमपूर्ण तथा अमृत समान शिवजी। तुम्हीं मेरे माता, पिता तथा अद्वितीय मणि हो। मैं एक क्षुद्र जीव हूँ और असत्य बोलकर अपना जीवन व्यतीत करता हूँ। तुमने मुझपर कृपाकर मुझे शाश्वत शिवपद दिया। मैंने इस जीवन में तुम्हें दृढता से प्राप्त कर लिया। तुम मेरे मन में सदा विराजने की कृपा करो।]

तिरुक्कोवैयार इनका दूसरा ग्रन्थ है जिसमें रहस्यवादी भावना से भरी हुई कविताएँ सगृहीत हैं। प्रत्येक पद के दो अर्थ हैं—एक ऐहिक और दूसरा पारलौकिक।

अप्पर, सुदरर और सबन्धर 'देवारम' कवि कहलाते हैं। इन तीनों कवियों ने अनेक तीर्थस्थानों का भ्रमण किया, मदिरों में गये तथा उन मदिरों में विराजमान देवता की प्रशस्ति गाई थी। इन गीतों का सग्रह ही 'देवारम' कहा जाता है। 'देवारम' का अर्थ है (दे-देवता; आर-हार) देवताओं के हार। ये तीनों सत कवि बड़े निर्भीक और स्वतन्त्र विचार के थे। एक कवि लिखते हैं —

नामार्कुम् कुडियल्लोम् नमनैयजोम्
नरगत्तिलिडर पडोम् नडलैयिल्लोम्
एमाप्पोम् पिणियरियोम पणिवोमल्लोम्
इन्बमे येन्नालुम तुन्पमिल्लै,
तामार्कुम् कुडियल्लात्तन्मैयान
शंकरन् नचंगवेण कुलैयोर कादिल
कोमार्के नामेन्ड्रम मीला आल य्
कोय्मलरचेंवडि यैये कुरुकिनोमे

[अर्थात्—हम किसीकी प्रजा नहीं हैं, यम से हमें कोई भय नहीं, नरक में तो जाने का अवसर ही नहीं आयगा, हम झूठा अभिमान नहीं करेंगे, अस्वस्थता क्या वस्तु है, हमें ज्ञात नहीं है, किसीके सम्मुख शीश नहीं नवायेंगे, सदा आनदपूर्वक रहेंगे, कभी दुख नहीं होगा, यदि हम किसीकी प्रजा हैं तो शकर की ही प्रजा हैं।]

ये कवि भगवान् को प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में देखते या अनुभव करते थे।

माशिल वीणैयुम, मालैमतियमुम्
वीशु तेन्ड्रलुम, वींगिल वेनिलुम,
मूशु वण्डरै पोय्कैयुम पोन्ड्रते
ईशन एन्दै इणैयडी नीललै

[अर्थात्—सुस्वर वीणा सायकालीन चन्द्र, बहता मलय पवन, उत्फुल्ल मधुमास,-मधुकर-गुजित कमल-सर के समान है—मेरे भगवान की चरणछाया।]

इनके अतिरिक्त ६० सत कवि और हुए जो विभिन्न जातियों के थे। इन्होंने इन्हीं चार सतों के मार्ग पर चलकर हिन्दू-धर्म का प्रचार किया। साहित्य की दृष्टि से इनके गीतों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

शैव संतों (नायन्मारों) की भाँति वैष्णव सतों (आलवारों) ने भी भक्ति के भावों से ओतप्रोत अनेक पद रचे। इस प्रकार के बारह आलवार हुए जिन्होंने कुल मिलाकर चार हजार गेय पदो की रचना की थी। इन गीतों के सग्रह को 'नालायिर दिव्यप्रबधम्' कहते हैं। इन आलवारों में विष्णुचित्त, जिन्हे पेरियालवार (बड़े सत) कहते हैं, वात्सल्य-रस-प्रधान कविताएँ लिखने में अद्वितीय थे। श्रीकृष्ण के शिशुरूप और सारल्य ने उनके भावुक हृदय को आकृष्ट कर लिया। माता के हृदय के उद्‌गारो का, बालकृष्ण की लीलाओं और शिशु के विभिन्न रूपों का मनमोहक वर्णन इनके गीतो में मिलता है। घुटनो के बल चलनेवाला बालकृष्ण चन्द्रमा की ओर उँगली दिखाकर उसे बुलाता है। तब माता यशोदा चद्रमा से कहती हैं—'हे चन्द्र! मेरा लाल गोविन्द, जिसके माथे पर आभूषण डोल रहे हैं और स्वर्ण की किंकिणी निनाद कर रही है, धूल-धूसरित शरीर से घुटनो के बल चलकर तुमको बुला रहा है। यदि तुम्हारी आँखें हों, तो मेरे कान्ह की लीला देखने नीचे उतर आओ।" इसी भक्तकवि के सरस वातावरण में दक्षिणी मीरा आण्डाल (गोदा) का लालन-पालन हुआ। एक दिन पेरियालवार जब फूल तोड़ने पुष्पवाटिका में गये तब एक बालिका उन्हें पड़ी मिली। यही बालिका भविष्य में 'आण्डाल' के नाम से विख्यात हुई। भगवान के प्रेम में विभोर होकर गोदा ने अनेक गीत गाये, जो 'तिरुप्पावै' और 'नाच्चियार तिरुमोली' नामक दो सग्रह-ग्रथों के रूप में हैं। 'नम्मालवार' तीसरे प्रसिद्ध तथा श्रेष्ठ आलवार कवि हैं। ये सातवीं शताब्दी के माने जाते हैं। इनके गीत शुद्धाद्वैत के मूल-स्रोत हैं एव दक्षिणी दर्शन के आधार हैं। पश्चात् के संत-कवियों ने प्रमाणित किया है कि ईश्वरत्व में निमग्न रहने के कारण (जिसे भगवत् गुणानुभव कहते हैं) इनकी वाणी से जो तत्त्व फूट पड़े, वे सब वेदो तथा उपनिषदों का सार बन गये हैं।

व्याकरण और अन्य ग्रंथ (९००-१४०० ईस्वी तक)—इस काल में चोल-साम्राज्य चरमोत्कर्ष पर था। धर्म का प्रचार करनेवाले आलवार तथा नायन्मारों को इन चोल राजाओं ने पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। इन सबके पदों का सग्रह कर ग्रथों का रूप देने का श्रेय इन्हीं राजाओं को है। इन राजाओं की सेवाओं का विवरण ताम्रपत्र और शिलालेखों के द्वारा मिलता है।

इस समय कुछ नाथ-सप्रदायी लोगों का भी प्रभाव दक्षिण के सामाजिक जीवन और साहित्य पर पड़ा। इन्होंने वैद्यक-शास्त्र, तन्त्रशास्त्र, योगशास्त्र आदि के बारे में ग्रंथ लिखे। ये अगस्त्य को अपना आदिगुरु मानते थे। इनके वैद्यक-शास्त्र को माननेवाले आज भी दक्षिण में मिलते हैं जो 'सिद्ध वैद्यर' कहलाते हैं। आयुर्वेद से यह शास्त्र मिलता-जुलता है। इनके लिखे अनेक ग्रथ साहित्यिक दृष्टि से उत्तम माने जाते हैं। इनकी विशेषता, सरल और बोलचाल की भाषा में दार्शनिक विषयों को पद्य के रूप में उपस्थित करना है। ये पद्य आज भी लोगों में प्रचलित हैं।

शैव और वैष्णव मतों के कारण अबतक जैनियों का प्रभाव थोड़ा कम हो गया था। बारहवीं शताब्दी में पुन. वे साहित्य-क्षेत्र में चमकने लगे। ये अपनेको 'शमणर' (श्रमण) कहते थे। इस समय उनके द्वारा और ग्रथ रचे जाने लगे। काचीपुरम् के आसपास के निवासी वामन नामक जैनमुनि ने 'मेरुमंदरपुराणम्' की रचना की। इन्होंने काव्य और नीतिग्रथ के अतिरिक्त व्याकरण तथा निघटु लिखना भी आरभ कर दिया। यॉप्पिलक्कणम,

वीर-शोलियम, नेमीनाथम, नन्नूल आदि इनके लिखे हुए प्रसिद्ध और लक्षण-ग्रंथ हैं। इस प्रकार जैनियो का प्रभाव १३ वीं शताब्दी तक रहा।

५ प्रबंध काव्य-काल—इस बीच में कुछ प्रबंधकाव्यों की फिर से रचना हुई। 'पेरिय-पुराणम' जिसमें ६३ शैवसंतों की जीवनियाँ हैं तथा 'कन्दपुराणम्' जो संस्कृत के शंकरसंहिता' के आधार पर है, लिखे गये। नैषध-चरित्र के आधार पर लिखा गया 'नलवेण्बा' इसी समय का है। इसके पश्चात् प्रसिद्ध तमिल् महाकाव्य 'श्रीमद्रामायण' की रचना हुई। इसके रचयिता तमिल के अद्वितीय कवि 'कंबन थे। इनका समय १२ वीं शताब्दी माना जाता है। इन्होने वाल्मीकि रामायण के आधार पर ही अपनी रामायण की रचना बारह हज़ार 'विरुत्तम' छंदों में की है।

इसे 'कंबन' का दृश्यकाव्य कहना चाहिए। इस काव्य के कथानक, पात्रों के चरित्र-चित्रण, और संवाद में मौलिकता दृष्टिगोचर होती है। इस काव्य में उन्होंने तमिल्वालों की संस्कृति, आचार-विचार, कला-प्रेम आदि का परिचय दिया है। सशक्त शब्दो और गंभीर शैली का प्रयोग करने में कंबन अद्वितीय थे। कंबरामायण तमिल् साहित्य-पर्वतमाला का सबसे ऊँचा शिखर है। ऐसी रचना को देकर कंबन ने केवल तमिल्नाडु के ही नहीं, वरन् संसार के श्रेष्ठ कवियों में अपना स्थान बना लिया।

इसी काल में संस्कृत से महाभारत, भागवत और अन्य धर्म-ग्रंथो का पद्यानुवाद बड़ी सफलता से हुआ।

६. मध्यकाल—१३ वीं शताब्दी के पश्चात् लगभग दो सौ वर्ष तक, प्रथम तमिल् व्याकरण तोल्काप्पियम से लेकर शैव और वैष्णव आचार्यों के काल तक जितने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ रचे गये, उनकी टीकाएँ लिखी जाने लगीं। संघकालीन ग्रंथों के अध्ययन में इन टीकाओं से बड़ी सहायता प्राप्त हुई। १६ वीं शताब्दी में कालमेघम-जैसे व्यंग्यप्रधान और श्लेषयुक्त कविताएँ लिखनेवाले कवि हुए। १७ वीं शताब्दी के प्रारंभ में एक विद्वान् संत थे, 'श्री कुमरगुरुपरर' जिन्होंने भारत-भर का भ्रमण किया था। शैव-संप्रदाय के प्रचार के लिए ये पुण्यपुरी काशी में जाकर रहने लगे। कहा जाता है कि इन्होंने हिन्दी सीखकर तत्कालीन मुसलमान बादशाह से वाद-विवाद किया था तथा काशी में शैव मठ बनवाने की अनुमति माँगी। आज भी उनका स्थापित किया हुआ मठ और धर्मशाला बनारस में 'हनुमान घाट' पर 'कुमरगुरुपर स्वामिगल मठ' के नाम से स्थित है। इन्होंने भगवान विश्वनाथ की स्तुति में कई पद बनाये, जो 'काशिकलंबकम' के नाम से प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि वे गंगा-घाट पर कंबरामायण का प्रवचन किया करते थे, जिसे सुनने के लिए काशी नगरी के अनेक भक्त एकत्र होते थे।

इस समय शैव और वैष्णवो में कुछ कट्टरता-सी आ गई थी। दोनों सम्प्रदाय के कवियों की रचनाओं में यह भावना दिखाई पड़ने लगी। इस अवांछनीय परिस्थिति को दूर करने के लिए संत कवि तायुमानवर और रामलिंग स्वामिगल ने अपनी रचनाओं द्वारा प्रयत्न किया। 'अरुणाचल कविरायर' नामक कवि ने गेय पदों में रामायण की कथा लिखी। भाषा सरल और लोकप्रिय होने के कारण ये पद बहुत प्रसिद्ध हुए।

अबतक ईसाई पादरियो ने आकर दक्षिण को अपना निवास-स्थान ही नहीं वना लिया था, परंतु तमिल् साहित्य का गहन अध्ययन भी कर लिया। इन लोगो ने नवीन ढंग से व्याकरण और कोष लिखे। फादर वेस्की (वीरमामुनिवर) नामक एक पादरी ने 'तेंबावाणी' नामक महाकाव्य तमिल् में रचा जिसमें महात्मा ईसा की जीवनी वर्णित है। इन पादरियो ने गद्य-साहित्य का भी विकास किया। वीरमामुनिवर ने 'परमार्थ गुरुकथै' के नाम से हास्यकथाएँ लिखीं। ईसाइयों के अतिरिक्त मुसलमान कवियो ने कविता और गद्य लिखकर तमिल्-साहित्य की श्रीवृद्धि में योग दिया। मध्यकाल के अंत में सरल भाषा में काव्य और ग्रथ लिखे जाने के कारण लोकगीतों और लोक नृत्यों का भी विकास हुआ। कुछ कवियो ने ज्योतिष-शास्त्र पर भी पद्य ग्रंथ लिखे। इस प्रकार १७ वीं शताब्दी तक काव्य के साथ गद्यशैली का भी पर्याप्त विकास हो चुका था।

७ **आधुनिक काल**—(१६ वीं शताब्दी और उसके पश्चात्) १६ वीं शताब्दी के आरभ में गत शताब्दी की तरह छोटे-मोटे काव्य रचे गये। इनके अतिरिक्त कुछ नाटक और गद्य भी लिखे गये। महाकाव्य की रचना एक प्रकार से बंद-सी हो गई। इस समय धार्मिक और आध्यात्मिक ग्रथो के साथ-साथ लोकगीत, लोक-नृत्य के साहित्य भी बने। सघकालीन ग्रथ और बाद के महाकाव्यो की टीकाएँ भी लिखी गईं। मेघदूत, श्रीमद्भगवद्-गीता, हितोपदेश, पचतत्र, उपनिषद् और अन्य अनेकों प्रमुख सस्कृत-ग्रथों के अनुवाद हुए। वालोपयोगी साहित्य पर्याप्त मात्रा में रचा गया।

श्रीलका के कई विद्वानों ने, जो संस्कृत और तमिल् के धुरधर विद्वान् थे, तमिल-साहित्य की श्रीवृद्धि में योग दिया। ऐसे विद्वानो में आरुमुखनावलर, नागनाथ पडितर, दामोदरम् पिल्लै आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। महाविद्वान् मीनाक्षीसुदरम् पिल्लै ने अपनी अपार विद्वत्ता के वल पर वीसों लघुकाव्य लिखे। इन्होंने अनेक युवकों में साहित्य-अध्ययन की पिपासा उत्पन्न कर दी। दाक्षिणात्य कला-निधि, महामहोपाध्याय डा० उ० वे० स्वामिनाथय्यर, वेदनायकम् पिल्लै जैसे साहित्य-महारथी इन्हींके शिष्य थे। वेदानायकम् पिल्लै ईसाई थे और अँगरेजी के बड़े विद्वान् थे। ये अनेक स्थानों पर जिला-मुन्सिफ का काम करते हुए साहित्य-सृजन के काम में योग देते रहे। इन्होंने कहानियाँ, कविताएँ आदि लिखीं। इनकी रचनाएँ सरल और हास्यरसपूर्ण हैं। गोपालकृष्ण भारती 'नदन-चरित्रम्' की रचना लोकगीत-शैली में करके अमर कीर्ति को प्राप्त हुए। इस शताब्दी के अत में डा० काल्डवेल ने दक्षिण की भाषाओं का गहन अध्ययन किया और तुलनात्मक व्याकरण लिखा। डा० जि० यु० पोप महोदय ने शैव सिद्धात-ग्रथों का अध्ययन किया और चौथी शताब्दी का शैव ग्रथ तिरुवाचकम्, तिरुक्कुरल नालडियार का अँगरेजी में स्वय अनुवाद किया।

वीसवीं शताब्दी में अँगरेजी राजभाषा होने के कारण मातृभाषा उपेक्षित-सी रही। फिर भी, अँगरेजी के प्रभाव के कारण साहित्य के सभी पहलुओं का विकास हुआ। कविता, नाटक, कहानियाँ, उपन्यास, आलोचना-ग्रथ आदि पर्याप्त मात्रा में लिखे जाने लगे। अबतक की ग्रंथ-शैली पुरानी बोझिल शैली थी। इस समय अनेक प्रतिभावान् व्यक्तियों ने तमिल्

साहित्य में समयानुकूल नवीन शैली का प्रयोग किया। अब उपर्युक्त विभिन्न साहित्य-पहलुओं के विकास पर क्रम से प्रकाश डाला जायगा।

कविता—आधुनिक कविता-क्षेत्र में तिरुवनंतपुरम् महाराजा कालेज के दर्शनशास्त्र के आचार्य सुन्दरम् पिल्लै और कृष्ण पिल्लै अग्रणी हैं। श्रीसुन्दरम् पिल्लै ने नाटकीय ढग पर 'मनोन्मणीयम्' नामक काव्य की रचना की। श्रीकृष्ण पिल्लै हिन्दू थे और पश्चात् ईसाई बन गये। ये अच्छे कवि थे। इन्होंने अपनी कवित्व-शक्ति का प्रयोग धर्मप्रचारक के लिए ग्रथ-रचना करने में किया। अँगरेजी ग्रथ 'पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस' की कथावस्तु के आधार पर इन्होंने 'इरक्षणीय यात्रीकम्' नामक काव्य रचा। इनके इस काव्य ग्रथ पर कबरामायण और सत कवियो के गीतो का प्रभाव अवश्य पड़ा है। इनके पश्चात् अमरकवि 'सुब्रह्मण्य भारती' आते हैं। अब तक देश मे राष्ट्रीय जाग्रति हो गई थी। लोगों मे एकता और देश-प्रेम की भावना उत्पन्न हुई। भारती ने सरल बोलचाल की भाषा में समयानुकूल रचना करके सारे प्रात में उथल-पुथल मचा दी। वे हर प्रकार के बधन के विरोधी थे। नवीनता के पक्षपाती होते हुए भी प्राचीनता के प्रति उदासीन नहीं थे। इन्होंने कविता, उपन्यास, कहानियाँ, बालपयोगी साहित्य, स्तुति गीत दार्शनिक लेख आदि लिखे। इनके 'देशीय गीतगल' (राष्ट्रीय-गीत) बहुत प्रसिद्ध हैं। भारती ने देश की सास्कृतिक और ऐतिहासिक महत्ता का पग-पग पर वर्णन किया है। वे जात पाँत को नहीं मानते थे। आर्थिक असमानता और दारिद्र्य देखकर उनके मन में विप्लव का ज्वालामुखी फूट पड़ा जो लावा के रूप में उनकी कविताओं में प्रवाहित होने लगा। उनका एक गीत है —

भारत समुदायम वाल्कवे—वालक वाल्क
भारत समुदायम वालकवे—जय जय जय (भारत)
मुप्पतु कोटी जनगलिन संघ मुलुमैक्कुम पोतु उडैमै
ओप्पिल्लाद समुदायम उलगत्तुक्कारु पुदुमै —वालक (भारत)
मनि रुणवै मनितर परिक्कुम वलक्कम इनियुरण्डो ?
मनितर नोह मनितर पार्कुमवालक्क इनियुरण्डो ?—पुलनि ल
वाल्क्कै यिनियुरण्डो—नम्मिलन्द वाल्क्कै इनियुरण्डो ?—वाल्क (भारत)

❀ ❀ ❀

इनियोरु विधि शेय्वोम, अदै येन्दनालुम काप्पोम
तनियोरुवनुक्कुणविलैयेनेल जगत्तिनै यलित्तिडुवोम—(वाल्क भारत)
येल्लोरुम ओर कुलम् येल्लोरुम ओरिनम
येल्लोरुम इन्दिय मक्कल !
येल्लोरुम ओर निरै, येल्लोरुम ओर विलै
येल्लोरुम इन्नाट्टु मन्नर !—नाम
येल्लोरुम इन्नाट्टु मन्नर ! (वाल्क भारत)

अर्थात्—"जय हो भारत-संघ की। यह भारत-सघ ३० करोड़ जनों की सम्पत्ति है। यह अद्वितीय देश समूचे ससार के लिए एक नवीन वस्तु प्रतीत होगा। मनुष्य मनुष्य के आहार को छीनने का कार्य क्या भविष्य में भी चलेगा ? एक मनुष्य दुःख में पड़ा रहे और

दूसरा उसे देखता रहेगा ? नहीं, कदापि नहीं। आगे यह नहीं होगा। हम यह नियम बनायेंगे और उसका पालन सदा करेंगे कि एक को भी भर-पेट खाना न मिले तो हम समूचे संसार को नष्ट कर देंगे। हम भारतवासी एक वर्ण के, एक वंश के हैं। हम एक तोल के और एक मोल के हैं। हम सब इस देश के शासक हैं।" ऐसी क्रांतिकारी एवं आवेशयुक्त कविताएँ आज से ५० वर्ष पहले भारती ने बनाई ।)

भारती ने 'कुयिल पाट्टु' (कोयल गीत), 'पांचाली शपथम्' जैसे खण्डकाव्य भी लिखे हैं। बालकों के लिए इन्होंने सुन्दर छोटे छोटे शिक्षाप्रद पद लिखे हैं। भारती ने हर प्रकार से इस युग का दिशा-दर्शन कराया है। अतः इस युग को भारती-युग कहते हैं। भारती की परंपरा के अनेकों कवि हुए हैं जिन्होंने विषय, शैली आदि में भारती का अनुकरण किया है। उनमें 'देशिक विनायकम पिल्लै', 'भारती दासन' 'नामक्कल रामलिंगम पिल्लै', 'शुद्धानंद भारती' आदि मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त स्फुट गीत लिखनेवाले अनेक कवि और हुए हैं। भारती ने लोकगीतों की जिस शैली और ग्रामीण भाषा में कविता लिखना आरंभ किया, उसे कई कवियों ने अपनाया। वर्तमान तमिल साहित्य भारती की अनुबद्ध शृंखला है तथा इस काल के उत्साही कवि इनके पथ पर चलकर तमिल की श्रीवृद्धि करने लगे हैं।

नाटक—बौद्धों और जैनों के पहले तक नाटक पर्याप्त मात्रा में रचे गये। परन्तु इनके धर्मप्रचार के पश्चात् नाटक उतने लोकप्रिय नहीं रहे। बीच बीच में कुछ पद्य-नाटक अवश्य रचे गये। परन्तु रंगमंच के योग्य नाटक अधिक नहीं थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में 'नल्लतंगाल नाटकम्', 'हरिश्चन्द्र नाटकम्' जैसे लोक नाटक ग्रामीण रंगमंच पर प्रदर्शित किये गये। अब शिक्षित लोगों का आकर्षण भी नाटकों की ओर बढ़ा। श्री सम्बन्ध मुदलियार ने लगभग ८० से अधिक नाटक रचकर लोगों की इच्छा की पूर्ति की। इस समय देश में कई नाटक कम्पनियाँ उठ खड़ी हुईं जो नाट्य कला की अभिवृद्धि के साथ-साथ जन साधारण के मनोरंजन के लिए नाटकों का प्रदर्शन करती थीं। ऐसी कंपनियों में राजमाणिक्कम और टी०के० एस० भाइयों की दो नाटक मंडलियाँ अब भी सफलतापूर्वक इस कार्य को करती आ रही हैं। इनके दिग्दर्शन के परिणामस्वरूप ऐतिहासिक, पौराणिक एवं सामाजिक कथानकों को लेकर कई नाटक रचे गये जो अभिनेय भी थे और पाठ्य भी। अपने रंगमंच पर प्रदर्शित करने के लिए इन्होंने अनेकों पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटक लिखवाये जिनका तमिल्-साहित्य में अच्छा स्थान है। इन नाटकों के अतिरिक्त एकांकी और रेडियो-रूपक-प्रहसनों के सृजन में भी पर्याप्त प्रगति हुई है।

उपन्यास—कहानी की तरह उपन्यास भी पर्याप्त संख्या में लिखे गये हैं। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से उत्तरार्द्ध तक अच्छे-अच्छे उपन्यास लिखे गये। प्रतापमुदलियार चरित्रम् कमलांबाल चरित्रम् पदमावती चरित्रम्, जटावल्लभर आदि उपन्यास इसी समय के लिखे हुए हैं। आरणी-कुप्पुस्वामी मुदलियार ने अँगरेजी उपन्यासों की कथावस्तु के आधार पर अनेक जासूसी उपन्यास लिखे। वडुवूर दुरैस्वामी अय्यंगार और रंगराज ने सामाजिक उपन्यास लिखे। गत कुछ वर्षों से सुधारवादी लेखकों ने अनेक सामाजिक उपन्यास लिखे हैं। सुधारवादी उपन्यासकारों में रा० कृष्णमूर्ति अग्रणी हैं। इनके ऐतिहासिक उपन्यास शिवकामियिन

शपथम्' (शिवकामी की शपथ) तथा 'पार्तिपन कनवु' (पातिपन का स्वप्न) स्थायी महत्त्व के हैं। अन्य उपन्यासकार में महादेवन, पी० एम० कण्णन, जीवा, जी० एस० मणि तथा स्त्रियों में लक्ष्मी, गुहप्रियै, सरस्वती अम्माल, अनुत्तमा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

कहानियाँ—इधर कहानियों के क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति हुई है। व० वे० सु० अय्यर, भारती, के० एस० वेंकटरमणी १९वीं शताब्दी के कहानीकार हैं, जिन्होंने नवीन ढग की कहानियाँ लिखने का श्रीगणेश किया। इनके पश्चात् अनेक लेखकों ने सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, भावात्मक तथा हास्यरसप्रधान कहानियाँ लिखी हैं। ऐसी कहानियाँ सफलतापूर्वक लिखनेवालों में सैकडों के नाम लिये जाने चाहिए। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, पुदुमैपित्तन, कु० प० राजगोपालन, रा० कृष्णमूर्ति, अखिलन, रगनाथन, सरस्वती अम्माल पिच्चमूर्ति आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें कइयों की कहानियाँ तो सर्वकालीन और सार्वदेशिक हैं।

इस काल मे अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं की कहानियों और उपन्यासों का अनुवाद भी हुआ। प्रेमचद, शरत्चद्र, बकिमचन्द्र, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, खाडेकर आदि के समस्त उपन्यासों और कहानियों का प्रतिभावान् व्यक्तियो द्वारा अनुवाद हो चुका है। राजनैतिक और साहित्यिक व्यक्तियों की जीवनियाँ, सस्मरण तथा यात्रा साहित्य लिखनेवालों में उ० वे० स्वामिनाथय्यर शुद्धानद भारती, व० रा० आदि प्रमुख हैं। महाभारत की कथा, कण्णन काट्टिय वालि (गीतासार), भजगोविन्दम्, रामकृष्ण उपनिषद् आदि की रचना कर चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने अपने व्यस्त राजनैतिक जीवन मे महत्त्वपूर्ण साहित्य-सेवा की है। महामहोपाध्याय डा० उ० वे० स्वामिनाथ अय्यर, रा० राघवय्यंगार, का० सुब्रह्मण्य पिल्लै, सोमसुदर भारती, वैयापुरि पिलै, पूर्णलिंगम पिल्लै, नीलकठ शास्त्री आदि ने तमिल् के प्राचीन साहित्य पर परिशोधपूर्ण लेख, टीकाएँ आदि लिखी हैं। उन टीकाओं और लेखों के कारण प्राचीन साहित्य का अध्ययन करना सरल हो गया है।

नवीन ढग पर आलोचना करनेवालो में व० वे० सु० अय्यर, रा० राघवय्यगार, टी० के० चि० सेतुपिल्लै, पि० श्री० आचार्या, सोमसुन्दर भारती, भास्कर तोण्डमान, आ० श्रीनिवासराघवन, मीनाक्षी सुन्दरम् पिल्लै आदि प्रसिद्ध हैं। लोकसाहित्य, बाल साहित्य विज्ञान-सबधी लेख आदि भी यथारीति प्रगतिशील हैं।

पत्र-पत्रिकाएँ—वैसे तो सैकडों मासिक, साप्ताहिक दैनिक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। इनमें कलैमगल, अमुदसुरभि, कावेरी जैसी मासिक पत्रिकाएँ, आनदविकटन, कलकी, स्वदेशमित्रन, कदिर आदि साप्ताहिक पत्रिकाएँ, दिनमणि, स्वदेशमित्रन आदि दैनिक पत्र बहुत प्रसिद्ध और लोकप्रिय हैं। इनमें कहानियाँ, धारावाहिक उपन्यास, लेख, आलोचना-स्तभ, व्यग्य-चित्र एव राजनैतिक, आर्थिक तथा साहित्यिक निबध छपते हैं। इस प्रकार तमिल साहित्य बहुत प्रगति कर रहा है।

साहित्य एक प्रवहमान प्रक्रिया है। इसकी अपनी दिशा होती है और एक अपना विकास क्षेत्र। साहित्यिक मूल्य अवश्य परिवर्तित होते हैं, मूल्यों की भाषा कुछ भी हो। यह हर्ष का विषय है कि तमिल् साहित्य परपरागत रूप से प्रगतिशील रहा है और रहेगा।

—श्री एम० सुब्रह्मण्यम् 'साहित्यरत्न'

तेलुगु भाषा और साहित्य

दक्षिण में पाँच द्रविड भाषाएँ हैं। इनका जन्म द्राविड भाषा से हुआ है, इसलिए इनका संबध द्राविड भाषाओं से घना है। इतने घनिष्ठ संबध के होते हुए भी दक्षिण की तरफ आई हुई आर्य-संस्कृति के प्रभाव से ये भाषाएँ प्रभावित हुए विना न रह सकीं। यों तो आज सब दक्षिणी भाषाएँ आर्यभाषा, संस्कृत से प्रभावित हैं। इनमें तेलुगु भी एक है, जिसने अधिक मात्रा में संस्कृत व प्राकृत की शब्दावली को आत्मसात् कर लिया है। यह अन्य चार भाषाओं अर्थात् कन्नड़, तमिल, मलयालम व तुलु से अधिक लोगों में प्रचलित है। यह भाषा आर्यभाषाओं के प्रभाव से ही नहीं, बल्कि जिन द्रविड़ भाषाओं से यह घिरी हुई है, उनके प्रभाव के कारण भी, अधिक समयानुकूल शब्दावली से सपन्न है। इसी सपन्नता व भावाभिव्यक्ति की क्षमता के कारण इस भाषा में शक्तिशाली व रागात्मिका सभी वृत्तियों के अभिव्यक्तीकरण के लिए आवश्यक माधुर्य आ गया है। इस भाषा के इन्हीं अभिजात गुणों के कारण यह भारत की 'इटालियन' के नाम से प्रसिद्ध हुई।

आरंभ-युग—सन् ६०० से १०२० ई० तक

इस भाषा का आरभ कब से हुआ और साहित्यिक सृष्टि किस काल से हुई, यह अभी तक निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। उपलब्ध साहित्य से इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'नन्नय' ही इस भाषा के प्रथम साहित्यिक हुए हैं। इनका समय करीब सन् १०२० है। इनकी काव्य शैली, इनकी भाषा व रचना-पद्धति काफी प्रौढ है। श्रीनन्नय के इस साहित्य के अनुशीलन से यह निश्चित रूप से अनुमान किया जा सकता है कि इनके पहले भाषा-शली या शब्दावली काफी प्रौढ और भावाभिव्यक्ति की क्षमता रखनेवाली रही होगी। तत्कालीन शिला-लेख आदि से इसका पर्याप्त प्रमाण मिलता है। सन् ८४४ और ८८६ तथा ६२७ और ६३४ के बीच के शिला-लेखों में भी सुन्दर पद्य-रचना के नमूने हमें प्राप्त होते हैं। सर्वप्रथम उपलब्ध शिला-लेख सन् ६०० का है, इसलिए हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि सन् ६०० तक भाषा पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी तथा तत्कालीन परिस्थितियों को अभिव्यक्त करने की योग्यता पा चुकी थी। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि 'नन्नय' को भाषा की यह विरासत सहज ही प्राप्त हुई।

पुराण-युग—सन् १०२० से १५१० ई० तक

यह युग श्रीनन्नय कवि से आरंभ होकर करीब ५०० साल तक अर्थात् श्रीकृष्णदेवराय के समय तक रहा है। यह पुराण-युग इसलिए कहलाता है कि इस युग में रामायण, महाभारत,

भागवत, पद्मपुराण आदि पुराणों का सस्कृत से तेलुगु मे अनुवाद हुआ। इन पुराणों के रचयिताओं में 'नन्नय' प्रथम थे और उनकी शैली सस्कृत शब्दावली से अधिक प्रभावित थी। तत्कालीन तेलुगु-शब्दावली को भी लिये हुए उत्तम काव्य शैली मे लिखा हुआ होने के कारण उनकी भाषा काफी प्रौढ तथा काव्य साहित्य-शास्त्र से सगत था।

महाभारत के तीन पर्वों का ही अनुवाद हो सका। पूर्ण होने के पहले ही आपका देहावसान हो गया। इस अपूर्ण महाभारत के अनुवाद को 'श्रीतिक्कन सोमयाजी ने पूर्ण किया। श्रीतिक्कन सोमयाजी ने तेलुगु की सस्कृतनिष्ठता को कम कर तेलुगुपन को अधिक प्रधानता दी। इतना ही नहीं, काव्य को मूल भारत से अधिक सुन्दर बनाया। 'नन्नय' के अनुवाद के सिलसिले में एक बात और कहनी है। उनके अनूदित तीन पर्वो में से तीसरे पर्व (अरण्यपर्व) का कुछ अश रह गया था। इसको 'येर्रन्ना' ने पूर्ण किया। इसीलिए नन्नय, तिक्कन और येर्रन्ना कवित्रय कहलाते हैं।

इस कवित्रय में तिक्कन और येर्रन्ना ने महाभारत का ही अनुवाद नही , बल्कि और भी कई पुराणों का अनुवाद किया। जैसे महाभारत का अनुवाद एक से नहीं हो सका था, वैसे ही रामायण और भागवत का भी अनुवाद एक ही कवि से नहीं हो सका। भास्कर आदि चार कवियों ने रामायण का, बम्मेर, पोतराजु आदि चार कवियों ने भागवत का अनुवाद किया। वरगल के निवासी, महाकवि पोतना ने भागवत के अधिकाश का अनुवाद किया। इनका समय १४०५ से १४७० तक है। इनकी कविता भक्तिरसपूर्ण तथा कोमलकात-पदावली से आकर्षक है। मूल से भी अधिक रोचक है। इस युग में अन्य कई महान् कवि हुए हैं। उनमें, उत्तर हरिवश के स्वेच्छानुवाद करनेवाले नाचर सोमय्या' ने सन् १३६०-१३७७ में पुराण शैली को छोड प्रबंध शैली को अपनाया। श्रीनाथ सन् १३७०-१४४० में हुए थे। आप सस्कृत और तेलुगु के प्रकाड पडित थे। बचपन से ही आप कविता करते थे। शृ गार-नैपध-काव्य का तेलुगु मे सस्कृत से अधिक सुन्दर और आकर्षक रीति से अनुवाद किया। शैवमतावलबी होने के कारण शैव-पुराणों का प्रचुर मात्रा में अनुवाद किया। गाथा (Ballad)-पद्धति में रचा हुआ 'पलनाटिवीर-चरित' उनका सर्वथा मौलिक काव्य है। यही तेलुगु-साहित्य की प्रथम मौलिक रचना है। इनकी छन्दोपद्धति साधारण प्रचलित द्विपदी पद्धति थी। परतु सर्वप्रिय साहित्य के निर्माता आप नहीं थे। इनके पहले 'पालकुरिकि' सोमनाथ (सन् १२८०-१३३०) कवि ने लोक साहित्य की नींव डाली थी। ये कट्टर शैव थे। इनका शैव, वीर शैव था। इसीका उन्होंने प्रचार किया। लोक-भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। इनका 'बसवपुराण' और 'पडिताराध्य-चरित' द्विपदी छंद में, सरल भाषा में रचे गये। जैसा यह वीर शैव समकालीन ब्राह्मण-धर्म के प्रति विप्लवकारी था, वैसे ही इनकी सरल रचना-पद्धति, साहित्यिक-क्षेत्र में सस्कृत-छंदोपद्धति तथा सस्कृत-शब्दावली के विरुद्ध विप्लवकारी मानी जाती है।

इस युग में 'शतक'-साहित्य की रचना भी आरंभ हुई। इन शतकों में 'सुमति-शतकम्' और 'वेमन-शतकम्' आज भी बहुत लोकप्रिय हैं। भाषा सरल होने के कारण आज भी इस प्रान्त के बाल-बालिकाएँ उसे पढ़ते हैं।

प्रबंध-युग—सन् १५१० से १६३० ई० तक

१२० साल का यह युग तेलुगु-साहित्य का स्वर्ण-युग कहा जा सकता है। विजयनगर-साम्राज्य सन् १५१०-१५३०) के काल में, श्रीकृष्णदेवराय की सरक्षकता में, काव्य कला चरम सीमा को पहुँची। कृष्णदेवराय स्वय सस्कृत और तेलुगु के महान् पडित थे। उन्होंने संस्कृत में अनेक काव्य तथा नाटकों की रचना की, जिनमें से 'जाम्ववतीकल्याणम्' एक प्रसिद्ध नाटक है। उन्होंने तेलुगु में 'आमुक्तमाल्यद' नामक प्रबंध काव्य की रचना की। आमुक्तमाल्यद' में राजनीतिक सिद्धान्तों पर महत्त्वपूर्ण चर्चा की गई है। यह उनके और तत्कालीन अन्य राजाओं के राजकीय व्यवहार का पथ-प्रदर्शक बना। इनके दरबारी कवि, 'अलसानि पेद्दना' (सन् १५१०-१५३५) ने 'स्वारोचिषमनुचरित्रम्' लिखा जो बहुत सुन्दर प्रबंध-काव्य है। इन 'आमुक्तमाल्यद' और 'स्वारोचिषमनुचरित्रम्' ने तेलुगु साहित्य के इतिहास में एक नया युग आरभ किया। श्रीकृष्णदेवराय ने उनको आध्र-कविता-पितामह की उपाधि देकर राज-गौरव से गौरवान्वित किया। उनके समकालीन तथा बाद के कवियों ने इस प्रबध-शैली का अनुकरण किया। तेलुगु-प्रदेश तथा भारत के अन्य प्रदेशों में भी साहित्यिकों को राजाओं की सरक्षकता प्राप्त हुई थी। इस सरक्षकता ने जहाँ साहित्य की वृद्धि में योग दिया, वहाँ एक हानि भी पहुँचाई। इस तरह के राज-सरक्षण से काव्य-कला पंडितों और राजाओं के अनुरजन की ही चीज बनी रही, उसका जन-साधारण से संबध नहीं रहा। यही नहीं, साधारण जनता की रचनाएँ उपेक्षित और तिरस्कृत थीं। तत्कालीन पंडित, द्व्यर्थक, त्र्यर्थक काव्यों के बौद्धिक व्यायाम में एक-दूसरे से स्पर्द्धा करते थे। यह युग हिन्दी के रीतिकालीन युग की तरह बाहरी आडंबर से परिपूर्ण था। फिर भी कुछ श्रेष्ठ कवि और काव्य भी इस काल में हुए थे। १७वीं शताब्दी के कवि 'पिंगलि सूरना' ने 'कलापूर्णोदय' नामक सुन्दर मौलिक काव्य रचा, जो कल्पना-प्रधान और चमत्कारपूर्ण है। उनका 'प्रभावती प्रद्युम्न' काव्य हरिवश की कथावस्तु पर आधारित होने पर भी अधिक आकर्षक ढग से रचा गया है। इसी युग में 'मोल्ल' (कुम्हारिन) की लिखी रामायण सरल शैली में है। परन्तु कवयित्रियों में यही प्रथम नहीं। सन् १४५० में ही 'तालपाक हिम्मक्का' ने 'सुभद्राकल्याणम्' की द्विपदी में रचना की।

क्षीण-युग—(पतन-काल) सन् १६३० से १८६० ई० तक

यह युग वह था जबकि तेलुगु में प्रभूत मात्रा में साहित्य तो उत्पन्न हुआ, परन्तु ठोस साहित्य कुछ भी नहीं हुआ। यह शब्दाडबर-प्रधान, बाहरी तड़क-भड़कवाली भावहीन तुकबन्दी मात्र थी। पंडित और कवि श्लेष-प्रधान शब्दावली को चुनकर अपनी रचनाओं को अलकृत करना चाहते थे। 'कनकेति पापराजु' अकेले ही इस युग के श्रेष्ठ कवि माने जा सकते हैं। इनका 'उत्तररामचरित' एक ऐसा सुन्दर काव्य है कि जिसमें पुराण-युग की आकर्षक वर्णन-पद्धति, प्रबध-युग की कलात्मिकता तथा समकालीन अलंकार-योजना का विवेकपूर्ण सामजस्य है।

सर्वोदय-युग (सन् १८६० से १९५० ई० तक)

सन् १८६० में पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव ने, विशेष तौर पर साहित्य के प्रभाव ने, तेलुगु-साहित्य की प्रगति में अत्यधिक प्रभावशाली परिवर्त्तन किया। यह परिवर्त्तन केवल तेलुगु में ही नहीं, अपितु अन्य भारतीय भाषाओं के विषय मे भी हुआ है।

यदि सन् १८६० से तेलुगु साहित्य के परिमाण को आंका जाय तो हमें तत्कालीन साहित्य में चपू, काव्य, भाषानुशासन, अलकार, छन्द और अन्य शतक-साहित्य आदि विभिन्न तरह की सैकडों कृतियाँ उपलब्ध होती हैं। ये सब पडित-मान्य और ठोस साहित्य के अतर्गत मानी गई हैं। परन्तु भाषा क्रमश· पडिताऊ होने के कारण सर्वबोधगम्य नहीं रही। सर्वसाधारण-बोली में सर्वबोधगम्य रीति से लिखी गई पुस्तकें गद्यशैली में थीं, तो भी वे पडिताऊ भाषा में न होने के कारण इनके प्रति तत्कालीन साहित्यिक उदासीन रहे। जब मुद्रण-यन्त्रों द्वारा प्रकाशन की सुविधा हुई तब ऐसी ही पुस्तकें छापी गई जो काव्योचित भाषा में लिखी गई थीं। यही समय था जबकि मद्रास के सरकारी कॉलेज में 'चिन्नयसूरी' तेलुगु-पडित नियुक्त हुए। आप काव्य-भाषा के इतने प्रेमी थे कि जन-साधारण की भाषा में गद्य-निर्माण हो सकने पर भी इस कार्य के लिए काव्य भाषा को ही उपयुक्त माना, साधारण जनता की बोली की उपेक्षा की। उसी तरह की काव्य-भाषा में उन्होंने 'मित्र-भेद' एव 'मित्र-लाभ' नामक पचतत्र के दो कथानक लिखे।

उन्होंने गद्य और पद्य दोनों के लिए उपयोग किये जाने लायक व्याकरण की भी रचना की। किन्तु वह व्याकरण अपूर्ण था। इनके व्याकरण के सूत्रों के आधार पर यदि बड़े-बड़े कवियों के प्रयोगों की जॉच की जाय तो वे गलत प्रमाणित हो जायँगे। उनकी गद्य-शैली प्रासबद्ध और कृत्रिम होने के कारण साधारण जनता के लिए दुर्बोध्य रही। तो भी वही दो पीढियों के साहित्यिकों के लिए नमूना बना रहा, क्योंकि सरकार ने उसे मान्यता दी। इस तरह नमूना बनकर रहने का दूसरा कारण यह था कि भाषा की प्रासबद्ध शब्दावली कुछ समय के लिए लोगो के आकर्षण की चीज बनी रही। इस कार्य ने नवीन और उत्तम गद्यनिर्माण के प्रबल स्रोत को रोक दिया। इसके थोडे ही समय बाद रावबहादुर 'वीरेशलिंगम् पन्तुलु' मद्रास-कालेज के पडित नियुक्त हुए। वे स्वय एक जबर्दस्त समाज-सुधारक थे। स्वभावतः भाषा-सुधारक भी वे बन सकते थे। परन्तु उन्हें दो जबर्दस्त शक्तियों ने ऐसा होने नहीं दिया। उन्होंने अपना सार्वजनिक जीवन एक मामूली हैसियत से और थोड़ी-सी साहित्यिक पूँजी के साथ आरभ किया। शुरू-शुरू में उन्होंने भी वही कार्य किया जो साधारणतया 'चिन्नयसूरी' द्वारा तबतक चलाया गया था। किन्तु उन्होंने तुरन्त ही समझ लिया कि काव्य-भाषा द्वारा गद्य-निर्माण करना किसी काम का नहीं होगा और साधारण जनता के लिए उससे कोई लाभ भी नहीं होगा। मगर उनमें साधारण बोली में लिखने का साहस नहीं रहा। यह साहस इसलिए नहीं रहा कि समकालीन पंडितों द्वारा कहीं अपमानित न हो जाय और पडित लोग यह न समझ बैठें कि वीरेशलिंगम् काव्य-भाषा नहीं जानते। इसलिए उन्होंने अपनी कृतियों में अर्थात् नाटको व प्रहसनों में साधारण

पात्रों के द्वारा—जैसे सस्कृत नाटकों में साधारण पात्रों के द्वारा प्राकृत का प्रयोग कराया गया है, वैसे ही लोगों की भाषा को स्थान दिया। अगर ऐसी कृतियो में काव्य-भाषा का उत्तम-पात्र-निर्वहण की दृष्टि से प्रयोग भी किया तो उसे भी सर्वबोधगम्य बनाने की या ऐसे आसान प्रयोगों के द्वारा ही भावाभिव्यक्ति की कोशिश की। इस पद्धति ने भावुक नवयुग के कलाकारों को आकर्षित किया। इस कार्य ने चिन्नयसूरी की उस काव्यमय दुर्बोधता से मुक्ति दी। भाषा को आसान बनाने मात्र में ही यह सुधार नहीं था, बल्कि विभिन्न साहित्य के अगों के विकास पर भी इस कार्य का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। अँगरेजी साहित्य से परिचित 'वीरेशलिंगम् पन्तुलु' ने अँगरेजी के विभिन्न तरह के साहित्यों का अनुसरण व उसकी अभिव्यजना-पद्धति को अपनाकर तेलुगु के नवीन उत्थान के लिए मार्ग प्रशस्त किया। उनके समय तक तेलुगु साहित्य में उपन्यास, निबन्ध या नाटक नहीं थे। इन सभी साहित्यिक अगों का निर्माण श्रीवीरेशलिंगम् पन्तुलु ने किया। नाटक-साहित्य के निर्माण में धर्मवरम् कृष्णमाचारी, चिलकमर्ती लक्ष्मीनरसिंहम् और पानुगण्टि नरसिंहम् आदि ने वीरेशलिंगम् के साथ सहयोग दिया। आज करीब एक हजार तेलुगु नाटक, एक हजार उपन्यास और कथा-कहानियाँ तेलुगु-साहित्य में मौजूद हैं।

१८ और १६वीं सदियों में भक्तिपूर्ण व शृंगारिक गीति-रचना हुई थी। उनमें त्यागराज के कीर्त्तन व चेत्रय्या के पद बहुत प्रसिद्ध हैं। ये कीर्त्तन व पद साधारण लोगों की भाषा में प्रचलित शब्दावली में लिखे होने के कारण पंडितों ने इन्हें साहित्य की उपाधि से भूषित नहीं किया।

सन् १६१० के करीब अँगरेजी भाषा के आमतौर पर शिक्षणालयों मे प्रचलित हो जाने के कारण उस नई भाषा के प्रति लोगों का आकर्षित हो जाना स्वाभाविक था और इस स्वाभाविक आकर्षण ने मातृभाषाओं के प्रति एक उदासीनता पैदा कर दी जिससे तत्कालीन पढे-लिखे युवक अपनी भाषा में बोलने व लिखने में असमर्थ ही नहीं थे; बल्कि इसे अपना अगौरव भी समझने लगे थे। इस कारण पाठशालाओं में मातृभाषा द्वारा निबन्ध लिखना शिक्षण का एक अनिवार्य अग मानकर सरकार के द्वारा घोषित किया गया। तब सवाल यह था कि ऐसे निबन्ध काव्य-भाषा में लिखे जायँ या प्रचलित भाषा में। इस सवाल का जवाब यह था और निर्णय भी यही था कि अँगरेजी में चासर और मिल्टन को पढकर जैसे चलती भाषा में लिखा जाता है, वैसे ही प्राचीन काव्यों का अध्ययन करने पर भी चलती भाषा में ही लिखा जाना चाहिए। मगर पडितो ने इसे नहीं माना, उलटे काव्य-भाषा में ही निबन्ध लिखने पर जोर दिया। उनका विचार था कि चलती भाषा देहाती होने के कारण साहित्यिक नहीं हो सकती। इस समय इस लेखक के पिता रावसाहब श्री जी० वी० राममूर्त्ति पन्तुलु ने साहित्यिक रंग-मंच पर प्रवेश किया और इस लोक-भाषा के द्वारा किये जा सकनेवाले महान् कार्यों की ओर संकेत कर साहित्यिक-क्षेत्र के अग्रगन्ता नेता हुए। उन्होंने सारे आंध्रदेश का भ्रमण किया और सभी शिक्षणालयों का संदर्शन किया और लोगों को समझाया कि—

१. प्रचलित भाषा जो शिष्ट-प्रयुक्त है, वह ग्रामीण नहीं कही जा सकेगी।

२. भाषा जन-साधारण की हो, और उसी भाषा मे काव्य-निर्माण हो तथा उन काव्यों के प्रयोगों के अनुकूल व्याकरण आदि हों। यही स्वाभाविक है और प्रगति का मूल-मन्त्र है। इससे भिन्न कोई भी क्रम विकास में बाधक है।

३ आदिकाल से भी हमारे कवियों ने तात्कालिक प्रचलित प्रयोगों को अपनाया है। उन प्रयोगों का अनुशीलन किये बिना व्याकरण के सूत्रों की कसौटी पर कसकर उन्हें गलत कहना भारी भूल है। ऐसे अपूर्ण व्याकरणों की दृष्टि से जब पडितों की भाषा में ही ऐसे प्रयोगो का होना दुस्साध्य है, तब विद्यार्थियों को इस तरह के बन्धन में बाँध देना बहुत ही क्रूर कार्य है।

४ हरिजन-समाज का एक प्रमुख अग होते हुए भी उनको बराबरी का स्थान उन प्राचीन शास्त्रो ने जैसे नहीं दिया था, वैसे ही भाषा के अंतर्गत होकर प्रचलित और नित्य काम देनेवाले तिङ् व सुबत शब्दों के रूप जिन्हें प्राचीन व्याकरणो ने असाधु कहकर बहिष्कृत किया, उन्हें आज भाषा में बराबरी का स्थान अवश्य मिलना चाहिए। इसके लिए यदि शास्त्र को बदलना भी पडे तो कोई आपत्ति हमें नहीं होनी चाहिए।

श्रीराममूर्त्ति पतुलुजी के ये सिद्धात नवयुवको को अच्छे लगे। समकालीन सनातनी पडितो को यह नया परिवर्तन सकारण प्रतीत होने पर भी अपने कट्टरपन के कारण स्वीकार्य नहीं था और इस तेज बहनेवाली पहाड़ी धारा को रोक सकने की ताब उनमें नहीं थी।

तेलुगु भाषा का दुर्भाग्य था कि श्रीराममूर्त्ति पतुलुजी का देहावसान सन् १९४० में हुआ। मगर उन्होंने अपने जीवनकाल में ही तेलुगु-भाषा को, जिस प्रचलित रूप में देखना चाहते थे, देखा। पत्रिकाओं ने तथा अन्य साहित्यिक अंगों ने उनकी मनोनीत भाषा को अपनाया था। आज प्रचलित भाषा में निर्मित साहित्यिक कृतियाँ यद्यपि सरकारी स्कूलों व विश्वविद्यालयों में पाठ्यपुस्तक हैं, तो भी उस भाषा पर अभी तक सरकार व विश्वविद्यालयों ने अपनी मुद्रा नहीं लगाई है, यह बाकी रह गया है।

आज बीसवीं सदी में भाषा में ही परिवर्त्तन नहीं, बल्कि विचार-पद्धति व साहित्य-निर्माण की विविध रीतियो में काफी परिवर्तन आ चुका है। श्रीपतुलुजी के समकालीन साथी 'श्रीगुरुजाड अप्पारावजी' के मुक्तक काव्य आज के नवयुवक कवि के लिए पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। उनका नाटक 'कन्या-शुल्क' ने तो अमर कीर्ति पाई है। श्रीअप्पारावजी के अलावा 'श्रीरायप्रोलु सुब्बारावजी' भी अपनी मौलिक रचनाओं के कारण आज के काव्य-निर्माताओ के लिए आदर्श बने हैं। इन नये कवियों के एक समूह के लिए 'श्रीतल्लाकज्भल शिवशकर-शास्त्रीजी' गुरुतुल्य बने हैं, तो दूसरे समूह के लिए कविसम्राट् 'विश्वनाथ सत्यनारायण' गुरुतुल्य हैं।

'श्रीदेकुलपल्लि कृष्णशास्त्री' अपनी काव्य माधुरी के लिए प्रसिद्ध हैं। सैकड़ों की सख्या में युवक कवि आज आन्ध्रदेश में पाये जाते हैं। उनमें प्रधान-प्रधान कवियों के नाम गिनाने क लिए भी काफी समय चाहिए। फिर भी कुछ लोगो का परिचय कराना आवश्यक है। 'वकट पार्वतीश्वर' यमल कवि हैं। ऐसे ही काट्टुरि वेकटेश्वर-पिंगलिलक्ष्मीकातम्' यमल कवि हैं।

कविकोकिल दुव्वूरि रामीरेड्डी, त्रिपुरनेनि रामस्वामी चौधरी, तुम्मुल सीताराममूर्त्ति चौधरी, जोषुआ आदि प्रसिद्ध आधुनिक कवि हैं। चालीस-पचास तक कवयित्रियाँ भी हैं। नड्डुरि सुव्वारावजी के 'येकि पाटलु' ने जन-मन को बहुत आकर्षित किया है। बाल-साहित्य ने भी आज तेलुगु में काफी उन्नति पाई है।

तेलुगु-साहित्य की एक विशेषता है। इसमें अष्टावधान, शतावधान तथा आशुकवित्व की प्रधानता है। यह तेलुगु की अपनी सपत्ति है। श्री भाडभूमि वेंकटाचारी' सर्वप्रथम व ख्यातिप्राप्त अवधानी थे। देवुलपल्लि कृष्णशास्त्रीजी के पिता व चाचा, रायकृष्ण यमल-कवि और को'परपु भाई आदि इस आशुकविता में ख्यातनामा थे। किंतु इनमें सर्वप्रथम व विशेष ख्यातिप्राप्त कवि तिरुपति वेकटेश्वर कवि थे। इन तिरुपति कवियो में एक चल्लपल्लि वेंकटशास्त्रीजी मद्रास सरकार के सर्वप्रथम कविसार्वभौम आस्थान कवि) थे। उनके दिवगत होने के बाद दूसरे जिन्होंने कविसार्वभौम की पदवी पाई, वे कविसार्वभौम महामहोपाध्याय कलाप्रपूर्ण श्रीश्रीपाद कृष्णमूर्तिशास्त्रीजी हैं।

इन दोनों कवियों की साहित्यिक विचार-पद्धति में भिन्नता है। श्रीवेंकटशास्त्रीजी श्रीराममूर्त्तिपंतुलुजी के सिद्धांत को माननेवाले थे और उसी तरह की प्रचलित भाषा में जन-मन को प्रिय लगनेवाले साहित्य का निर्माण किया। और आज के अनेक युवक-कवियों के लिए गुरुतुल्य थे।

श्रीश्रीपाद कृष्णमूर्तिशास्त्रीजी प्राचीन सनातनी ढग के अनुयायी हैं। इन्होंने अकेले ही रामायण, भारत और भागवत का पद्यमय अनुवाद सस्कृत से तेलुगु में किया है। इनकी करीब १५० कृतियाँ आज तेलुगु साहित्य में प्रतिष्ठित हैं।

आज के कवि सार्वभौम, श्रीश्रीपाद कृष्णमूर्ति के अनुयायियों में कडपा-जिला के जनमंत्रि शेषाद्रि शर्मा और गडिय रे वेंकट शेषय्या आदि अनेक कवि काफी प्रसिद्ध हैं।

तेलिंगाना के गोलकोंडा प्रदेश में आज ३०० कवि मौजूद हैं। सक्षेप में यह कह सकते हैं कि आज आध्रदेश काव्योचित प्रतिभा से परिपूर्ण है। इस प्रतिभा का प्रवाह विशेष रूप से राष्ट्रीय जागरण को लिए हुए काव्य-निर्माण करने में पूँजीवादी समाजतत्र के विरुद्ध जन-जागरण का प्रतीक बनकर दीन-दुखियो की सहानुभूति से अनुप्राणित हुआ है। तात्पर्य यह है कि आज तेलुगु-साहित्य उस जनता के जीवन को प्रतिबिंबित करनेवाला दर्पण है।

—डॉ० जी० वी० सीतापति

कन्नड-साहित्य

यह कहना आसान नहीं कि कन्नड भाषा में काव्य की रचना कब से आरंभ हुई। अबतक ९ वीं शताब्दी के पूर्व की कोई रचना उपलब्ध नहीं है। पर शिलालेख कई ऐसे मिल चुके हैं, जो ९ वीं शताब्दी के पूर्व के कहे जा सकते हैं। यह जानी हुई बात है कि वेलूर (रियासत मैसूर का प्राचीन नगर) सारे दक्षिण-भारत में शिल्पकला की खान है। उस नगर के पास ही 'हल्मडी' में सन् ४५० ईस्वी का एक शिलालेख प्राप्त है। कहा जा सकता है कि यही शिलालेख सबसे पुराना है—उनमें जो अबतक मिले हैं। इसमें आरम्भ में संस्कृत का एक श्लोक खुदा हुआ है और बाकी जो है वह तो कन्नड-गद्य-शैली में। सन् ७०० ईस्वी का एक दूसरा शिलालेख 'बादामी' (जिला बीजापुर) में मिला है। उसमें जो पद है, वह तो ठेठ कन्नड छन्द का है। पद में संगीत की मिठास है और भाषा में प्रवाह। सातवीं सदी के आसपास श्रवणबेलगोल (गोमटेश्वरक्षेत्र) में सैकड़ों शिलालेख मिले हैं। इन शिलालेखों की भाषा पुरानी कन्नड है। इन पदों में संस्कृत-शब्दों की प्रचुरता और संस्कृत-साहित्य की परम्परा की छाप बहुत है। पदों की प्रौढता पर ध्यान देने से पता चलता है कि कन्नड में काव्य-रचना अवश्य हुई होगी, पर वे काव्य लिपिबद्ध न हुए होंगे।

'कविराजमार्ग' ग्रंथ अब मिला है। इस ग्रंथ के प्रमाण से यह अनुमान होता है कि कन्नड भाषा में काव्यों की रचना बराबर जारी रही। अबतक मिले ग्रन्थों में कविराजमार्ग ही सबसे प्राचीन है। इसके रचयिता हैं—राजा नृपतुंग जो राष्ट्रकूट राज-घराने के थे। यह लक्षणग्रन्थ है। प्राचीन कवियों के नाम और उनके लिखे कई पद इस ग्रन्थ में पाये जाते हैं। इसकी तुलना संस्कृत-भाषा के 'काव्यादर्श' से की जाती है। कविराट् (नृपतुंग) अपने इस ग्रन्थ में लिखते हैं कि कन्नड राष्ट्र का फैलाव कावेरी नदी से लेकर गोदावरी नदी तक है। जनता के बारे में कवि कहते हैं कि जनता काव्य पढती नहीं, बल्कि काव्य की पारखी है। मतलब यह है कि जनता में काव्यों के पढने की आदत नहीं, पर जनता इन ग्रन्थों का श्रवण करती है। बार बार सुनने से काव्य के मर्म को समझकर उसकी आलोचना करने में निपुण है। यों तो अबतक कन्नड-भाषा में संस्कृत और कन्नड इन दोनों भाषाओं के मेल से उत्पन्न एक ऐसी शैली का उत्कर्ष रहा जो चंपू-शैली के नाम से प्रसिद्ध हुई। काव्य-रचना की यही रीति जारी रही। इस शैली को अपनाते हुए आदि कवि 'पंप' ने अपनी कृतियों से कन्नड-भाषा को सजाया। नृपतुंग के बाद 'पंप' की गिनती है। सन् ९४२ ईस्वी कवि पंप का रचना काल माना जाता है, तो भी पंप कन्नड के आदि कवि कहलाते हैं। इन्हींसे कन्नड काव्य-धारा बहने लगती है। इनके समकालीन और अपर-

कवि, सबने पंप की शैली का ही अनुकरण किया है। इसलिए यह पप-युग कहा जा सकता है। इसका काल ईसवी सन् ६०० से १२०० तक है। कन्नड के महान् कवि लगभग इसी समय के हैं। सब-के-सब एक-से एक बढकर कवि हुए। यह तो कन्नड का स्वर्णयुग कहलाता है।

इस समय कर्नाटक में जैनधर्म अपने उत्कर्ष पर था। कवियों में भी जैन कवियों की ही सख्या अधिक थी। इन जैन कवियो की ऐसी रीति थी कि आत्मतृप्ति के लिए पुराण लिखना और साथ साथ अपने अभिभावक और जनता को रिझाने के लिए काव्य भी रचना। इस तरह पप ने भी 'आदिपुराण' और 'भारत' की रचना की है। आदिपुराण में आदि तीर्थंकरों की कथा है। सस्कृत के 'पूर्वपुराण' ग्र थ में इस कथा का उल्लेख है। पप-भारत और व्यास के महाभारत, दोनों में मेल नहीं है। पप ने अपने ही ढग से इसकी रचना की है। कथा-प्रसगों में दोनों में समता नहीं। पप भारत में तो द्रौपदी के पाँच पति नहीं होते। श्रीकृष्ण को, जो भगवान के अवतार माने जाते हैं, प्रधानता नहीं। अर्जुन ही इस काव्य का नायक है। पप ने घटनाओं के वर्णन में कलम ही तोड डाली है। काव्य में पद-योजना की प्रणाली किसीसे सानी नहीं रखती। रस-निष्पत्ति और योजना-चातुरी वहुत उच्च श्रेणी की है।

आदिकवि पंप के वाद कवि 'रन्न' की वारी है। ईस्वी सन् ९९२ रन्न का समय है। इनका पेशा था—चूडियाँ वेचना और वनाना। कवि ने 'अजित तीर्थंकर' पुराण लिखा है। 'गदायुद्ध' इनका महाकाव्य है। यह काव्यग्रथ वहुत लोकप्रिय है। कवि को अपनी रचना पर वडा अभिमान है। उनका दावा है कि यह काव्य सरस्वती के भडार की लूट है। इस काव्य की कथावस्तु को लेकर आधुनिक कन्नड के आचार्य 'श्री' (वी० राम० श्री कठय्या) ने गदा-युद्ध नाटक लिखा है। 'रन्न' की शैली ओजपूर्ण है। काव्य को पढते-पढते चित्त में वीरता का आदेश उत्पन्न होता है। भावव्यजना की शली ऐसी है कि शब्दों का चुनाव, भाव और अर्थ के साथ मेल खाता है। 'रन्न' शब्द का अर्थ है रत्न। वास्तव में 'रन्न' कवियों में रत्न ही थे।

यह युग पद्य का ही था। काव्यधारा अवाध रूप से वह रही थी। गद्यकाव्य की रचना नहीं के वरावर थी। 'चावुंडराय' 'गगवाडी' राजाओं के सचिव थे। सस्कृत 'महापुराण' का अनुकरण कर चावुंडराय ने 'चावुंडराय-पुराण' नामक गद्यकाव्य की रचना की। कहा जाता है कि इन्होंने श्रवण-वेल-गोल की गोमठेश्वर महामूर्ति को वनवाया। गद्यकाव्य का दूसरा एक प्राचीन ग्रथ मिला है। इसका नाम है 'वोड्डा राधण'। इसके रचयिता हैं—शिव कोट्याचार्य। इस काल के विशेष उल्लेखनीय और दो ग्रथ और हैं। एक है कवि नागवर्मा का 'छदोम्बुधि' जो लक्षण ग्रन्थ है। दूसरा ग्रन्थ है—'कन्नड कादवरी।' यह सस्कृत-कादवरी का अनुवाद है। वाणभट्ट ने अपनी आख्यायिका सस्कृत गद्यशैली में लिखी है, पर नागवर्मा की कृति पद्य में है। कन्नड जनता को पद्य ही वहुत प्रिय है। इसलिए कहा जाता है कि इन काव्यो (पद्य-रचना) को लिपिवद्ध होकर ग्रन्थ के रूप में परिणत होने में समय की प्रतीक्षा करनी पडी। गद्य का ध्येय है लेखन-

शैली में व्यक्त होना, पर काव्य की साधना है गेय पदों के रूप में सगीत—सुरीली तान पर आरूढ होना। 'कर्णाटका टंकारोत्तरपाठिन' यह लोकोक्ति कन्नड जनता में चरितार्थ हुई है। धनुष्टकार के समान गभीर स्वर में लय होकर, काव्य को अपनी ही धुन में गाने का श्रेय कन्नड जनता को परपरा से मिला है। यही कारण है कि इन कवियों के लक्षण-ग्रन्थ, शब्द-मणिदर्पण, छदोम्बुधि आदि पद्यमय रचनाएँ हैं।

नागवर्मा के समय में ही कन्नड-काव्य-रचना-शैली में यह परिवर्त्तन होना दिखाई पडा कि सस्कृत के शब्द-प्रयोग की बहुलता कम हुई। इनका ग्रन्थ तो सस्कृत का अनुवाद है, तोभी उसमें सरस कन्नड-शब्द लालित्य की भरमार है। कवि नागचन्द्र की ख्याति अभिनव पम्प के नाम से हुई है। नागचन्द्र ने 'मल्लिनाथपुराण' और 'रामायण' दो काव्य लिखे हैं। वाल्मीकीय रामायण और नागचन्द्र की रामायण—दोनों के कथावस्तु-वर्णन मे अपार अन्तर है। इसमें पुत्रकाम्येष्टि का कोई वर्णन नहीं। विश्वामित्र और वसिष्ठ का अस्तित्व ही लुप्त है। महाबली हनुमान समुद्र को नहीं लाँघते, पर विमान में आरूढ हो, उसे पार करते हैं। वालि सन्यास ग्रहण करते हैं। राम के हाथों रावण का वध नहीं होता। उनका वध लक्ष्मण द्वारा होता है, राम से नहीं। सबसे बढकर अतर रावण के चरित्र-चित्रण में है। उनका चित्रण इस भाँति है कि रावण जितेन्द्रिय और धर्मपरायण हैं। परनारी को जो उनसे मोहित होकर अपना प्रेम जताती है, उपदेश देते हैं। लेकिन वे ही रावण सीता को देख, चलित-मनस्क होते हैं, परनारी से विरत रहने के अपने व्रत को सहसा भूल बैठते हैं। इस तरह रावण दुरन्त नायक के रूप में चित्रित हैं। यह चित्रण-शैली काव्य की मार्मिकता को उद्दीप्त कर उसकी महत्ता को बढाती है।

पंप युग की विशेषता यह है कि काव्य निर्माण का ध्येय और ही था। ग्रन्थ-निर्माण की वस्तु धार्मिक धारणाओं से ओतप्रोत रहती थी। इसकी साधना और चेतना यह थी कि धर्म का प्रचार भलीभाँति हो जाय। इस काल में केवल साहित्य सृजन करनेवाले कवि बहुत विरले हैं। नेमिनाथ और आडय्य—ये दोनों ऐसे कवि हुए कि केवल काव्य-रचना ही उनकी साधना रही। नेमिनाथ ने 'लीलावती-प्रबन्ध' नामक काव्य की रचना की, जो प्रेमकाव्य है। 'कावन गेल्ल' तो आडय्य की वह काव्य है जो 'मन्मथ-विजय' कहा जा सकता है। आडय्य का भाव-व्यजना से ही काव्य का माधुर्य छलकता हुआ दिखाई देता है। यही उनकी साधना थी।

राजा-महाराजाओं का आश्रय पाकर, इस युग के साहित्य-रथी काव्य रचा करते थे। अनेक राजा लोग भी सुन्दर कवि हुए हैं। काव्य की कथावस्तु, उसकी वृत्ति और उसके छद आदि सस्कृत-काव्य-परम्परा से प्रभावित थे। कुछ छन्दों की पद-योजना ऐसी थी कि पूरा पद सस्कृत का सा प्रतीत होता था।

कवि 'जन्न' का समय ईसवी ११७० से १२३५ तक माना जाता है। 'यशोधरचरित्रे' इनकी काव्य-रचना है। कवि ने अपने इस काव्य में बडी मार्मिक व्यजना के साथ दया की महिमा, अहिंसा की उत्कर्षता आदि का वर्णन किया है। काव्य का सृजन धर्म की भित्ति पर नहीं हुआ है। चरित्र-निर्माण में कवि ने कमाल हासिल किया है। कथा-

प्रवाह में एक ऐसी घटना का वर्णन है कि आटे से बनी मुर्गी के बलि चढ़ाने की बात ठहरती है। इस प्रस्तुत परिस्थिति में हृदय की विकलता और अनुताप की व्यंजना को कवि 'जन्न' ने इतनी निपुणता और मार्मिकता से अभिव्यक्त किया है कि यह दृश्य भावुक हृदय पर अपना असर किये बिना नहीं रहता। जो काम दसों धर्मग्रन्थ कर सकते थे, उसे जन्न की भावाभिव्यजन-शैली ने बड़ी सफलता से सपन्न किया है। इस अनोखी निपुणता के कारण जन्न को 'कवि सम्राट्' की उपाधि मिली।

१२ वीं शताब्दी में ही कन्नड-काव्य-धारा का दूसरा युग प्रारम्भ होता है। सस्कृत की काव्य-परम्परा की कड़ियों से छुटकारा पाकर, कन्नड-काव्य-कला अपने ही स्वच्छद छद से अलकृत हो, निखरने लगी। पुरानी प्रथा के अनुसार यद्यपि धर्म का प्रचार ही काव्य-रचना का आशय था, तथापि कवि-हृदय उसे जनता तक पहुँचाने के लिए लालायित हो उठा। यही समय था कि समाज सुधारक बसवेश्वर का जन्म हुआ। बसवेश्वर केवल कवि ही नहीं, बल्कि 'वचन'-साहित्य के जन्मदाता हैं। समाज सुधारक तो थे ही, पर उनकी महान् अभिलाषा यही थी कि ये सूक्तियाँ जनता के हृदय में अपना घर बना ले। 'वचन'-काव्य की शैली सरल है। शब्द-योजना ललित है। कन्नड काव्य-धारा की यह नवीनता है। इस साहित्य की भाषा मार्जित है। इसमें बनावट नहीं। पद नुकीले और सूक्तियाँ छोटी छोटी हैं। वचन-काव्य-गद्य सा प्रतीत होता है। 'वचन'-साहित्य के सभी कवि भक्त और ससार से विरक्त हैं। उनकी जीवनी पवित्रता का प्रतीक है। इसलिए इस साहित्य ने दोनों ओर से (लौकिक और आध्यात्मिक) पुष्टि पाई। धर्म की भित्ति पर 'वचन'-साहित्य का निर्माण हुआ है। कविराण महाशिव की शरण में रमनेवाले हैं। इन सूक्तियो ने कन्नड जनता में बड़ी क्राति मचाई। भक्तिधारा ने नूतनता की राह ली और जनता सामशील बनी। इसी अरसे में स्त्रियाँ भी कवि बनीं। एक नहीं, बहुतों ने ख्याति पाई।

इसी परम्परा में 'हरिहर' कवि हुए। ये तो कन्नड के नवीन छद के प्रणेता हैं। यह नूतन छद कन्नड भाषा में 'रगले' कहलाता है। आगे के कवि इसी छद का अनुकरण करने लगे। कवि हरिहर के बाद राघवाक ने कीर्ति पाई। ये भी नवीन छद के निर्माता हैं। यह छद षट्पदी' (छप्पय) के नाम से प्रसिद्ध है। इनका 'हरिश्चन्द्र-काव्य' बड़ी उत्तम कृति है। अब षट्पदी-काव्य-कृतियों की बौछार होने लगी। कुमारव्यासु और लक्ष्मीश षटपदी कवियों में ख्यातनामा हैं। कुमारव्यास लोककवि हुए। इनका 'भारत' घर-घर में, गाँव-गाँव में पढ़ा जाता है। 'भारत' पढ-पढ़कर जनता आनन्द के मारे झूमने लगती है। पंप-'भारत' से कुमारव्यास की कृति सानी रखती है। जब काव्य-वाचन होता है तब ऐसा विदित होता है कि श्रोताओं की आँखों के सामने भीम, अर्जुन, द्रौपदी, कृष्ण आदि पात्र जसे खिंच आते हैं। कलियुग द्वापर में बदल जाता है और महाभारत की लड़ाई दृष्टि-पथ में होती दिखाई पड़ती है। उत्तर-भारत में जैसे तुलसी-रामायण घर-घर में पढ़ी जाती है, वैसे ही कुमारव्यास के 'भारत' का हाल है कन्नड देश में।

'जैमिनी-भारत' लक्ष्मीश की अमर कृति है। उक्ति-चातुरी इनके काव्य की जान है। छन्दो की नस-नस में मधुरिमा भरी है। संगीत के लय में छन्द नाच उठता है। ऐसी प्रसिद्धि अन्य किसी कवि को नहीं मिली है। इन दोनों कवियों की रचनाएँ कन्नड जनता को इतनी प्रिय हैं कि इनके सामने रामायण का कोई मूल्य ही न रहा। इन्हीं कवियों के साथ रत्नाकर वर्णि का नाम भी लिया जाता है। इस कवि की रचना है 'भरतेशवैभव' जो एक अमूल्य तत्त्वग्रंथ है। नवरसों की पुष्टि इस कृति मे भलीभाँति हुई है और जानपद शैली इस रचना में अच्छी तरह सिद्धि पा गई है। सोलापुर के पंडित वर्द्धमान शास्त्री ने इसका अनुवाद हिन्दी में किया है।

१६ वीं सदी की विशेषता है—कन्नड भाषा में गेय साहित्य की श्रीवृद्धि होना। वैष्णव भक्तों ने इस दिशा में अच्छी तरह हाथ बँटाया। माधुर्यपूर्ण, रसीले गेय पद बना बना कर वैष्णव भक्त देश-भर में घूम घूमकर गाने लगे। देश भर में भक्ति की भागीरथी बह निकली। भक्ति का प्रचार करने में 'वचन'-साहित्य के समान यह गेय काव्य भी जनप्रिय बना और जानपद-साहित्य कहलाने लगा।

इन भक्त कवियों में पुरंदरदास प्रमुख हैं। परम वैष्णव भक्त होने से अपने को दास कहते थे। कन्नड (कर्नाटक) संगीत के आदि आचार्य पुरंदरदास ही हैं। इन दास-कवियों के पद इतने लोकप्रिय हैं कि जनता अपनी ही धुन में इन पदों को सदा सर्वदा गाती रहती है। इन पदों की रोचकता ऐसी है कि ये पद लोकोक्तियों के समान व्यवहृत होते हैं। इस साहित्य में जीवन-संबंधी कई तत्त्वो की विश्लेषणात्मक आलोचना हुई है और दासगण की उपमान-योजना बडी ही उत्तम है।

जब साहित्य की धारा नाना भागों में बह रही थी, दुर्भाग्यवश कर्नाटक-साम्राज्य विजय-नगर का नाश हुआ। अराजकता के कारण साहित्य की प्रगति रुक सी गई। लंबे अरसे के बाद मैसूर में राजाओं का आश्रय पाकर साहित्य की धारा फिर से बहने लगी। राजा चिक्कदेवराय स्वयं कवि थे। इनके समय में अन्य बहुत-से कवि हुए हैं। इनमें कवयित्री 'होन्नम्मा' का बडा नाम है। चिकुपोध्याय कवि ने संस्कृत के 'गीतगोविन्द' का अनुकरण कर 'गीतगोपाल' नामक काव्य की रचना की।

१७ वीं सदी में कवि षडक्षरदेव और भट्टाकलंक हुए। कन्नड-व्याकरण की रचना संस्कृत भाषा में भट्टाकलंक ने की है। यही जमाना था कि गद्य-साहित्य की ओर कन्नड-काव्यधारा मुडने लगी। मैसूर के राजा मुम्मडि कृष्णराज ने 'गद्य-भारत' की रचना की। संस्कृत के कई नाटक कन्नड में अनूदित हुए। इसका श्रेय 'बसप्प' शास्त्री को है, जो अभिनव कालिदास के नाम से प्रख्यात हैं। इस सदी के और दो प्रसिद्ध कवि हैं। सर्वज्ञ उनमें से एक हैं। कन्नड जनता सर्वज्ञ को जानपद-कवि सम्राट् कहकर पुकारती है। ये उच्च श्रेणी के आशुकवि थे। उठते-बैठते कविताएँ रचकर लोगों को सुनाते थे। तेलुगु-भाषा में 'वमन' और तमिल में 'अव्व-यार' ऐसे ही कवि हुए हैं। सर्वज्ञ की कविताएँ लड़ियों में बँधकर काव्य का रूप धारण नहीं करतीं, बल्कि फुटकर पद कहलाती हैं। ये पद बहुत ही रोचक हैं, सुन्दर सुभाषित के समान। इनकी वस्तु है—जीवन

का तत्त्व और नीति। उपमानो की योजना में कोई कृत्रिमता नहीं। वे सीधे हैं और जनजीवन से मेल खाते हैं। इनकी कविताओं की छाप जनता पर इतनी जोरदार है कि आये दिन लोग वार्तालाप में इन उक्तियो का उल्लेख करते हैं। 'मुद्दण' इसी काल के दूसरे प्रसिद्ध कवि हैं। ये तो १६ वीं सदी के हैं तोभी १६ वीं और १७ वीं सदी के कवि जैसे रसपूर्ण ललित भाषा में गद्य काव्य की रचना कर गये हैं। 'रामाश्वमेध' इनका गद्य काव्य है। बाणभट्ट की कादम्बरी के समान इस गद्यकाव्य का भाषा में प्रवाह है, लोच है और मिठास भी।

अब से कन्नड का आधुनिक काल आरम्भ होता है। आज का साहित्य सर्वतोमुखी होकर विपुल प्रगति पाने लगा है। इसकी विशालता इतनी व्यापक है कि पूरा वर्णन करने के लिए अलग लेख लिखना है। यहाँ तो इसकी गुंजाइश नहीं।

२० वीं सदी के आरम्भ में कन्नड साहित्य ने अपनी आवश्यकता के अनुसार नया रूप धारण कर लिया। अब गद्य-साहित्य की धारा अनेक रूपों में विभाजित होकर बहने लगी। पहले-पहल उपन्यास की ओर उसका झुकाव हुआ। वेंकटाचार्य ने बँगला से बंकिम-चन्द्र के उपन्यासों का अनुवाद लेकर, इसकी वृद्धि की। 'गलगनाथ' भी मराठी उपन्यासों का अनुवाद करने लगे। पुट्टण्ण और वासुदेवाचार्य आदि लेखकों ने मौलिक उपन्यास लिखे। आगे चलकर कन्नड उपन्यास-लेखक अनेक हुए इनमें कारंत और अ०न० कृष्णराय बहुत सफल हुए हैं। कारत की एक कृति का अँगरेजी सस्करण छप चुका है, जिसका नाम है Back to the Soil। उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति अब कुछ धीमी पड़ी तो छोटी-छोटी कहानियों का स्वागत होने लगा। कन्नड साहित्य में इनकी संख्या बहुत है। इस कहानी-साहित्य के आचार्य हैं 'मास्ती'। मास्ती कहानी-सम्राट् की उपाधि से भूषित हैं। इनकी कहानियाँ सरलता को लिये किसी आदर्श की ओर उन्मुख होती हैं। इनकी रोचकता प्रशसनीय है। कृत्रिमता का नाम नहीं, सीधेपन के साथ आख्यायिका की अभिव्यक्ति हुआ करती है। इनका अनुकरण कर कई उत्तम कहानी-लेखक हुए हैं। कुछ स्त्रियाँ भी कहानी की निपुण लेखिका हुई हैं। गल्प-साहित्य के अभाव की पूर्ति ही 'मास्ती' की अनुपम देन है, कन्नड वाङ्मय के लिए।

उपन्यास तथा गल्प-साहित्य के साथ साथ पद्य-काव्य की धारा भी प्रवाहित हो रही थी। नवीन कन्नड का पद्यकाव्य अब प्रगतिपथ पर अग्रसर होने लगा। अनेक कवि अपने स्वतन्त्र मार्ग पर आगे बढ़ते हुए मातृभाषा की सेवा करते रहे, यह इस युग की विशेषता है। इस प्रसग में 'बेंद्रे' तथा 'पुटप्पा' इन दोनों आधुनिक कवियों का नाम लेना उचित है। बेंद्रे की कविता उनके निवास स्थान की निजी परम्परा से प्रभावित रहती है। जानपद-शैली में अपनी प्रतिभा और उन्नत कला के सहारे बेंद्रे ने अद्भुत साहित्य का निर्माण किया है। ग्रामगीतों की शैली और लावणी छन्द में, बोलचाल की भाषा में ही यह अद्भुत साहित्य-भडार सजा हुआ है। पुटप्पा की कविता प्रौढ शैली की ओर प्रवृत्त है। मैसूर की परम्परा का विकास इनकी कविता में नहीं हुआ, पर वही परम्परा निखरती हुई प्रगति पा रही है। दोनों कवियों ने अबाध रूप से अपनी-अपनी कला और शैली

में विशाल वाङ्मय का सृजन किया है। इस युग के ललित कवि (Lyric poet) का नाम है—पु० ति० नरसिंहाचार्य। भावनाओं की कोमलता और सगीत की मिठास के साथ-साथ गेय पदों के परिधान में नरसिंहाचार्य की काव्यकला प्रकट हुई है। ये बडे लोकप्रिय कवि बने हैं। बेंद्रे आध्यात्मिक कवि हैं तो पुटप्पा वीर-कवि कहलाते हैं। और भी अनेक आधुनिक कवि हैं। उनकी कला उत्तम काव्यों की रचना कर रही है।

नाटक रचना भी अपने उत्कर्ष पर है। नाटक साहित्य नवीन कला की ओर झुका हुआ है। यह श्रेय प्रहसन पितामह कैलासम को है। कन्नड साहित्य में नाटक-रचना शैली तथा कला में नूतनता लाने और उत्तम प्रहसनों की रचना में कैलासम की बराबरी और कोई नाटककार नहीं कर सकता। कैलासम की अनोखी कला को अपनाकर 'पर्वतवाणी', 'क्षीरसागर' और 'कस्तूरी'-जैसे उच्च कोटि के नाटककार हुए हैं।

कन्नड-गद्य की उन्नति नाना दिशाओं में हो रही है। कन्नड-वाङ्मय की सर्वतोमुखी प्रगति के लिए, स्वर्गीय 'श्री' ने जोरदार आन्दोलन चलाया। उसका अमिट प्रभाव अपना काम कर गया। अपने शिष्यवर्ग को 'श्री' ने बडी स्फूर्ति दी। 'श्री' के अचूक साहस के कारण कन्नड-साहित्य पूर्णतया सम्पन्न बना। अनेक शास्त्र-ग्रन्थ और प्रौढ शैलीवाले उच्च कोटि के गद्य-ग्रन्थ कन्नड-सरस्वती के भण्डार में आने लगे।

कन्नड-काव्य-धारा की गवेषणा के बाद कहा जा सकता है कि यह साहित्य आदिकाल से लोकजीवन के साथ मिल-जुलकर पनपने लगा है। जैसा यह साहित्य जनजीवन के सग मिल गया है, सम्भव है कि अन्य साहित्यों की वैसी दशा न रही हो। लगभग १६ वीं सदी से यह बात देखने में आई है कि जानपद-कवियों की ही सख्या अधिक है। यही कारण है कि कन्नड-साहित्य में शृंगारी कविताएँ बहुत कम मिलती हैं। जीवन सबंधी स्थूल तथ्य को पहचानकर अपनी कला के द्वारा उसे सीधे और सरलता के साथ जनता के सामने, हमारे कवियों ने अपनी कृतियों में रखा है। इसमें इन कवियों का आशय यही था कि जनता अपने स्वार्थ को त्याग दे। अज्ञान को मिटाकर दुरभिमान को दूर करे। भोगी जीवन से विरत होकर साप्रदायिक अधविश्वास से हट जाय और सन्मार्ग में चलने लग जाय। इसी परम्परा के प्रभाव से, ऐसा विदित होता है कि हमारे कविगण नवयुग की वास्तविकता-रूपी मरीचिका के शिकार नहीं हुए। लेकिन इक्के-दुक्के लेखक इस मरीचिका के पीछे दौड़ रहे हैं, तोभी बहुत से साहित्यिक सार्वत्रिक, सार्वजनीन हित-साधना-हेतु, अपनी-अपनी कला को कन्नड-साहित्य रगभूमि पर दिखा रहे हैं।

—सिद्दवन हल्ली कृष्ण शर्मा

मलयाला-साहित्य

आपलोग जानते होंगे कि मैं भारत के उस भूविभाग से आया हूँ, जिसका नाम केरल है। भारत के सबसे दक्खिन में अरबसमुद्र और पश्चिमी पहाडों के बीच गोकर्ण से कुमारिका तक फैला हुआ भूविभाग ही 'केरल' है। इसका दूसरा नाम भार्गव-क्षेत्र है। कहा जाता है कि भार्गव ने ही हजारों साल पहले इसे समुद्र से ऊपर उठाया था।

प्राकृतिक सुन्दरता में कश्मीर से ही इस भूविभाग की तुलना की जा सकती है। बड़े-बड़े फलों के बोझ से लदे हुए ऊँचे-ऊँचे नारियल के पेड, लहलहाते हुए खेत, कलरव करते हुए छोटे पहाड़ी झरने, गिरि-कन्दराएँ आदि प्रकृति माता की देन हैं। यहाँ की प्राकृतिक सुन्दरता के बारे में यों कहा जा सकता है कि भारत के दक्खिनी और उत्तरी (कश्मीर) भूभाग में प्रकृति माता ने अपनी सारी खूबियाँ बिखेरकर बाहर से आनेवालों की आँखे चकाचौंध कर दी हैं और करती रहती हैं।

ऐश्वर्य में भी यह भूविभाग और कहीं से पिछडा नहीं है। नारियल, काली मिर्च आदि अमूल्य वस्तुओं के अलावा हाल में ही तोरियम आदि प्रधान खनन-पदार्थ भी निकाले जा चुके हैं। यद्यपि चावल के सम्बन्ध में स्वय सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता, तोभी विदेशों से चावल और अन्य जरूरी चीजें पाने के लिए जिस डालर की जरूरत है, उसे सबसे अधिक कमानेवाला यह भूविभाग है। भारत का सबसे अधिक सुन्दर और काम का बन्दरगाह भी यहीं है जिसमें से होकर भारत के विदेशी व्यापार का एक बहुत बडा हिस्सा चलता रहता है।

धार्मिक बातों में भी हम पीछे नहीं रहे। सारे भारत को अपने अद्वैतवाद के सदेश से प्रकाशित करनेवाले श्रीशकराचायजी ने इसी देश में जन्म लिया था। उनके सिद्धान्त और आदर्श आजकल भी हमारे धार्मिक सिद्धान्तों के आगे चमकते रहते हैं। बुद्धिवाद के आधार पर कहा जाय तो सारे भारत को आजकल भी हमारा छोटा-सा केरल प्रभावित कर रहा है। आप किसी भी सरकारी या गैर-सरकारी दफ्तर में चले जाइए, वहाँ काम करनेवालों में काफी 'मेनोन' होगे। सक्षेप में यों कहा जा सकता है कि केरल के लोग अपनी अक्ल-मन्दी और होशियारी से सारे भारत पर अपनी हुकूमत चला रहे हैं।

केरल की जनता में अधिकाश न शुद्ध द्राविड हैं, न शुद्ध आर्य। यहाँ आर्यों और द्राविडों का सास्कृतिक सम्मेलन ही न हुआ, बल्कि रक्त-संबंध भी। भार्गव राम के जमाने से ही यहाँ के द्राविड़ों और आर्यो में सांस्कृतिक और वैवाहिक सम्बन्ध हो रहा था। इसी तरह यहाँ की भाषा पर भी आर्यभाषा सस्कृत का प्रभाव पड गया। तो भी आदि द्राविड़ भाषा से ही उ की उत्पत्ति हुई है। यह तमिल, तेलुगु, कनरीस आदि द्राविड़-भाषाओं की बहिन है।

इसका साहित्य बहुत पुराना है। करीब डेढ़ हजार साल पुराना साहित्य उपलब्ध है। इसका रूप मंदिरों में पूजा-पाठ आदि देवी कामों में आनेवाले गीतों में मिलता है। इसके पूर्व के साहित्य के बारे में हम कुछ नहीं जानते।

पुराने साहित्य की खोज करने पर देखा गया है कि केरल-साहित्य-धारा दो शाखाओं में बही है—एक तो संस्कृत से प्रभावित और दूसरी शुद्ध द्राविडी शैली। पहली शैली में संस्कृत का प्रभाव खूब देखा जा सकता है, दूसरी में ठेठ द्राविडी भाषा का रूप। पहली शाखा को, जिसमें विभक्त्यन्त संस्कृत शब्द और केरल भाषा शब्द मिलाकर प्रयुक्त होते थे, साहित्यशास्त्रज्ञ 'मणिप्रवाल' कहते हैं। इस साहित्य में उतनी नैसर्गिक सुन्दरता रहती है जितनी मणि और प्रवाल के सम्मिलन में। संस्कृत और केरल भाषा के शब्दों का सम्मिश्रण इतना सुन्दर हुआ है। इसीलिए यह नाम पड गया।

दूसरी शाखा को 'पाट्टु' (गीत) कहते हैं। इसमें ठेठ द्राविड भाषा के शब्द ही मिलते हैं। यदि संस्कृत शब्दों का प्रयोग इधर-उधर हुआ है तो उन्हें द्राविडी बनाकर प्रयुक्त किया गया है। इसके भी दो रूप हैं। एक तो वे ग्रामीण गीत हैं जो शादी आदि अवसरों में गाये जाते थे और दूसरा वीराराधना के गीत। मलयाल साहित्य की वीरगाथा और हिन्दी-साहित्य की वीरगाथा में एक बहुत बड़ा फर्क है। हिन्दी में वीरगाथा के कवि किसी राजा के आश्रय में रहते थे और आश्रयदाता की प्रशंसा में ही गीत गाते थे। मलयालम में ऐसा नहीं हुआ है। मलयालम में पहलेपहल वीरगाथा गीत ग्रामीण गीतों के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है।

गीत-साहित्य का पहला प्रकाशित ग्रन्थ है—रामचरित'। श्रीराम कवि—ट्रावनकोर के रामवर्मा राजा ही इसके रचयिता हैं। वे करीब आठ सौ साल पहले जीवित थे। प्रबन्धरूप में सैनिकों के गाने के लिए वाल्मीकीय रामायण के युद्धकांड के आधार पर ही यह रचा गया है। इसके एक सौ साल बाद माधव कवि ने भगवद्गीता का अनुवाद किया। यह गीता का भारतीय देश-भाषाओं में पहला या दूसरा अनुवाद है। उसी जमाने में इसके भतीजे राम पणिक्कर ने रामायण, भारत और भागवत का अनुवाद किया। करीब इन्हींके जमाने में एक कृष्णभक्त कवि रहते थे, जिनका नाम है—चेरुशेरी' नम्बूतिरी। उनकी कृति का नाम है—'कृष्णगाथा'। जैसे नाम से ही विदित होता है, इसमें भागवत के दशम स्कंध की कथा स्वतन्त्र रूप से कही गई है।

अबतक जिनका जिक्र किया गया, वे गीत-साहित्य के हैं। आगे मणिप्रवाल-शाखा की कृतियाँ हैं। वे अधिक संस्कृत के आधार पर ही रची गई हैं। इस शाखा में संस्कृत के सभी साहित्यिक रूप या तो अनुवाद के रूप में या मौलिक अनुकरण के रूप में मलयालम में आये हैं। सन्देशकाव्य, चम्पू, खण्डकाव्य, नाटक, गद्यकाव्य, लक्षणग्रन्थ आदि सब मिले हैं।

इन दोनों शाखाओं का सम्मिश्रण करनेवाले हैं—भक्त कवि 'तुञ्चत रामानुजाचार्य'। इनका केरल के लोग बडी भक्ति से आदर करते हैं—जैसे आपलोग तुलसी, सूर, कबीर आदि भक्त-कवियों का या तमिल लोग 'कम्पर' का। इन्होंने रामायण, भारत, भागवत आदि

कई ग्रन्थ लिखे। तुलसीदास के रामचरितमानस को उत्तरभारत में जितना प्रचार मिल गया है, उतना प्रचार इनके रामायण को केरल में मिल गया। तुलसीदास और रामानुजाचार्य दोनों समकालीन कहे जा सकते हैं। दोनों पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदी के धार्मिक उत्थान के प्रतिनिधि कवि हैं।

'कथकलि' जो आजकल लोकप्रसिद्ध हो गई है, और कलालोक के लिए एक बहुत बड़ी देन है, केरल में ही पैदा हुई थी। यह कला बहुत पुराने जमाने से ही केरल में प्रचलित है, पर उसमें जिक्र करने लायक कोई साहित्य न था। इसकी पहली साहित्यिक कृति के रचयिता 'कोट्टारक्करा राजा' हैं। ये श्रीरामानुजाचार्य के बाद जीवित थे।

इनके बाद एक-एक करके, एक-एक जमाने में कोट्टयम राजा, उएणायी वारियर, इरयिम्मन तम्पी, अश्वति तिरुनाल महाराजा आदि कई कवियों ने कथकलि-साहित्य की इस शाखा की श्रीवृद्धि की है। इनमें उएणायी वारियर और इरयिम्मन तम्पी की कृतियों में साहित्य, सगीत और अभिनय, तीनों सम्मिलित हैं।

केरल के सबसे बड़े हास्य-साहित्यकार हैं—कुञ्जन नम्बियार। ये दुनिया के किसी भी हास्य-साहित्यकार से पीछे नहीं हैं। ये तीन सौ साल पहले जीवित थे। 'तुल्लल' प्रस्थान-पद्धति के जन्मदाता ये ही हैं। महाकवि और अभिनयकुशल कुञ्जन नम्बियार की कृतियाँ सिर्फ पढे-लिखे लोगों को ही नहीं, पर आम जनता को मुग्ध कर देनेवाली हैं। ये यथार्थ में जनता के कवि हैं। इनका अनुकरण करनेवाले कई कवि हुए हैं। गान गाकर नाच दिखलानेवाली 'तुल्लल' नामक एक नृत्यकला आज भी केरल में प्रचलित है।

अँगरेजी-शिक्षा के प्रचार से जैसे सारी भारतीय देश भाषाओं में एक नवोत्थान हो गया है, उसी प्रकार मलायल-साहित्य भी नये-नये भावों और कलाशैलियो से अलकृत हो गया है। इसकी प्रारम्भिक दशा में कोडुङ्गल्लूर कुञ्ञुकुट्टन तम्पुरान, के० सी० केशव पिल्ले, वेएमणी नुम्पूतिरी आदि कई महाकवि हुए हैं। तोभी केरलवर्मा और ए० आर० राजराज वर्मा ने इस नवोत्थान का मार्ग सुगम और साफ बनाया। इनमें केरल वर्मा को केरल-कालिदास और राजराजवर्मा को केरल-पाणिनि कहते हैं। इन मामा-भानजों ने ही मलयाल भाषा के विकास की नींव डाली है। केरलवर्मा ने अधिकतर काव्य रचे हैं। राजराजवर्मा ने अधिकांश आधुनिक रीति के लक्षण-ग्रन्थ रचे हैं।

इनके बाद मलायल-साहित्य में तीन महाकवि हुए—महाकवि कुमारन आशान, उल्लूर और वल्लत्तोल। ये तीनों, वर्माओं के बाद मलयाल-साहित्य में आधुनिक नवोत्थान का प्रतिनिधित्व करनेवाले त्रिमूर्त्ति हैं। कुमारन आशान ने हिन्दू-समाज के रूढ़िगत अन्ध-विश्वासो के खिलाफ अपनी कलम चलाई है। 'करुणा', 'चण्डाल-भिक्षुकी', 'नलिनी' आदि इनके प्रसिद्ध खण्डकाव्य है। उल्लूर हिन्दू-संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं। ये सस्कृत के बड़े पण्डित हैं। 'उमाकेरलम' नाम के महाकाव्य से ये मशहूर हुए हैं। 'पिङ्गल' आदि खण्डकाव्य भी लिखे हैं। महाकवि वल्लतोल, जो हाल ही में 'अस्थान महाकवि' उपाधि से विभूपित हो गये हैं, केरल के राजनैतिक उत्थान के प्रतिनिधि कवि हैं। उनके देशभक्ति के गीत, केरल के कोने-कोने में पहुँच गये हैं। उन्होंने 'चित्रयोगम' नामक महाकाव्य लिखा है। 'कोच्चुसीता', 'मगदलन मरियम', 'अनिरुद्धन' आदि कई खण्डकाव्य भी लिखे हैं।

उनकी फुटकर कविताओं का सग्रह 'साहित्यमञ्जरी' नाम से आठ भागों में प्रकाशित हुआ है। इन तीनों में पहले दोनों कवि अब जीवित नहीं। वल्लत्तोल अब भी साहित्यिक रचनाएँ कर रहे हैं और उनसे अब भी हमें बहुत बड़ी आशा है।

आधुनिक जमाने में अँगरेजी साहित्य के सभी नई-नई पद्धतियाँ मलयालम में आई हैं। इस ओर काम करनेवालों में श्रीशकर कुरुप और चङम्पुषा कृष्ण पिल्ले के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। छायावाद, रहस्यवाद, दु:खवाद आदि सभी भावात्मक शैलियों का खूब प्रचार हुआ है। श्री जी० शकर कुरुप ने उमरखय्याम की 'रुबाइयात' का अनुवाद किया है। इसके अलावा छायावाद और रहस्यवाद की कई कविताएँ लिखी हैं। इनके प्रभाव से साहित्य की यह शाखा खूब फूली-फली है। चङम्पुषा ने रूढिगत आचार-विचारों का खण्डन किया है। उनके प्रेम के गीतों की शब्द माधुरी अजीब है। उनके 'रमणन' नामक खण्डकाव्य के पचीसों सस्करण निकल चुके हैं। खेद की बात है कि ये जवानी मे ही अपनी जीवन-लीला समाप्त करके हमसे विदा ले चुके हैं। युवक-समाज पर इनका बडा प्रभाव है। मलयालम मे मुक्तक छन्दो के निर्माता भी ये ही हैं। दु खवाद भी इन्हीं की देन है। इनके अलावा बालामणि अम्मा वैलोप्पिल्ली, वेण्णिकुलम, अक्कित्तम, ओलप्पमण्णा, एन० वि० कृष्ण वारियर आदि कई नौजवान कवि आजकल हमारे साहित्य की सेवा कर रहे हैं।

गद्य-साहित्य के बारे में भी कुछ कहे बिना इसे समाप्त करना अनुचित होगा। हमारी भाषा में बहुत पुराने जमाने का—करीब एक हजार वर्ष पहले का—गद्य-साहित्य उपलब्ध है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र का गद्य में अनुवाद और रामायण, महाभारत, भागवत आदि का गद्य-विवर्त्तन भी हुआ था। वैद्य, ज्योतिष आदि का गद्य-ग्रन्थ भी उपलब्ध है।

पर नवीन शैली के गद्य का विकास अँगरेजी के जमाने से ही हुआ है। जिन परिस्थितियों में हिन्दी गद्य का विकास हुआ है, उन्हीं परिस्थितियों में मलयाल गद्य का भी विकास हुआ है। इसका श्रीगणेश भी केरलवर्मा के दिनों में ही हुआ। उन्होंने अँगरेजी से 'अकबर' नामक एक उपन्यास का अनुवाद किया और कई अन्य लेख लिखे। उनके अनुयायियों में सि० वि० रामन पिल्ले, चन्दु मेनोन और अप्पन तम्पुरान आदि उपन्यास-लेखक हुए हैं। श्री सि० वि० ने ऐतिहासिक उपन्यास और चन्दु मनोन ने सामाजिक उपन्यास लिखे हैं। अप्पन तम्पुरान ने ऐतिहासिक, सामाजिक और जासूसी उपन्यास लिखे हैं। इसके बाद साहित्य-क्षेत्र में उपन्यासों का एक प्रवाह ही आ गया। अब सैकडों उपन्यास निकले हैं। हाल ही में गल्पों का ज्यादा प्रचार होने लगा है। तकषी, केशवदेव और पोट्टेकाट ही कहानीकारों में अग्रगण्य हैं। तकषी की एक कहानी अनूदित हो गई है और उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'रण्टिटङषी' का अनुवाद हो चुका है। इसके अनुकरण में हजारों कहानियाँ निकली हैं और निकल रही हैं। कहानियों की अखिल-भारतीय स्पर्धा में मलयाल कहानी को प्रथम पुरस्कार मिला है। यह हमारे लिए बडे गौरव की बात है। एकाङ्की, जीवन-चरित्र, निबन्ध, समालोचना, हास्य-साहित्य, बाल-साहित्य, वैज्ञानिक निबन्ध आदि के जिक्र करने का समय नहीं। आखिर इतना ही कहकर समाप्त करते हैं कि हमारे साहित्य की कृतियाँ भारत के ही नहीं, बल्कि विश्व के साहित्य की उच्च श्रेणी के भी समान मानी जा सकती हैं।

—श्री पी० वी० कृष्णन नायर

गुजराती-साहित्य

यो तो गुजराती भाषा का क्षेत्र वर्त्तमान इतर प्रांतो की भाषाओ के क्षेत्रों की अपेक्षा अल्प सा है। गुजराती की भगिनी बोली मारवाड़ी का क्षेत्र अधिकतर विस्तृत है। मेवाड़ी, मालवी एवं जयपुरी भी विस्तृत हैं ही। परन्तु साहित्य-समृद्धि की दृष्टि से देखा जाय तो ये सब भगिनी बोलियाँ केवल बोलियाँ ही रही हैं, उलट पक्ष गुजराती आज बोली नहीं है, विस्तृत प्रौढ सर्जवाली भाषा बन चुकी है। अंतिम आठ शताब्दी से वह अपने विविध गद्य-पद्यात्मक साहित्यिक सर्जनों से समृद्धि पाकर नवीन युग मे भी गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकी है।

बारहवीं शताब्दी में यों तो गुजरात की भूमि पर अपभ्रंश भाषा का प्रभुत्व था। गुजरात के कलिकालसर्वज्ञ जैनाचार्य हेमचन्द्र सूरि जी ने अपने समृद्ध 'सिद्धहेम' व्याकरण के अन्तिम-भाग में 'सारा आठवाँ अध्याय' प्राकृत भाषाओं के व्याकरण से भर दिया है। उस आठवें अध्याय के अन्त-भाग मे अपभ्रंश का स्वरूप देने का प्रशस्त प्रयत्न जो हुआ, इससे तत्कालीन गुजरात की देश-भाषा के स्वरूप का निश्चय करना सरल हो जाता है। यहाँ इतना अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि उस समय गुजरात की सीमा इतनी परिमित नहीं थी, न केवल आज का गुजरात ही गुजरात था, प्रत्युत आबू से लेकर जयपुर तक का सारा प्रदेश भी गुजरात की विशाल सीमा में समाविष्ट होता था। ग्यारहवीं शताब्दी के अरब-मुसाफिर अलबेरुनी ने जिस गुजरात—उसके उच्चारण से 'गुज्रात'—का वर्णन किया है, वह तो आबू और जयपुर का मध्यवर्त्ती प्रदेश ही था, जहाँ गोपालन के व्यवसाय पर आजीविका करती हुई गुजर-प्रजा बस रही थी, न केवल बस रही थी, उनमे से कितने के कुल राजत्व पा चुके थे, और प्रतिहार, परमार, चौहाण, चावड़ा, सौलंकी आदि राजवंश भी आगे जाकर मारवाड, मालवा, मेरवाडा एव गुजरात के शासक बन चुके थे। इस विस्तृत प्रदेश में मौखिक लोक-साहित्य का अच्छा विकास हुआ था। आचार्य 'हेमचन्द्र' ने अपभ्रंश-स्वरूप का परिचय दिया है, इसमें लोक-साहित्य के वैसे बहुत-से पद्यो की भरमार कर दी है। आचार्य्य श्री के समय में अपने देश की व्यापक भाषा का यो अच्छा परिचय मिल जाता है। उस प्राकृत व्याकरण का अधिकतर भाग 'जैन-महाराष्ट्री' प्राकृत से भरा है। बेशक उन्होंने नाम 'प्राकृत' ही रखा है, उसी तरह चतुर्थ पाद के अन्तिम सूत्रो में 'गौर्जर' अपभ्रंश भर दिया है—बेशक उन्होंने नाम 'अपभ्रंश' ही रखा है। गतानुगतिक न्याय से ऐसा स्वीकृत-सा हो चुका है कि आचार्य हेमचन्द्र ने जो अपभ्रंश दिया है, वह है 'नागर'-मार्कण्डेय ने अपने 'प्राकृतसर्वस्व' नामक प्राकृत भाषाओं के व्याकरण में प्रधान अपभ्रंश को 'नागर' कहा और उसको वहाँ शौरसेनी-प्राकृतोपजीव्य बतलाया—आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपभ्रंश के स्वरूप को देते हुए आखिर मे 'शौरसेनीवत्' कहा, उस साम्य से आचार्य हेमचन्द्र के अपभ्रंश को 'नागर' कहना प्रामाणिक नहीं हो सकता। टाक, नागर, गौर्जर, आभीर, आवन्त्य, ये पाँच अपभ्रंश निकटतर थे—उनके बहुत-से अंश आचार्य हेमचन्द्र के अपभ्रंश में सुरक्षित हैं ही। वैसा मिश्रण ही इस अप-

भ्रंश की विशालता का द्योतक है, जो भ्रमयणशील गुजर-प्रजा की व्यवहार की बोली के सभी अंशों को समाविष्ट कर गया था।

आचार्य हेमचन्द्र के बाद मारवाड़ एव गुजरात की भूमि मे साहित्योपासकों ने सर्जन की अविच्छिन्न धाराएँ बहाईं एव पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्यभाग में गुजराती भाषा के आदि-कवि भक्तप्रवर नरसिंह महता ने ऊर्मिमय रसभर पदसाहित्य का आविष्कार किया। वहाँ तक भी जैन विरक्त साधुओं ने सैकड़ों की संख्या में धार्मिक कथाओ से भरे हुए रासों की, एवं लालित्य से भरे हुए फागुओ की, रचना कर दी थी। कतिपय साधुओ ने गद्यलेखन भी शुरू कर दिया था। अनुवाद एव टीका-टिप्पणी के रूप मे बालावबोधो की रचना सर्वसामान्य थी। इनमें कोई विशेष आश्चर्योत्पादकता नहीं थी, परन्तु इनमे उदाहृत किये हुए कथानको से पता मिल जाता है कि छोटी-छोटी कहानियाँ गुजरात मे जो प्रचलित थीं, वे भी इसी तरह बालव-बोधो में ग्रथस्थ हो जाती थीं। तरुणप्रभ का बालावबोध वि० स० १४११—ई० सन् १३५५ का है।

परन्तु आश्चर्यकारक कृति तो गद्यशैली की प्रासानुप्रास रचनावली 'पृथ्वीचद्र चरित' है, जो स० १४७८ ई० सन् १४२२ से पूर्व लिखा गया था। यह एक राजकुमार का चरित देता हुआ गद्य-उपन्यास है। इस शैली का विकास आगे एक-दो कृतियो से अतिरिक्त नहीं हुआ, यह भी इसकी विशेषता का द्योतक है।

नरसिंह महता से पूर्व में जेन कवियो की साहित्योपासना गण्य है ही। नरसिंह महता के पीछे के जैन कवियो ने साहित्योपासना का वेग जरा भी कम नहीं किया था। उन्नीसवीं शताब्दी तक वह चालू था। परन्तु नरसिंह महता से लेकर जैनेतर साहित्यकारो ने नया ही प्रस्थान किया, वह लोकभोग्य अधिकतर होने के कारण आम जनता में फैल गया—धार्मिक प्रजा ने उनका सत्कार भी विपुल प्रमाण में किया और हम देखते हैं कि आदिभक्तियुग में नरसिंह, भीम भालण, मीरां, केशवराम आदि भक्तकवियों ने भक्तिसाहित्य का बीज बोया। आख्यानसाहित्य का विकास भी इस युग में शुरू हुआ और कर्मण, माडण, वीरसिंह, जावड आदि की जैन रासों की पद्धति से अतिरिक्त कडवाबद्ध आख्यानशैली का आरभ भालण के हस्त से हुआ, जिसका विकास बड़ोदा के वैश्य कवि 'नाकर' ने महाभारत के बहुत-से पर्वों को आख्यान के रूप में देकर किया।

आश्चर्य का विषय तो यह है कि परम भागवताचार्य श्रीवल्लभाचार्य जी के शिष्य सूर-दास, कुंभनदास, परमानन्ददास एव कृष्णदास और उनके पुत्र श्रीविट्ठलनाथ जी के शिष्य नन्द-दास, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास एव छीतस्वामी–इन अष्टछाप-कवियों ने जिस कविताधारा को बहाकर ब्रजभाषा को साहित्य क्षम भाषा में परिणत करके हिन्दी-साहित्य को श्रेष्ठतम साहित्य होने की मुद्रा लगाई—इनसे पूर्व में गुजरात में भक्त नरसिंह ने साहित्य की विपुलतर रचना की। नरसिंह के सामने जयदेव का गीतगोविन्द एवं भागवत तो था ही, क्योंकि इन दोनों ग्रन्थों का अनुसरण नरसिंह में मिलता ही है। परन्तु पदो की रचना का प्रकार गुजरात में नया-सा था। इसके पूर्व अवश्य रास-काव्यों के बधों में धवलादिक आते थे, परन्तु व्यापकता नहीं थी। बिहार के विद्यापति का नरसिंह से कोई सबध नहीं है। नरसिंह ने कबीर

का नाम अपने पदो मे उल्लिखित किया है, इससे इतना स्पष्ट है कि कबीर की कविता नरसिंह ने सुनी थी। परन्तु नरसिंह ने जिस प्रवाह से पदों की धारा बहाई, वह तो अपूर्व-सी लगती है। हाँ, कुछ-न-कुछ अनुसरण मराठी संतों की बानी का नरसिंह में मुझे मालूम हुआ है। यह तो स्पष्ट ही है कि गुजरात के बड़ोच के एक 'चक्रधर' नामक संत ने अपने गुरु गुंडोबा की छत्रछाया में महानुभाव-पंथ का विकास महाराष्ट्र-सयुक्त प्रांतों में किया था। उस सम्प्रदाय के अनेक कवियो ने पुरानी मराठी भाषा में पद-साहित्य की विपुल रचना कृष्णलीला को विषय बनाकर की। उनके बाद पंढरपुर में वारकरी संतों के नेता ज्ञानदेव एवं उनके शिष्य नामदेव ने भी पदसाहित्य का विकास किया। ज्ञानदेव ने अभंगों की विपुल प्रमाण में रचना की, परन्तु नामदेव ने तो पदो को न केवल मराठी में, प्रत्युत पंजाबी और हिंदी में भी रचा। नामदेव के बहुत-से पद सिक्खों के ग्रन्थ-साहब में सुरक्षित हैं, जहाँ कबीर, जयदेव, रविदास, धनाभक्त, शेख-फरीद आदि के पद भी नानक के हजारों पदो के साथ-साथ सुरक्षित बन गये हैं। भारत में इसी तरह पद-रचना व्यापक हुई। नरसिंह ने देशी रचना में पद प्रकार अपनाया—और अधिकतर नामदेवादिक के अभंगों के सहारे पर अपने प्रिय छंद 'झूलणा' में सुन्दरतम रचना की। भक्ति एवं वेदांत के पदों की भी रचना नरसिंह में ही प्रथम स्वतंत्र रूप में मिलती है। वेदांत मत को स्पष्ट रूप देने का नरसिंह का प्रयत्न अवश्य प्रशंसनीय है। नरसिंह को अविकृत परिणामवाद पर प्रेम था—श्रीवल्लभ से पूर्व समय में ही। इस वेदांत मत का मूल कर्णाट मे हुए विष्णुस्वामी के विचारों में था, ऐसा विष्णुस्वामी के कह कर भागवतटीकाकार श्रीधर ने थोडे से श्लोक भागवत-टीका में जो उद्धृत किये हैं, उनसे ज्ञात होता है।

इस प्रकार श्रीवल्लभ के वेदांत मत का एवं अष्टछाप व्रजभाषा के हिन्दी-कवियों की भक्तिमय पदप्रणाली का नरसिंह पुरस्कारक है, यह गुजरात के लिए परम भाग्य की बात है।

नरसिंह के बाद मीरां एवं भालण पर तो व्रजभाषा की असर प्रमाणित हो सकती है। भालण ने भागवत दशमस्कंध की रचना छोटे छोटे पदो में शुरू की थी और बीच-बीच पाँच-छः व्रजभाषा के पदों की भी उसने रचना दाखिल कर दी थी जिसपर सूरदासादिक की छाया प्रतीत होती है। दशमस्कंध में आगे बढते हुए 'भालण' ने फिर तो कड़वाबद्ध आख्यानशैली को ज्यादातर स्वीकार किया था। भालण के पीछे गुजराती भाषा में पदों की रचना सत्तरहवीं शताब्दी के आरंभ में ज्ञानमार्गीय कवि गोपाल और अखा ने अहमदाबाद में रहकर की जिस समय मुख्य रचना तो इतर कवियों ने आख्यानों की ही की थी।

आख्यान-युग का अंतिम कवि हुआ सत्तरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, प्रेमानंद। आख्यानों को कमनीयता देने का कार्य प्रेमानंद के हाथ से हुआ। नरसिंह के बाद मीराबाई और भालण गुजरात के मान्य कवि माने गये हैं, जिनके बाद अखा-जैसा ज्ञानी भक्त स्थान पा सकता है। परन्तु प्रेमानंद की प्रतिभा इतनी प्रबल थी कि नरसिंह महता के बाद प्रेमानन्द ही श्रेष्ठता का मान ले जाता है।

प्रेमानन्द के समय में आख्यान-कविता परा उन्नति पर पहुँची और वहाँ ही वह नाम-शेष हो गई। यहाँ से उत्तर-भक्तिकाल का प्रारंभ हुआ। राजे नामक एक मुस्लिम कृष्ण-

भक्त पदसाहित्य को समृद्धि करता है—वह इस युग के आरभ में। रणछोड रघुनाथ आदिक भक्तों की भक्तिमय रचना एव प्रीतम धीरो, भोजो, नरभो, प्रागो आदिक ज्ञानमार्गीय कवियों की ज्ञानमय रचना इस युग की विशिष्टता बन रही है।

अतिम भक्तियुग के अत भाग मे, अठारहवीं शताब्दी के पूर्व में, एक ओर वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग का अनुयायी दयाराम और दूसरी ओर स्वामिनारायण-सप्रदाय के मुक्तानद, ब्रह्मानद, प्रेमानद, प्रेमसखी-जैसे सवल कवियो ने भक्तिसाहित्य को भर दिया। इनमे दयाराम की प्रतिभा इतनी प्रवल थी—खास करके गरबी-साहित्य की विपुलतर रचनाओं के कारण, समस्त गुजराती कवियों में प्रेमानन्द के बाद दयाराम का ही स्थान आ जाता है। दयाराम ने गुजराती के अतिरिक्त हिंद की अन्य प्रातीय भाषाओं मे भी कविता की है। अपने चौदहवे वर्ष में वह भारत के प्रवास में निकल गया था और २४-२५ वे वर्ष में वह गुजरात मे वापस आया। इतने वर्षों मे उसने अन्य प्रांतों के साहित्य का भी परिचय प्राप्त कर लिया। वल्लभी वैष्णव होने के कारण अष्टछाप महानुभावी कवियों की प्रसादी तो वह पा चुका था ही, इसमें देशाटन का लाभ मिल गया और उसकी प्रतिभा बहुत वृद्धिगत हुई, जिनमें से कृष्णलीला से भरी हुई हजारों गरवियो की रचना हो गई।

दयाराम के साथ ही पूर्व-युग पूर्ण होता है और नया अभिनव-युग शुरू होता है। आग्ल-शिक्षा-दीक्षा के आरभ के साथ भारत का समग्र ढग ही वदल गया, साहित्य का प्रवाह भिन्नमार्गीय बन गया, यहाँ तक कि पूर्व-काल में पद्यबध ही भाषा का वाहन था—गद्य में टीका-टिप्पण-अनुवादादिक से इतर रचना होती ही नहीं थी—'पृथ्वीचंद-चरित'—जसे कोई-कोई ही अपवाद थे, अब गद्य ही प्रधान वाहन वनने लगा। नया युग के दलपत राम नर्मदाशकर-जैसे कविवर होने पर भी खुद उन दोनों कवियों ने भी गद्य में अनेक निबधो की रचना की। कविता का विषय भी अब बदल गया। धार्मिक कथानको का स्थान सामाजिक समस्याओं ने ले लिया। उपन्यासादि की रचनाएँ होने लगीं। नदशंकर-तुलजाशकर ने 'करणघेलो' एव महीपतराम रूपराम ने 'वनराज चावडो' लिखकर इस मार्ग को आगे बढाया।

यो तो गल्प-साहित्य का विकास वहुत प्राचीन काल से गुजरात में चालू था। जैन साधुओं ने एवं जैनेतर साहित्यिकों ने लोक-कथाओं का प्रवाह वहाया था। खास करके वीर विक्रम को मध्य में रखकर बहुत-सी कथाएँ रची गई थीं और प्रेमानद का उत्तरकालीन अहमदाबादवासी शामल अठारहवीं शताब्दी में 'सिंहासन बत्रीशी' 'सूड़ा बहत्तरी' आदिक कथाओं की रचना से गुजराती-साहित्य के गल्पविभाग को भर देता है। गुजराती-साहित्य में गल्पसाहित्य का जो विकास हुआ, वह तो नया ही प्रकार है, और यूरोपीय शिक्षा का फल है। नारायण हेमचद्र ने इस विषय में काफी यत्न किया और छोटे-मोटे बहुत उपन्यास लिख कर इस शाखा को विकसित किया। खास विशिष्ट प्रयास जो हुआ, वह तो स्व० श्री गोवर्धन राम त्रिपाठी का। उन्होंने बड़े-बडे चार ग्रथों मे 'सरस्वतीचद्र' जैसा सामाजिक अनेक समस्याओ से भरा हुआ असामान्य उपन्यास लिखा है। उनकी अनेक देशीय विद्वत्ता एवं लोकमानस के अभ्यास का वह बड़ा भारी फल है। यह प्रवाह आज तक अविच्छिन्न

बहता रहा है। ठक्कुर नारायण विसनजी के ऐतिहासिक एव सामाजिक उपन्यास गुजराती अभिनव साहित्य की उस शाखा को सजीव बनाते रहे। इसी युग मे मुन्शी कनैयालाल जी ने लेखन शुरू किया—'घनश्याम' के उपनाम से 'पाटणनी प्रभुता'' उन्होंने लिखी। 'स्वप्नद्रष्टा' जैसे सामाजिक उपन्यास में जो स्वप्न का उन्होंने जिक्र कर स्वशासित प्रजा का आदर्श मूर्त्त किया था, वह आज प्रत्यक्ष हो रहा है। उन्होंने उसके बाद ऐतिहासिक एव सामाजिक उपन्यासों से गुजराती साहित्य को जो समृद्धि दी है, वह इतर भाषाओं के वैसे प्रयत्नों में गौरवान्वित स्थान प्राप्त कर चुकी है। एक महान् राजकीय पुरुष साहित्यिक क्षेत्र में असामान्य स्थान प्राप्त करके बैठा है, वह न केवल गुजरात का, समग्र भारत का भी असामान्य गौरव है।

श्रीचुन्नीलाल वर्धमान शाह, श्री धूमकेतु, श्री रमणलाल व, देसाई, श्री पन्नालाल पटेल-जैसे प्रौढ उपन्यासकारों ने गुजराती-साहित्य में गौरवान्वित स्थान प्राप्त करने योग्य उपन्यास लिखकर अर्पण किये हैं।

छोटी-छोटी कहानियों का वैशिष्ट्य गुजराती भाषा मे आज ध्यान खींच रहा है। श्री धूमकेतु ने शुरू-शुरू में छोटी कहानियाँ-नवलिकाएँ लिखने का आरभ किया और प्रभुत्व-पूर्ण कहानियाँ 'तणखा मडली' में प्रसिद्ध कीं। आज बडे जोर से गुजराती लेखकों के हाथ से सामयिकों में एवं ग्रंथस्वरूप-सग्रहों मे छोटी कहानियाँ निरतर आती रही हैं।

यह कहना अतिशयोक्ति-रूप नहीं होगा कि यूरोपीय साहित्य के ये दोनो साहित्यिक स्वरूप (forms of literature) गुजराती भाषा में अच्छा स्थान पा सके हैं। गुजरात ने एक विशिष्टता दी, वह है—हास्यरस के साहित्य की। शुरू में कविवर दलपतराम ने 'मिथ्याभिमान' नाटक लिखा। उनके बाद वह प्रवाह आगे बढता रहा। नवलराम ने भी 'भटनु भोपालु'' लिखा। परतु स्व० रमणभाई नीलकठ ने 'भद्र-भद्र'' लिखकर पराकाष्ठा बतलाई। आज भी ज्योतीन्द्र देवे एव धनसुखलाल-जैसे हास्यरस के मौलिक लेखकों के हाथ से यह साहित्य विकास पा रहा है।

आश्चर्य का विषय है कि नट तो गुजरात के ही अग्रस्थान में हैं। गुजराती रगभूमि पर नटों ने नवीन शैली के नाटकों को मूर्त्त किया—यहाँ से ही महाराष्ट्र ने नटशिक्षा प्राप्त की। गुजरात के लेखकों ने नाटक लिखने का आरभ नये युग के आरभ में कर दिया था। दलपतराम एव नर्मदाशकर ने नाटक लिखे थे, नवलराम ने भी नाटक-रचना की थी। परतु रगभूमि के अनुकूल नाटक-रचना तो स्व० रणछोडभाई उदयराम ने की। ब्रह्मनिष्ठ प्रो० मणिलाल नभुभाई द्विवेदी ने भी महत्त्वपूर्ण नाटको की रचना की है। और आज भी मुन्शी कनैयालाल जी देते रहे हैं। मुद्रित नाटको की सख्या इतनी बड़ी अवश्य नहीं है, परंतु गुजराती नाटको के कापी राइट का प्रश्न इतना जटिल बन रहा था कि नाटक कपनियोंवाले अपने लेखकों के नाटक छपवाते ही नहीं थे। सैकड़ों की सख्या में नाटकों की रचना हुई। वे सब रगभूमि पर मूर्त्त भी होते रहे और बहुत-से नये एवं पुराने नाटक आज भी गुजराती रगभूमि पर मूर्त्त होते हैं, वे सब ओपेरा के स्वरूप में ही रक्षित हैं।

परतु इससे जो स्वतत्र नया आविष्कार हुआ, वह तो है–एकांकी नाटकों का। उपन्यास एव नवलिकाओं की तरह यह आविष्कार भी यूरोपीय अनुकरण में हुआ है, किन्तु आज गुजराती साहित्य में महत्त्वपूर्ण रचनाएँ सादर हो चुकी हैं। श्री उमाशकर जोशी-जैसे सिद्धहस्त लेखकों ने अपने सग्रह प्रसिद्ध भी किये हैं। प्रो० पुष्कर चदरवाकर इस दिशा मे आज गण्य काम कर रहे हैं। वैसे छोटे-छोटे नाटक आज अवेतन रंगभूमि पर बालक-बालिकाएँ एवं युवक-युवतियाँ बड़े जोर से दे रहे हैं।

कविता देवी ने तो गुजरात पर शुरू से अमृतवर्षा चालू रखी है। नये युग के आविष्कार के साथ ही नये प्रकार की कविता होने लगी थी। दलपतराम एवं नर्मदाशकर की पुराने नये ढाँचे पर रचनाएँ हुई थीं। धर्म के स्थान पर समाज एव प्रकृति का प्रवेश हुआ। वहाँ तक केवल देशियों में खास करके रचनाएँ होती थीं वृत्तबद्ध एवं जातिबद्ध रचानाएँ स्वल्प ही थीं, नये युग के साथ जोर शोर से वृत्तबद्ध एव जातिबद्ध कविता होने लगी। प्रो० नरसिंहराव दिवेटिया ने तो यूरोपीय कवियो के प्राकृतिक विषयो को पसद किया और छंदोबद्ध कविताएँ बहाई। हाँ, देशी बधों में कितनेक गेय पदों की रचना अवश्य की। उसी समय फारसी कविता की पद्धति भी अपनाई गई और मस्तकवि बाल, मणिलाल नभुभाई द्विवेदी, देरासरी, अमृत नायक, कलापी आदि कवियों ने फारसी ढाँचे पर गजलो का निर्माण किया। बेशक उसकी व्यापकता तो हो सकी नहीं। सस्कृत-पद्धति के कवियों मे मणिशकर भट्ट 'कांत' एवं 'बोढादकर' का स्थान बहुत मानपूर्ण है।

बीसवीं शताब्दी के आरभ में गुजरात एक असामान्य कोटि के कविवर की प्राप्ति कर सका। कवि दलपतराम के वे छोटे पुत्र कवि नानालाल। शुरू में तो उन्होंने चालू ढंग में ही कविता लिखी। बाद में यूरोपीय 'ब्लैंकवर्स' की सुन्दरता को देखकर उन्होने नई अपद्यागद्य शैली का आविष्कार किया। इस शैली का दूसरा नाम 'डोलन शैली' भी है। स्पष्ट रूप से कहना चाहिए कि अपने वृत्तों में एव जातियों में जीवंत भाषा को मूर्त्त करने की शक्ति है ही नहीं, देशी बंधों में अल्प ही है। इस 'डोलन शैली' में यह शक्ति स्पष्ट स्वरूप में प्राप्त होती है। कवि श्री ने नाट्यात्मक काव्यग्रथों की रचना करके 'वाक्यं रसात्मक काव्यम्'— विश्वनाथ की इस काव्यव्याख्या को चरितार्थ कर दिया है। 'कुरुक्षेत्र' एव 'हरिसहिता' जैसे महाग्रथों और जयाजयत–नूरजहाँ जैसे नाट्यस्वरूपात्मक ग्रन्थों की, मैं समझता हूँ— भारतीय साहित्य में अनन्यता ही है।

उनके समकालीन विद्यमान कविश्री अरदेशर फरामजी खबरदार एव प्रो० बलवंतराय ठाकोर 'सेहेनी' भी नये प्रकार के आविष्कारक हैं। विभिन्न छंदों के प्रयोगों से खबरदार जी ने जीवन के विषयों पर बड़े काव्यग्रथ लिखे हैं, तो प्रो० ठाकोर ने अर्थघन कविता का आविष्कार किया है। यूरोपीय सौनेट-प्रकार की काव्य-रचना प्रवाही पृथ्वी छद में उन्होंने शुरू की और आज नवयुवान कवियों के वे अग्रणी हैं। प्रो० रामनारायण पाठक 'शेष', श्री सुन्दरम्, स्नेहरश्मि, उमाशंकर जोशी, श्रीधराणी, बादरायण, मनसुखलाल झवेरी, पूजालाल आदिक विद्यमान कविगण पूर्व-पश्चिम के ज्ञान से भरे हैं, और विषयों के वैविध्य से कविता देवी के चरणों में रसथाल धर रहे हैं।

साहित्य के दूसरे-दूसरे स्वरूपों का विकास भी भारत की इतर भगिनी भाषाओं के साथ-साथ गुजराती में हो रहा है। महात्माजी, महादेव भाई देसाई, काका साहब कालेलकर, किशोरलाल मशरूवाला आदिक विद्वानों ने नये समाज को उदीप्त करने में बडा श्रम किया है और निबध-साहित्य के भडार भर दिये हैं।

विवेचन-क्षेत्र भी नये युग के आरभ से शुरू हो गया था। विशिष्ट प्रयत्न नवलराम पड्या से हुआ। पुरानी पीढी के प्रतिनिधि स्व० आचार्य डा० आनन्दशकर ध्रुव, रमणभाई नीलकठ, केशव ह० ध्रुव, कमलाशकर त्रिवेदी, विद्यमान प्रो० बलवतराय ठाकोर, प्रो० विष्णुप्रसाद त्रिवेदी, प्रो० डोलरराय माकड, प्रो० रामनारायण पाठक, स्व० नवलराम त्रिवेदी, प्रो० विजयराय वैद्य आदि विद्वानों ने काफी लिखा है, विद्यमान सज्जन लिख भी रहे हैं।

सशोधन की दिशा में भी काफी प्रगति हुई है। स्व० डा० भगवानलाल इन्द्रजी, स्व० वल्लभजी हरिदत्त आचार्य और विद्यमान मुनि श्री जिनविजयजी, शास्त्रीजी, दुर्गाशकरजी, प्रो० रसिकलाल परीख, श्री रत्नमणिराज जोटे—ये गुजराती इतिहासविद् हैं। नये विद्वानों की भी सख्या कम नहीं है।

दर्शनशास्त्र में प० सुखलालजी सघवी शास्त्री, जैन शास्त्रों में मुनि श्री पुण्यविजयजी एवं भाषाशास्त्रीय सशोधनों मे प० वेचरदास दोशी, प्रो० मधुसूदन चि० मोदी, प्रो० कशवराम का० शास्त्री, प्रो० डा० भोगीलाल ज० साडेसरा, प्रो० डॉ० मजुलाल र० मजमूदार, प्रो० कातिलाल व्यास, प्रो० हरिवल्लभ मायाणी—आदिक विद्वानों ने गण्य कार्य किया है और सतत कर हैं।

स्वराज्यप्राप्ति के साथ-साथ ही राष्ट्रभाषा की कूच शुरू हुई है। राष्ट्रभाषा के अध्ययन का कार्य गुजरात में बडा भारी प्रमाण में होता है। प्रतिवर्ष हजारों बालक-बालिकाएँ युवक-युवतियाँ राष्ट्रभाषा की परीक्षा दे रहे हैं।

अतिम साढ़े चार सौ वर्ष से व्रजभाषा का संबध तो गुजरात से है ही। श्रीवल्लभाचार्य जी के द्वितीय पुत्र श्रीविठ्ठलनाथ गुसाइजी और उनके चतुर्थ कुमार श्रीगोकुलनाथजी के गुजरात के वास से हमारे मदिरो में एव भगवन्मडलियों में व्रजभाष नित्य की हो गई है। श्रीगोकुलनाथ जी ने ८४ वैष्णवों की वात व्रजभाषा के गद्य मे लिखी, उसी ढाँचे पर स्वामिनारायण-सप्रदाय के सस्थापक श्रीसहजानन्द स्वामी के वचनामृत गुजराती गद्य मे हुए। गुजरात में नये जमाने का आविष्कार हुआ, वहाँ तक शिक्षा मे व्रजभाषा थी। साहित्य के अभ्यास करनेवाले युवकों का साहित्यप्रदेश-रसालंकार-छदों के विषय में व्रजभाशा के माध्यम से होता था। हमारे कवि दलपतराम की शिक्षा के मूल में भी व्रजभाषा थी।

राष्ट्रभाषा गुजरातियों के लिए नई वस्तु नहीं है। राष्ट्रभाषा के समुद्धार मे महात्माजी का भी हिस्सा कम नहीं है। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष-स्थान पर से महात्माजी, मुन्शी कनैयालालजी एव मुनिश्री जिनविजयजी जैसे विद्वानो ने भी अपनी सेवा चरितार्थ की है। राष्ट्रभाषा अपभ्रश १००० साल ऊपर हमारी ही थी, आज १००० वर्ष के बाद भी वही राष्ट्रभाषा हिंदी ही हमारी है।

—कशवराम-काशीराम शास्त्री

———

मराठी-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

प्रदेश और साहित्य के बदलते केन्द्र—

महाराष्ट्र में मराठी भाषा गत सात सदियों से प्रचलित है। महाराष्ट्र से मतलब भारत के पश्चिम किनारे के दमण गॉव से, दक्षिण की तरफ गोम तक और उत्तर मे नागपुर तक का प्रदेश। महाराष्ट्र के इस त्रिकोणाकृति प्रदेश का क्षेत्रफल १,२३,००० वर्गमील है। इसकी आबादी, १९४१ की सिरगिनती के आधार पर २,२५,८५,७०० है। आज की स्थिति यह है कि यह प्रदेश चार प्रांतों को शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत है। पश्चिम भाग बम्बई राज्य में, दक्षिण सिरा पुर्तुगीज राज्य मे, तो ईशान विभाग मध्य-प्रदेश के आधिपत्य मे और मराठवाडा हैदराबाद-राज्य मे।

गत सात सदियो की अवधि में मराठी साहित्य का केन्द्र-स्थान बदलता रहा है। तेरहवीं सदी के आरम्भ में वह नागपुर के आसपास था। इसी स्थान पर मुकुंदराज का आविर्भाव हुआ और महानुभाव-पथ प्रसृत हुआ। सोलहवीं सदी में एकनाथ के काल मे मराठी का यह केन्द्र प्रतिष्ठान अर्थात् पैठण में दृढमूल हुआ। सतरहवीं सदी में नैर्ऋति की ओर चला गया, और तुकराम रामदास के काल में बम्बई राज्य मे पहुँचा। गत सौ बरसों से मराठी का केन्द्र इसी स्थान पर बना हुआ है। मध्यवर्ती इसी केन्द्र की प्रगति के साथ-साथ नागपुर-जैसे साहित्यिक क्षेत्र भी धीरे-धीरे प्रगति के मार्ग पर हैं।

राजनीति का अनुगमन—

मराठी साहित्य का प्रारम्भ तेरहवीं सदी से माना जाता है। यादवकालीन सुवर्ण युग में मराठी साहित्य का सुस्पष्ट सा आविर्भाव हुआ। उस समय संस्कृत भाषा, जो संस्कृति और धर्म की माध्यम थी, उसीका सर्वत्र प्रचार था। उसका सामना करते हुए मराठी भाषा ने अपना स्वतन्त्र झंडा खड़ा कर लिया, और दृढता के साथ अग्रसर होने लगी। मराठी के आद्य श्रेष्ठ ग्रंथकार श्रीज्ञानदेव ने जनता के लिए जनता की भाषा मे साहित्य निर्मिति की। उनकी जलाई इसी ज्योति को भावी पीढ़ियों ने भी स्वाभिमान के साथ प्रकाशित रखा। ज्ञानदेव के निर्वाण के पश्चात् मुसलमानों के आक्रमणों से यादवो का राज लुप्त हुआ। मुसलमानों ने अगली तीन सदियों तक महाराष्ट्र पर शासन जमाया। तो भी मराठी-साहित्य पर यावनी संस्कृति का प्रभाव बहुत ही कम रहा। उसके बाद शिवाजी और मरहठों के शासनकाल में दो सदियों तक महाराष्ट्रियों ने स्वाधीनता का सुख अनुभव किया। १९वीं सदी के आरम्भ में अँगरेजों ने पेशवाओ से राज्य छीन लिया। उन अँगरेजों का प्रभाव महाराष्ट्र के जीवन और साहित्य पर सन् १९४७ ईसवी में उनके यहाँ से चले जाने तक बना रहा और आज भी वह दिखाई देता है।

मराठी भाषा—

मराठी साहित्य की भाषा भारतीय आर्य-संस्कृति का ही अंकुर है। महाराष्ट्री और अपभ्रंश-भाषाएँ मराठी भाषा के प्राकृत उदगम स्थान हैं। दसवीं सदी में अपभ्रंश भाषा मराठी भाषा में रूपान्तरित हुई। मराठी भाषा के शुरू-शुरू की साहित्य-निर्मिति के प्रयत्न

बारहवीं सदी के अंत मे हुए। फिर भी यह दिखाई देता है कि मराठी की परम्परा उसके भी बहुत पहले प्रचलित थी। दुर्भाग्य से आज वह परम्परा कुछ विलुप्त-सी दिखाई देती है, उसके कुछ भी चिह्न दिखाई नहीं देते।

धार्मिक हेतु और गद्य की त्रुटियाँ—

मराठी साहित्य की ओर ध्यान जाते ही दो बाते दिखाई देती हैं। पहली बात है—उस साहित्य के प्राण धार्मिक और दार्शनिक रूप (इसमें 'पोवाडा' और 'लावणी' दो पद्य-प्रकार ही अपवाद रूप हैं।) और दूसरी बात है, गद्य-निर्मिति की अल्पता। इस काल में मराठी गद्य-निर्मिति बहुत ही कम है। तत्त्वज्ञान की विवेचना करते समय तथा प्रवचन-संकीर्तन करते समय पुरानी मराठी में, जिस ओवी छंद को प्रयुक्त किया है, वह ओवी-छंद प्रायः साफ गद्यरूप ही है। मराठी-साहित्य का इस ढंग का दूसरा छंद अभंग है। भक्तिमार्ग के कवियों ने अपने पंथ के प्रचार तथा विकास के लिए इसी छंद को प्रकारान्तरों से प्रचलित किया। आगे चलकर सतरहवीं सदी के मराठी कवियों ने फिर से संस्कृत छंदों को अपनाया। अठारहवीं सदी में गद्य-साहित्य का आविर्भाव होकर उसका प्रचार बढ़ा। प्रारंभिक अवस्था में मराठी गद्य का रूप उतना विकसित नहीं था। बाद अठारहवीं सदी के अंत में 'बखर' के रूप में वह प्रगल्भ तथा परिष्कृत हुआ। इस 'बखर'-साहित्य-प्रकार में उर्दू तथा फारसी शब्दों और रचनाओं की प्रचुरता तथा प्रभुता दिखाई देती है। लेकिन यह एक महत्त्व की बात है कि तत्कालीन काव्य-निर्मिति पर उर्दू तथा फारसी का प्रभाव तनिक भी नहीं है।

धार्मिक सम्प्रदाय—

विभिन्न धार्मिक पंथों ने अपनी-अपनी ओर से तथा अपने अपने ढंग से मराठी साहित्य को समृद्ध किया है। इन पंथों मे विशेष उल्लेखनीय पंथ निम्नलिखित हैं—एक है पंढरपुर के श्रीविट्ठल की भक्ति करनेवाला *वारकरी संप्रदाय*। दूसरा है, योगमार्ग को प्रधानता देनेवाला *नाथपंथ*। तीसरा है, सुधार-प्रवर्तक *महानुभाव-पंथ*। और इसके बाद, सतरहवीं सदी का *रामदासी पंथ* तथा तदुपरांत प्रवर्तित *दत्त-संप्रदाय*।

मराठी साहित्य का आरंभ—

परंपरा को देखते हुए, मुकुंदराज ही मराठी के आद्य कवि माने जाते हैं। उनके 'विवेकसिंधु' और 'परमामृत' ये दो ग्रंथ तत्त्वज्ञानपरक हैं। मुकुंदराज, कवि की अपेक्षा तत्त्वज्ञ के रूप मे ही अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका साहित्य यद्यपि गौरवास्पद है, तो भी यह सच है कि उनका साहित्य बाद के विपुल तथा विविध साहित्य सृजन से पिछड़ा हुआ-सा लगता है।

महानुभाव—

महानुभाव-पंथियों ने मराठी साहित्य में खूब ही हलचल मचा दी। सतरहवीं सदी के मध्य में, मध्य-प्रदेश में स्थापित श्रीचक्रधर-प्रणीत यह पंथ कृष्णभक्ति-प्रधान है। कृष्णभक्ति कृष्णचरित्र और भगवद्गीता का तत्त्वज्ञान ये ही महानुभाव-पंथियों के प्रमुख आधारस्तंभ हैं। इस पंथ के अन्य साहित्य-सेवकों में 'शिशुपाल-वध' और 'उद्धव-गीता' के लेखक भास्करभट्ट, 'रुक्मिणी-स्वयंवर' के लेखक नरेन्द्र, 'वच्छ-हरण' ग्रंथ के लेखक दामोदरभट्ट, और 'चक्रधरचरित्र' के लेखक महीन्द्रभट्ट की गणना होती है। ये सभी ग्रंथकर्त्ता विद्वान् तो थे ही, बल्कि कवि के नाते भी सर्वश्रेष्ठ माने

जाते थे, फिर भी लगभग सौ वर्ष के भीतर ही जन-साधारण इस पथ की ओर संदेह तथा घृणा के भाव से देखने लगा। परिणामस्वरूप इस पथ के अनुयायियों ने अपने पथ की रक्षा तथा प्रतिष्ठा के लिए, कुछ आक्रामकों के अत्याचारों मे डरकर भिन्न-भिन्न सांकेतिक लिपियों में अपना साहित्य लिखना शुरू किया। इन सांकेतिक लिपियों के कारण महानुभावी साहित्य, सर्वसाधारण के लिए अभी-अभी तक छुपा खजाना ही था। श्रीविश्वनाथ-काशिनाथ राजवाडे नामक इतिहास के क्रांतदर्शी पंडित ने, उस छुपे हुए साहित्य के रहस्यमय सूत्रों को खोलकर जनता पर प्रकट किया है। फिर भी बहुत सा साहित्य अब भी अप्रकाशित ही है। यह तो निश्चय है कि इस साहित्य के संबंध में पूर्ण संशोधन तथा प्रकाशन के बिना मराठी साहित्य का इतिहास अधूरा ही रहेगा।

ज्ञानदेव--

मराठी साहित्य में ज्ञानदेव के रूप मे एक अपूर्व शक्ति आविर्भूत हुई। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि कवि, तत्त्वज्ञ, और धार्मिक आंदोलन का पुरस्कर्ता के नाते ज्ञानदेव का प्रतिभाविलास असामान्य था। भगवद्‌गीता का टीका-रूप 'ज्ञानेश्वरी', श्रीज्ञानदेव का प्रधान ग्रन्थ है। इस ग्रंथ में काव्य और दर्शन दोनों दूध-शक्कर के समान घुलमिल गये हैं। नौ हजार ओवियों के इस अपूर्व ग्रन्थ में उपमा, रूपक और दृष्टांत आदि अलंकारों की रेलपेल है। ज्ञानेश्वरी जैसे मधुर तथा सरल शब्दों में लिखा हुआ एक भी ग्रंथ आज तक मराठी में उपलब्ध नहीं है। श्रीज्ञानदेव का दूसरा ग्रंथ 'अमृतानुभव' है। काव्य की अपेक्षा तत्त्वज्ञान की दृष्टि से इस ग्रंथ का महत्त्व अधिक है। और इसी कारण शायद वह ज्ञानेश्वरी की तरह जितना लोकप्रिय नहीं हो पाया। अन्य भी अनेक ग्रंथ ज्ञानदेव के नाम से प्रकाशित हैं, लेकिन उनकी प्रामाणिकता के संबंध मे विद्वानों में मतभेद है।

धर्मसुधारक ज्ञानेश्वर--

ज्ञानदेव धर्मसंशोधक थे। स्वयं निर्दोष होते हुए भी ब्राह्मण-जाति से वे बहिष्कृत किये गये थे। बचपन से ही उनकी प्रवृत्तियाँ धर्म तथा तत्त्वज्ञान के अध्ययन की ओर थीं। उन्होंने अपनी इक्कीस वर्ष की उम्र मे समाधि ले ली। इतनी छोटी उम्र में उन्होंने महाराष्ट्र के जीवन तथा साहित्य में अभूतपूर्व क्रांति मचा दी। जाति पाँति तथा धर्म-पथ के निर्बंधों को बहुत-कुछ शिथिल कर दिया और भक्तिमार्ग के लिए तत्त्वज्ञान की मजबूत नींव डाली। इसलिए ज्ञानेश्वरी टीका को मराठी भाषा में बडे प्रेम तथा आदरभाव से 'माउली' अभिधान से संबोधित किया जाता है। मराठी भाषा में ज्ञानेश्वरी ग्रन्थ के जैसा दीर्घकालीन प्रभाव अन्य किसी भी ग्रन्थ का प्रतीत नहीं हुआ। ज्ञानेश्वरी के धर्म और तत्त्वज्ञानपरक अंश को छोड दिया जाय, तो भी, कल्पना-विलास, लेखन-शैली, मधुरता, सौम्यता, काव्यगुण भावनात्मकता आदि अनेक गुणों से आज भी ज्ञानेश्वरी ग्रंथ अनुपम तथा अपूर्व समझा जायगा। ज्ञानदेव ने कुछ अभंग भी रचे हैं।

नामदेव—

उम्र से बडे होते हुए भी श्रीनामदेव, ज्ञानदेव-जैसे विद्वान् नहीं थे। फिर भी उनकी विट्ठलभक्ति अपार थी। सीधी-सादी श्रद्धा तथा विट्ठलभक्ति की ओर लगन नामदेव के

विशेष गुण थे। उन्होंने सैंकडों अभगों की निर्मिति की। उन अभगों में ज्ञानदेव की जैसी बौद्धिक उच्चता नहीं थी। फिर भी भावनाओं की गहराई नामदेवजी के अभंगों में अधिक पाई जाती है। नामदेवजी दीर्घकाल तक वारकरी-सप्रदाय के लिए एक आकर्षण थे और आज भी हैं। उनके अभग आज भी नित्य के पूजापाठ में गाये जाते हैं। ज्ञानदेवजी के पश्चात् नामदेवजी पचास वर्ष तक जीवित रहे और भक्तिमार्ग की पताका जहाँ-तहाँ फहराने में सफल रहे। नामदेव ने उत्तर भारत में खूब यात्राएँ कीं। खासकर पजाव मे उनका काफी प्रभाव रहा। सिक्खों ने अपने धर्म-ग्रथों में नामदेव के अभग अनूदित करके आज भी प्रचार में रखे हैं।

समकालीन कवि--

श्रीज्ञानदेव तथा नामदेवजी के उज्ज्वल भक्ति-प्रचार से उनके परिवार-परिसर के लोग भक्ति भाव से उत्तजित हो उठे। जनावाई नामदेवजी के यहाँ एक दासी थीं। उन्होंने अपने प्रभु के समान वहुत ही उत्कृष्ट तथा सुन्दर अभगों की रचना की। इसी परिवार में और भी अनेक सज्जन थे। गोरोवा तो जाति के कुम्हार थे। नामदेव के गुरु विसोवा खेचर वनिया थे। सावता माली थे। जोगा परमानन्द तेली थे। ज्ञानदेव की वहन मुक्तावाई के 'ताटी के अभग' वहुत ही प्रसिद्ध और हृदयस्पर्शी हैं।

तमोयुग—

इसके अनन्तर के काल मे मुसलमानों के हमलों के कारण महाराष्ट्रियों के जीवन में वड़ी भारी उथल-पुथल मच गई। अव मुसलमान राजा वनकर रहे फिर भी राजा और प्रजा का मनमुटाव तो नहीं मिटा। महाराष्ट्र में धार्मिक आदोलन से साहित्यिक आदोलन कभी पृथक् थे ही नहीं और अव तो धर्म को ही लेकर मुसलमानों के साथ मराठों का मुकावला रहा। जिससे वाङ्मय की गतिविधि में कुछ रुकावट सी पड़ी। उन्हीं दिनों लगातार वरसों तक दुर्गादेवी का अकाल पड़ा। अकाल से देशभर उजड़ गया। इसी काल मे महानुभाव-पथ के लेखकों की कुछ साहित्य-निर्मिति हुई सही, फिर भी उनकी सख्या इनी-गिनी ही रही।

एकनाथ—

दो शताब्दियाँ गुजर गई। मुसलमानों के आतक से विठोवा की मूर्त्ति एकनाथजी के दादा भानुदासजी पढरपुर से विजयनगर ले गये थे। वही मूर्त्ति वापस लाई गई और समारोह के साथ पंढरपुर में उसकी प्रतिस्थापना की गई।

एकनाथजी को उस काल के अनुरूप सुयोग्य शिक्षा प्राप्त हुई। इसीसे हिंदू-धर्म की ध्वजा फिर एक वार फहराने के सकल्प से भागवत रामायण आदि ग्रथो के आधार पर अथक परिश्रम करके उन्होंने ग्रथ-रचना की।

एकनाथजी के लिखे हुए 'एकनाथी भागवत' और 'भावार्थ रामायण' वहुत प्रसिद्ध हैं। इस प्रत्येक ग्रथ की ओवियों की सख्या वीस हजार है। 'रुक्मिणी-स्वयवर' उनका सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रंथ है। उतनी ही उनकी 'भारुड रचना मशहूर हो चुकी है। पिछली

शताब्दियों के भीतर 'ज्ञानेश्वरी' ग्रंथों में कुछ अपभ्रष्टता घुसने लगी थी। एकनाथजी ने उस ग्रंथ का परिशीलन करके एक नये पाठ का संशोधन किया। एकनाथजी के द्वारा किया हुआ पाठ-संशोधन अपना एक अलग महत्त्व रखता है।

एकनाथजी की महत्ता उनके 'सुधारवाद' में व्यक्त होती है। तत्त्व के साथ चरित्र का सामंजस्य रखने का उनका आदर्श प्रयत्न है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि उनके जीवन का सबसे महान् कार्य रहा, आध्यात्मिक जीवन का लौकिक जीवन के साथ मेल बिठाना।

एकनाथजी की मृत्यु सोलहवीं शताब्दी के अन्त में हुई।

दासोपन्त —

मराठी में अनेक लेख लिखने में दासोपंतजी की सानी मराठी का दूसरा कोई लेखक नहीं रखता है। मुसलमान राज्य की अपनी नौकरी को ठुकराकर उन्होंने आजीवन मराठी की ही सेवा की। उनकी कुल ग्रंथ-संख्या पचास से भी अधिक है। उनके लिखे हुए 'गीतार्णव' ग्रंथ की ही ओवियों की संख्या एक लाख से बढ़कर है। यह ग्रंथ दूसरा 'विश्वकोश' है। उसका बहुत ही थोड़ा भाग प्रकाशित हुआ है। दासोपन्तजी के साथ-साथ अन्य कई सामान्य श्रेणी के लेखकों ने भी ग्रंथ-रचना की है। उन्हीं के लेखन से आगामी क्रांति के बीज बोये गये और भूमि सिद्ध हुई।

मुक्तेश्वर—

एकनाथजी के पोते मुक्तेश्वरजी का कार्य भी उल्लेखनीय और सराहनीय है। महाभारत का मराठी में उलथा करने का महान् प्रत्यन उन्होंने किया है। वह भी अपूर्व आकर्षक शैली में। उनसे महाभारत के पहले पाँच ही पर्वों का अनुवाद हुआ है, तोभी उसकी शैली देखते हुए यही कहते बनता है कि ज्ञानेश्वरजी के पश्चात् यही एकमात्र इतनी सुन्दर शैली अपनानेवाले कवि मिलते हैं। भाषा पर उनकी प्रभुता थी। उनके खींचे हुए शब्दचित्र अतीव सजीव हैं। कविता के लिए कविता की रचना करनेवाले मराठी में ये ही पहले कवि हैं। उनकी जन्मतिथि तथा मृत्युतिथि का भी निश्चय नहीं हुआ है।

वामन पंडित—

मुक्तेश्वरजी के बाद तुकाराम, रामदास और वामन पंडित की गणना उच्च कोटि के कवियों में की जाती है। वामन पंडित बहुत विद्वान् थे। ज्ञानेश्वरी के उपालंभ के तौर पर उन्होंने 'यथार्थदीपिका' लिखी। यथार्थदीपिका भगवद्गीता का ही टीका-ग्रंथ है। काव्य की दृष्टि से ज्ञानेश्वरी और यथार्थदीपिका की तुलना हो ही नहीं सकती। ज्ञानेश्वरी का स्थान उच्चतर है ही। इतना होते हुए भी वामन पंडितजी की कीर्ति उनके रचे आख्यानक-काव्य के कारण ही विशेष है। इस तरह की रचना में अधिकतर भारत-भागवत के ही आख्यान मिलते हैं। इन्हीं रचनाओं में उनकी काव्य-प्रतिभा की श्रेष्ठता का परिचय मिलता है। छंद-वृत्तों पर उनकी विशेष प्रभुता थी। उन्होंने विविध वृत्तों का प्रचलन करके मराठी के छंदों की कमी को हटाकर मराठी को छंद-विविधता से सजाया।

रामदास—

रामदासजी व्यवहारकुशल-दक्ष थे। वे ब्रह्मचर्यव्रती थे। बचपन के बारह वर्ष तपस्या में और उसके बाद के बारह वष उन्होंने पर्यटन म खर्च किये। किसी कारण से उनके तत्त्वज्ञान में अपनी एक विशेषता पाई जाती है। उसमें व्यावहारिकता और सीधापन है। उनको हम 'राजनीतिकुशल' सत कह सकते हैं। उनकी रचना 'दासबोध' में उन्होंने अपने संपूर्ण तत्त्वज्ञान की निधि रख दी है। उस ग्र थ में अनुभूतियों के भण्डार के साथ-साथ आध्यात्मिक और अलौकिक विषयों पर पर्याप्त विवेचन पाया जाता है। रामदासजी प्रकाण्ड पडित थे। उन्होंने अनेक विषयों पर ग्रन्थ लिखे हैं। कोई विषय अछूता नहीं रहा है। शैली की अपेक्षा उनकी दृष्टि में विषय प्रतिपादन अधिक महत्त्व रखता था। इसीसे वे भाषा के बारे मे विशेष सतर्क नहीं दिखाई देते। उन्होंने भाषा का स्वच्छंद प्रयोग किया है।

तुकाराम—

तुकारामजी रामदासजी से कई बातों में भिन्नता रखते हैं। वे भक्तिमार्गी कवि थे। वे अपनेको नामदेवजी का शिष्य बतलाते थे। आध्यात्मिक जीवन पर उन्होंने लौकिक जीवन को न्योछावर करते हुए उनकी बलि चढाई। वे ससारी थे। वे बहुत पढ़े-लिखे भी न थे। वे पहले सन्त थे, बाद मे कवि। उन्होंने लगभग ५००० अभग रचे। शैली में कहीं-कहीं कोमलकान्त-कमनीयता का अभाव खटकता है। इस बात के रहते हुए भी उनकी रचना काव्यगुणों से परिपुष्ट समृद्ध है। उनकी शैली की विशेषता सादगी और सरलता में है। प्रसादगुण से युक्त होने के कारण ही जनता उनके अभगों की ओर अद्‌भुत रूप से आकृष्ट हुई। गत तीन सौ बरस 'वारकरी' पथानुयायी भजन के लिए उनके अभगों का मनोनुकूल प्रयोग करते आये हैं। उनके अभंगों में प्रभावोत्पादकता अपूर्व है। उसीमें उनकी कीर्ति-सफलता का रहस्य-बीज भरा है।

पडित कवि—

पडित कवियों की परपरा अब दृढता पाकर बढन लगी। उनका उद्देश्य रहा—'सस्कृत की शैली पर काव्य की रचना करना'। इस उद्देश्य को लेकर चलनेवालों में विठ्ठलजी और नागेशजी प्रसिद्ध हैं। इस समय मराठी केन्द्र दक्षिणतम सिराजो तजावर की ओर भी गया। उस समय में आनदतनय, रघुनाथ पडित, निरजनमाधव, सामराज आदि प्रसिद्ध कवि हो चुके।

जैसे रघुनाथ पडितजी की 'दमयती-स्वयवर' वैसे श्रीधरजी की 'भारत' और 'भक्तिविजय' रचनाएँ बडी प्रसिद्ध हैं। विशेष कर कृष्णदयार्णव और श्रीधरजी के काव्य में पर्याप्त मिठास और मनोहारिता मिलती है। दोनों ने 'ओवियों' में ही रचना की है।

मोरोपंत—

अठारहवीं सदी मोरोपत के काव्य से गु जरित है। मोरोपत पडित कवियों के काव्य के मुकुट-मणि थे। दूसरा कोई भी कवि मोरोपत के जितना सस्कृत तथा छद-रचना में कुशल नहीं था। मोरोपत स्वय सत नहीं थे। फिर भी उनमें भक्तिरस की अधिकता थी।

किंतु संस्कृत पर प्रभुत्व होने से उनके काव्य को मराठी की अपेक्षा संस्कृत कहना ही अधिक उचित होगा। 'मंत्र-भागवत', 'आर्या भारत' और रामायण के विविध ग्रंथ मोरोपतजी के ग्रन्थ हैं। उनकी अन्य बहुत-सी छोटी-मोटी आख्यानक-रचनाएँ मिलती हैं। कथानक को अच्छे ढंग से रखना ही उनकी विशेषता थी। 'केकावली' नामक उनका ग्रन्थ भावना-प्रधान है और उसकी श्रेष्ठता अपूर्व है। 'आर्या-वृत' रचना-प्रकार पर उनका प्रभुत्व इतना था कि वे 'आर्यापति' नाम से सम्मानित होने लगे। मराठी में उस रचना-प्रकार को मोरोपत ने प्रचुर मात्रा में लोकप्रिय बनाया। बहुत-से कवियो ने मोरोपत का अनुकरण किया, मगर उनमें से एक भी कवि मोरोपत जितनी प्रतिष्ठा नहीं पा सका। मोरोपत के साथ-साथ ही 'स्तोत्र' लिखनेवाले मध्वमुनीश्वर, 'कटाव' लिखनेवाले अमृतराय, सतचरित्र निर्माता महीपति आदि कविश्रेष्ठों का उल्लेख करना आवश्यक है। महीपति-रचित अनेक सतचरित्र मराठी में आज लोकप्रियता पा चुके हैं।

पोवाडा और लावनी—

स्वराज्य-प्राप्ति के काल में एक नया साहित्य-प्रकार मराठी मे प्रचारित हुआ। वह प्रकार है –'पोवाडा'। सामान्यत 'पोवाडा' शूर-वीरों के महान् कार्य तथा उदात्त जीवन चरित्र अथवा एक रोमहर्षक प्रसग-जैसे विषयो को लेकर बनता है। 'पोवाडा' का काव्यतत्र शिथिल और गद्य के समान होता है। उसकी भाषा आलकारिक नहीं होती है। वह सर्वसाधारण जनता की बोल-चाल की होती है। 'पोवाडा' मे व्याकरण के नियमो पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है। कुछ-कुछ ऐसे भी पोवाडे हैं कि जो काव्य और वीररस से प्लावित हैं। पोवाडा-युग आज नहीं रहा है।

लावनी—यह एक खास मराठी साहित्य का प्रकार है। 'शृगारिक प्रेम' 'लावनी' का प्रधान विषय होता है। राधाकृष्ण के प्रेम-गीतो के साथ तुलना करने पर यह दिखाई देता है कि 'राधाकृष्ण' के प्रेम-गीतो मे जो दिव्यता होती है, वह 'लावनी' में नहीं दिखाई देती है, बल्कि उसमे केवल मानवी प्रेम की प्रधानता दीखती है। धर्म-बधनो को न मानते हुए उत्तान प्रेम-गीतो का निर्माण लावनीकारो ने किया है। विद्वत्ता तथा उच्च साहित्य के तत्र की ओर ध्यान न देते हुए इन कवियो ने स्वयं अपनी अगभूत प्रतिभा के बल पर 'लावनी' की रचना की। सच्चे अर्थ से लावनी एक भावगीत ही है। इसलिए बुद्धिविलास की अपेक्षा भावनाओं का विलास लावनी में अधिक पाया जाता है। बहुत-सी लावनियाँ उत्तान शृङ्गाररस तथा अश्लीलता से युक्त होती हैं। पेशवाओं के जमाने में लावनी प्रकार अपने उत्कर्ष-बिन्दु पर था। राम जोशी, होनाजी बाल, प्रभाकर आदि लावनीकार इस क्षेत्र के प्रसिद्ध कवि हैं।

आधुनिक कालखड—

इसके बाद आधुनिक साहित्य का युग आता है। इसका तीन खडों मे विभाजन हो सकता है। पहला खड, निबधमाला के पूर्व १८०८ से १८८० ईसवी तक का है। इस कालावधि में संस्कृत तथा अँगरेजी ग्रन्थो के बहुत से अनुवाद हुए। इसीलिए इस काल

को, अनुवाद काल भी कहते हैं। गद्य की निर्मिति इस काल में काफी हुई। निबंध-साहित्य-प्रकार इसी समय दृढमूल हुआ और वह सफलता के साथ उपयुक्त सिद्ध हुआ। लोकहितवादी, फुले, विष्णुबुवा इस काल के श्रेष्ठ लेखक हैं। कोश-निर्मिति, पाठशालाओं के लिए पाठ्य-पुस्तकें लिखना और सामाजिक सुधार का आन्दोलन साहित्य द्वारा करना ये ही प्रधान बातें इस कालखड में हुईं। तात्या गोडबोले, कृष्णशास्त्री, राजवाड़े आदि ग्रन्थकारों ने संस्कृत-नाटक के अनुवाद करने का नया उपक्रम शुरू किया। दूसरे लेखकों ने अँगरेजी-नाटक के अनुवाद तथा अँगरेजी-कथाओं के आधार पर मराठी में नाटक लिखने का कार्य किया। जो कुछ उपन्यास लिखे गये, वे बाणभट्ट की 'कादम्बरी' के ही ढर्रे पर लिखे गये। इसी काल में बहुत से समाज-सुधारकों का निर्माण हुआ और रूढ धर्म तथा तत्कालीन समाज-व्यवस्था के विरुद्ध आंदोलन मचा। लोकहितवादी और म० फुले ये प्रधान सुधारक थे। उनका साहित्य आज भी स्फूर्तिदायक (चेतनाशील) लगता है। बम्बई-विद्यापीठ के कायम होने से विद्या और साहित्य-विषय के आन्दोलनों को अधिक पानी दिया गया। इस काल में न्यायमूर्ति सर्वश्री महादेव गोविन्द रानडे, डॉ० भाडारकर एव कुटेजी बडे ही प्रसिद्ध रहे। रानडे जी की कीर्ति महाराष्ट्र के अनेक आन्दोलनों के जनक के नाते है। श्री भांडारकरजी का प्रकाड पांडित्य तो विश्वविश्रुत है ही।

अब जीवन की ओर देखने का नया दृष्टिकोण और तत्त्वज्ञान साहित्य में शब्दों का रूप धारण कर प्रकट होने लगा।

निबंध माला-काल—

निबंध-माला काल मराठी-साहित्य में तथा महाराष्ट्र के जीवन में भी बहुत ही प्रसिद्ध है। श्रीविष्णुशास्त्री चिपलूणकर जी ने सात बरसों तक निबंधों की माला जारी रखी। श्रीविष्णु-शास्त्री जी आधुनिक मराठी गद्य के जनक कहलाते हैं। एडिसन और मेकॉले की निबंध-लेखन शैली की छटा उनके वाङ्मय में विपुल मात्रा में पायी जाती है। साहित्य का 'निबंध'-अंग इन्हीं की लेखनी से परिपुष्ट और प्रभावपूर्ण हुआ। उनके निबंध ऐंठ-अकड, व्यंग्य, धारावाहित्व, युक्ति-तर्क-संगति आदि गुणों से सजे-सजाये गये हैं। वे स्वतंत्र विचारक थे। इस विषय की क्षमता, प्रभुता उनके निबंध-लेखन में अच्छी तरह से व्यक्त होती है। इससे मराठी के साहित्य-प्रांगण में विचारों की स्वच्छंदता की लहरें इतस्तत. उठने लगीं। स्वत्व का, स्वाभिमान का उदय हुआ। यही चैतन्य और जोश श्री तिलक जी तथा श्रीआगरकर जी की रचनाओं में भी मिलता है। यह बात और है कि उनका कार्यक्षेत्र ही भिन्न था। 'समाज-सुधारकों के प्रणेता' के नाते श्रीआगरकरजी का नाम अमर रहेगा। उनका साहित्य निर्भयता, लगन और तर्क-संगतता आदि गुणों से सजा हुआ है। इधर श्रीतिलक जी के साहित्य की धारा राजनीतिक विषयों की ओर मुडी हुई है। उन्होंने 'गीता-रहस्य' ग्रंथ लिखा। हिंदुस्थान में ही नहीं, सारे संसार की वाङ्मय-निधि में वह एक अनमोल ग्रंथ-रत्न है।

उसके अनन्तरकाल में—सन् १८६० से १९१० ईसवी में श्रीनरसिंह चिंतामणि केलकर, शिवरामपंत परांजपे आदि बहुत ही श्रेष्ठ निबंधकारों ने मराठी वाङ्मय की श्रीवृद्धि की, उसे सुसम्पन्न बनाया।

नया नाट्य-साहित्य—

सन् १८७४ से १९२० ई० तक का काल साहित्य-प्रकारों की विविधता की दृष्टि से क्रांतिकारी रहा। नाट्य-साहित्य में इस काल में मानों बाढ़-सी आ गयी। संस्कृत-नाट्य साहित्य का आकर्षक तंत्र और उसका अभिजात संगीत इन दो बातों के बल नाट्य साहित्य खूब ही खेला गया, लोकप्रिय बना। किर्लोस्कर का 'सौभद्र', 'शाकुन्तल', देवल का 'मृच्छकटिक', 'शापसंभ्रम' और शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद, उसी तरह अन्य लेखकों के ऐतिहासिक और रम्याद्भुत, रोमांचकारी नाटक, पौराणिक नाटक राजनीति के पुटवाले 'कीचक-वध'-जैसे नाटक, कोल्हटकर, गडकरी के कल्पनारम्य नाटक, कुल नाट्य साहित्य-संपदा मराठी-साहित्य के लिए अभिमान तथा भूषणास्पद हैं।

खाडिलकर, गडकरी, किर्लोस्कर के नाटक आज भी रंगभूमि के चमचमाते रत्न हैं।

नया उपन्यास—

उपन्यास-साहित्य-प्रकार का भी काफी कायापलट हुआ। हरिनारायण आप्टे ने उपन्यास को यथार्थवादी, कलात्मक रूप देकर उसको जीवनोपयोगी सुन्दर बना दिया। स्कॉट और डिकन्स की पद्धति का प्रणयन करके आपने कतिपय बडे-बडे उपन्यास रचे। समाज-सुधार उनके उपन्यास-लेखन की मूल प्रेरणा है। मानव-स्वभाव का गहरा अध्ययन और ध्येय-वादिता की जलती ज्योति ने उनके उपन्यासों को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त करा दिया है। समाज के मध्यम श्रेणी के लोगों की परिस्थिति का तथा उनके गुण-दोषों का यथार्थ चित्रांकन हरिभाऊ आप्टे के उपन्यास में हम पाते हैं। आप्टेजी के पश्चात् वामनराव जोशी जी के उपन्यासों में उद्बोध चर्चा, तत्त्वज्ञान और नवोदित भारतीय महिला के बुद्धिवादी जीवन के चित्रण से समाज काफी आकृष्ट तथा प्रभावान्वित हुआ। और, इस ढंग के उपन्यासों-का उस समय प्रचुर मात्रा में प्रचलन हुआ। नाट्य साहित्य जितना न सही, पर उपन्यास साहित्य-प्रकार का काफी बोलवाला उस समय बडे पैमाने पर हुआ।

काव्य का नवयुग—

काव्य में भी इस काल में ऐसा ही मूलगामी परिवर्तन हुआ। काव्य-प्रकार ने पाश्चात्य ढंग अपनाना शुरू किया। आत्मलक्षी काव्य, भावकाव्य, नये छंद, समाज-सुधार की लगन, ध्येयवाद की लहर आदि अनेकानेक नवकल्पनाओं और आकार-प्रकारों ने काव्य-क्षेत्र को सुशोभित तथा कांत-कमनीय बना दिया। आप्टेजी ने उपन्यास-क्षेत्र में जो महान् कार्य कर दिखाया, वही केशवसुत ने काव्य-क्षेत्र में किया। समाज जागृति दोनों का प्रधान लेखन-हेतु था। गड़करी, बालकवि, टिलक, गोहे आदि कवियों ने इस परंपरा का आकर्षण बहुत ही बढाया। उसपर मराठी-साहित्य को गर्व है।

प्रथम युद्धोत्तरकाल-खण्ड—

इस काल में साहित्य के और भी कुछ दालान खुले। लेखन-शैली में विविधता आने

लगी। गद्य-पद्य-लेखन में अनेकानेक लेखक जुट गये। उनकी महत्त्वाकांक्षा को दूर-दूर के क्षितिज दिखाई देने लगे।

काव्य—

रविकिरण-मण्डल की काव्य-सेवा इस युग का विशेष आंदोलन रहा। नाट्य गीत, भावकाव्य, खंडकाव्य, शिशु-गीत, छायावादी काव्य आदि तरह तरह के पुष्प काव्य-वल्लरी में लगे। ग्रामीण गीत भी स्फुरित होने लगे। यशवंत, गिरीश, माधव ज्यूलियन, तांबे, देशपांडे कवि उपर्युक्त सभी काव्य-प्रकारों को प्रयोग में लाने लगे और महाराष्ट्र-काव्य-साहित्य की श्रीवृद्धि करने लगे। खास करके भाव-काव्य और गजल-काव्य-प्रकार तो पराकाष्ठा के सुपरिणाम को पहुँचे।

नाट्य-साहित्य—

वरेरकर, अत्रे, रांगणेकर आदि नाटककारों ने अथक प्रयत्न किये, फिर भी नाट्य-साहित्य को उसके पहले के मानदण्ड तक वे न पहुँचा सके। उस पर बोलपटों ने नाटकों की लोकप्रियता में बाधा डाली। यह हमें नहीं भूलना चाहिए कि शेक्सपियर के तंत्र को पीछे ढकेलकर नाट्य-साहित्य में इब्सन का आधुनिक तंत्र प्रचलित हुआ है। उसी तरह सामाजिक चर्चा भी उसमें आ गयी है।

युद्धोत्तर कादम्बरी—

उपन्यास के आकर्षण में कोई न्यूनता नहीं आई। कई उदीयमान लेखक प्रकाश में आने लगे। प्रो० नारायण सीताराम फड़केजी ने अपनी हृदयंगम लेखन-शैली से उपन्यास की मनोहारिता को विशेष रंग-ढंग प्रदान किया। समाज की विशिष्ट श्रेणी का चित्रांकन उनसे क्यों न हुआ हो, उनके उपन्यासों के कथानकों की गुंफन-कुशलता, तंत्र-निर्दोषता, लेखन-शैली की मधुरिमा आदि गुणों के कारण उनके उपन्यासों में ध्येयवाद न होनेपर भी वे अतिलोकप्रिय बने। खाँडेकरजी का ध्येयवाद, मालखोलकरजी की उन्मादक लेखन शैली, केतकरजी का पांडित्य आदि विविध गुणों से मराठी-उपन्यास अलकृत होने लगा।

लघुकथा और आलोचना-साहित्य—

लघुकथा आज सबसे लोकप्रिय साहित्य-प्रकार है। फड़के, खाँड़ेकर, वोकील, जोशी प्रभृति कुछ साल पहले के प्रथितयश तथा लोकप्रिय लेखक रहे हैं। इसी काल में आलोचना-साहित्य की आलोचना पौरस्त्य और पाश्चात्य ढंग से काफी होने लगी। संगीत-शास्त्र-विषयक समालोचना का प्रकार भी प्रचलित होने लगा और मराठी-साहित्य में एक नया दालान खुला।

आजकल-ललित-साहित्य को वास्तववाद के ही नहीं, अति-वास्तववाद के पदचाप भी सुनाई देने लगे हैं। अब बात सही है कि उसका भी विरोध होने लगा है। संक्षेप में, मराठी-साहित्य का अब ईश्वर-भक्ति ही नारा नहीं रहा, समाज-सेवा-सुधार लक्ष्य बन गया है। मराठी-साहित्य अन्य किसी भी भारतीय साहित्य से पीछे नहीं है, न रहेगा। मराठी-भाषा-भाषियों को उसका पूरा विश्वास है।

—प्रो० अरविन्द मंगरुलकर

उत्कल-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

आधुनिक उत्कल (उड़ीसा) अति प्राचीनकाल से कलिंग का बहुलांश और उत्कल का स्वल्पांश लेकर गठित हुआ है।

पुराणों में उत्कल के जन्म के विषय में दो उक्तियाँ हैं। वैवस्वत मनु की संतान इला-सुद्युम्न के पुत्र उत्कल थे, पुनश्च स्वायम्भुव मनु के पौत्र और उत्तानपाद के पुत्र, ध्रुव के औरस से वायुकन्या इला के गर्भ से उत्कल उत्पन्न हुए थे।

दानव असुरराज वलि की पत्नी सुदेष्णा के गर्भ से और वैदिक ऋषि दीर्घतमा के औरस से अंग, वंग, कलिंग, सुह्म और पुण्ड्र पाँच क्षेत्रज संतान जन्मे।

कलिंग की प्रशस्ति के विषय में बहुविषय महाभारत, पुराण, बौद्ध तथा जैन-ग्रन्थों में लिखा हुआ है।

प्राचीन उत्कल गया तथा मेकल के पूर्वभाग से आरम्भ होकर मुँगेर, भागलपुर, नवभूमि, सिंहभूमि, वीरभूमि, मानभूमि आदि को लेकर कलिंग के उत्तर-पश्चिमाचल तक विस्तृत था।

पुराणों में कथित है कि गयासुर सत्ययुग के व्यक्ति थे। उनका शरीर वडा पवित्र था। उनके शरीर पर ब्रह्माजी ने यज्ञ किया था। उनका सिर गया, नाभि याजपुर और पाँव पीठापुर हैं। इस शरीर के अवस्थान से ज्ञात होता है कि गया के शरीर का प्रायः वारह आना कलिंग-उत्कल था। यह भूखंड अतिपवित्र है। फिर कैसे स्मृतिकार ने कहा—अंग वग कलिंगेषु सौराष्ट्र-मगधेषु च। तीर्थयात्रां विना गत्वा पुन. सस्कारमर्हति।'

इससे ज्ञात होता है कि इन राज्यों में जैन और बौद्ध धर्म प्रवल भाव से प्रवर्त्तित हुए थे और इन राज्यों के लोग नौ-यात्रा से समुद्र पार होकर द्वीपान्तर-यात्रा करते थे। इसलिए, ये लोग आचार-भ्रष्ट थे। आर्य-प्रतिष्ठित तीर्थयात्रा के सिवा अन्यत्र जाने से और इन लोगों के साथ निवास करने से लोगों का आचार भ्रष्ट होता था और इन्हें प्रायश्चित्त करना पड़ता था।

महाभारत के वनपर्व में लिखित है कि वैतरणी तीरस्थ याजपुर में धर्म देवगण के अधीन होकर यज्ञ करते थे और शिवजी को इस स्थान से यज्ञ का भाग मिला था। इससे ज्ञात होता है कि इस कलिंग उत्कल-खड में प्रथमतः प्रवृत्ति-मार्ग-जनित याग यज्ञ बहुत सपादित होते थे।

त्रेतायुग में परशुराम रामचन्द्रजी द्वारा हीन-शक्ति होकर महेन्द्राचल में अवस्थान कर निवृत्ति मार्ग का आश्रय लेते हुए निष्कामभाव से ब्रह्म-चिन्तन में व्याप्त रहे। कलिंग-उत्कल-खड महेन्द्रकुलाचल के अधीन है। परशुराम की प्रधानता से इस भूखड में निवृत्ति-मार्ग का प्रचार और प्रसार हुआ।

प्रायः ईसवी सन् पूर्व अष्टम शताब्दी में परेशनाथ कलिंग आये और जैनधर्म का प्रभाव देश पर पड़ा। ईसवी सन् पूर्व षष्ठ शताब्दी में महावीर वर्धमान ने कलिंग में स्वप्रवर्त्तित जैनधर्म का प्रचार किया था और ऋषभदेव की प्रकाड मूर्त्ति कलिंग-नगरी में पूजित हुई थी और कथित है कि बुद्धदेवजी ने भी उत्कल और कलिंग में स्वधर्म-मत का स्थापन किया था। बुद्धदेव के निर्वाण के बाद क्षेमराज महामुनि ने बुद्धदेव का वाम दन्त कलिंगराज ब्रह्मदत्त को अर्पित किया था।

कलिंग विजय के बाद अशोक ने बौद्धधर्म में दीक्षित होकर कलिंग में धउली और जउगड़ पर बौद्ध-विहार निर्माण कर बौद्धधर्म का अनुशीलन और प्रचार के लिए प्रबन्ध किया था। और, अपने पुत्र महेन्द्र एवं कन्या सघमित्रा के हाथों में बोधिद्रुम-शाखा देकर कलिंग के अष्ट बौद्ध परिवार के साथ धर्म-प्रचार के लिए उन्हें सिंहल भेजा था। अशोक के राजत्व के प्रायः ९० वर्ष के बाद जैन कलिंग सम्राट् खारवेल ने मगध और भारत के अधिकांश अन्य अचलों को जीतकर स्वधर्म के प्रचार और प्रसार की व्यवस्था की थी। जैनधर्म के प्रबल प्रचार के फलस्वरूप बौद्धधर्म क्षीणप्राय हो गया था। ई० सन् द्वितीय शताब्दी में नागार्जुन दक्षिणात्य से आकर बौद्धधर्म की पुनः सुप्रतिष्ठा के लिए यत्नशील हुए। उससे बौद्धधर्म का प्रसार हुआ। कथित विषयों से प्रतीत होता है कि कलिंग-खड ब्राह्मण्य, जैन और बौद्ध धर्म का केन्द्रस्थल था।

भाषा—किन्हीं-किन्हीं पण्डितों के मत से पाली कलिंग की भाषा थी। जो भी हो, यह निश्चित है कि पाली एक अप्राकृतिक भाषा है। पाली भाषा की प्रकृति से जाना जाता है कि वह किसी प्रांत की प्रचलित भाषा नहीं थी। यह संभव है कि कलिंग की प्राकृत भाषा को सुसस्कृत कर बौद्धधर्म-प्रचारक पडितो ने पाली भाषा में परिणत किया, जिससे वह (भाषा) भारत में सर्वत्र समझा जाय।

अशोक और खारवेल की शिलालिपियों की भाषाओं में आधुनिक उत्कल-भाषा के कुछ कुछ प्रचलित शब्द दीख पडते हैं और उत्कल भाषा के साथ पाली भाषा की कुछ समता भी है।

प्रायः ईसवी सन् प्रथम शताब्दी में कलिंग आन्ध्र-शक्ति के अधीन रहा और प्रायः ई० सन् २५० साल में आन्ध्र-शक्ति लुप्त हो गई थी। उसी समय कलिंग तीन भागों में विभक्त होकर उसके उत्तरखड का नाम उड्र, मध्यभाग का तोसल और दक्षिण भाग का नाम कलिंग पडा।

उड्र-खड पर मागधी प्राकृत का और तोसल तथा कलिंग में शौरसेनी प्राकृत का प्रभाव पड़ा। इसलिए, ई० सन् षष्ठ शताब्दी से दशम शताब्दी तक लिखे गये लुइपाद, काह्नुपाद प्रभृति के बौद्धगान की भाषा में शौरसेनी प्राकृत का लक्षण सुस्पष्ट मिलता है।

साहित्य—देश के प्रचलित धर्म के प्रभाव से साहित्य गठित होता है—यह सर्वसम्मत सत्य है।

बौद्ध--कलिंग-उत्कल में अतिप्राचीन काल से प्रचलित ब्राह्मण्य और जैनधर्म का कोई साहित्य भाषा में अबतक दीख नहीं पड़ा, किंतु बौद्धधर्म की महायान-शाखा के अन्तर्गत सहजिया-गान को प्राचीन उत्कल-भाषा और साहित्य के निदर्शन के रूप मे पाता हूँ। उन्हें ईसवी सन् छह से दशम शताब्दी तक लुइपाद, काह्नुपाद, भुसुक, शबरपाद आदि ने लिखा है। वे सब उत्कलीय थे—यह प्रमाणित हो चुका है।

इन गानों की भाषा के साथ आधुनिक उत्कल भाषा का जो साम्य है, वैसा अन्य किसी प्रान्त की भाषा के साथ नहीं। हजारों वर्ष के बाद भी भाषा में पार्थक्य खूब कम ही दीख पड़ता है।

बौद्धगान की भाषा	*आधुनिक उड़िया भाषा*
काहेरे घेनि मेलि अच्छ हुकिम	काहार घेनि मेलि अन्छ हुकिस
वेढिला हाक पड़अ चउदिस	वेढिला हाक पड़इ चउदिस
अपण मां से हरिण वैरि	आपणा मो से हरिण वैरि
खणह न छाडह भुसुक अहेरि	क्षणक न छाडइ भुसुक अहेरि
काह्नुपाद—	
नगर बाहिर रे डोम्बि तोहोरि कुडिआ	नगर बाहार रे डोम्बि तोहोरि कुडिआ
छोइ छोइ जाह सो ब्राह्मण नाडिआ	छुई छुई याय से बाह्मण नाडि (का)
आलो डोम्बि तो ये सम करिव म सग	आलो डोम्बि तो सम करिवि म सांग
निघिण कान्ह कपाली जोइ लाग	निघृण काह्नु कपाली योगी लगा (लगला)
एकासी पदुम चौसठी पाखुडि	एकाशी पदुअ चौपठी पाखुडी
तहि चढि नाचअ डोम्बी वापुडी	तहिं चढि नाचइ डोम्बी वापुडी
लुइपाद—	
अपणे रचि रचि भव निर्माण	आपणे रचि रचि भव निर्वाण
मिछ लोअ बन्धवए अपण	मिछ लोक बन्धावए आपण
ह आम्हे न जाणहु अचिन्त जोइ	आम्मे न जाणु अचिन्त योगी
जाम मरण भव क इसन होइ	जन्म मरण भव केसन होइ
जैसो जाम मरण हि तैसो	यिस जनम मरन हि निम
जीवन्ते मले नहिं विसेस	जीवन्ते मले नाहिं विशेष।

शैव—बौद्धधर्म के साहित्य के अनंतर हम शवधर्म भाव से प्राचीन उत्कल-भाषा और साहित्य का निदर्शन पाते हैं।

१ महालिंगेश्वर-शिलालिपि ६६० ई० सन्

२. मुखलिंगेश्वर-शिलालिपि १०३६ ई० सन्

३ भुवनेश्वरनरसिंहदेव की शिलालिपि १२४६ ई० सन्

४ कलसा चउतिशा—वत्सादास की—१३ वीं शताब्दी। इसमें शिव पार्वती-विवाह का वर्णन है। शृंगाररसात्मक होने पर भी यह हास्यरस से शराबोर है। चउतिशा-साहित्य की

विशेषता यह है कि इसमें चौंतीस ही पद्य हैं। प्रत्येक पद्य में प्रत्येक पाद का प्रथम अक्षर क से लेकर क्ष तक होता है। इस चउतिशा की भाषा भावयुक्त, उन्नत तथा रुचिर है और सभी भावों को व्यक्त करने में समर्थ है।

१४ वीं शताब्दी का रुद्रसुधानिधि ग्रन्थ गद्यात्मक होने पर भी पद्यगन्धी है। यह एक सुन्दर उपन्यास है। इसमें गद्य-साहित्य के समस्त लक्षण रहने पर भी योग-वेदान्त-तन्त्रादि का पुट है। इसके लेखक हैं नारायणानन्द अवधूत स्वामी।

शाक्त—शैवधर्म-साहित्य के बाद शाक्तधर्म साहित्य पर विचार किया जाता है।

१४ वीं शताब्दी में सरलादास ने चण्डीपुराण और विलका-रामायण लिखी थी।

इन दोनों ग्रन्थों में देवी दुर्गा का माहात्म्य वर्णित है। इनके बाद उन्होंने महाभारत लिखा था। यह संस्कृत-महाभारत का आक्षरिक अनुवाद नहीं है। इसमें संस्कृत-महाभारत के अनेक विषय छोड़े गये हैं और अनेक अद्‌भुत उपाख्यान भर दिये गये हैं। इसमें शान्तिपर्व का मूल विषय नहीं है। इसमें जो कुछ है, वह काल्पनिक आधार पर है। यह लगभग ७०० पद्यों में समाप्त किया गया है। चरित्र-चित्रण में सरलादास सिद्धहस्त थे। इसमें समसामयिक समाज-चित्र दिखाया गया है। शकुनि खखल-स्वभाव से दुर्योधन का मन्त्री होकर उसके कुल-नाश का कारण हुआ, भीम की मूर्खता, गांधारी की ईर्ष्या, सत्यवती का आजीवन पराशर की पत्नी के रूप में रहना, श्रीकृष्ण का नव पशु-लक्षणों से युक्त रूप धारण कर अर्जुन के सामने खाण्डव वन में प्रकट होना, अर्जुन और नकुल का समय-विशेष पर पाताल जाकर शेषदेव को भेज कर गाण्डीव और कुन्त पर पृथिवीको धारण करना, द्रोणाचार्य और कर्ण के अस्त्रों से रक्षा करने के लिए हनुमान् का नन्दीघोष रथ को पृथिवी के भीतर दबा देना, दुर्योधन का रक्त-नदी-संतरण आदि अनेक अद्‌भुत विषयों के उपाख्यान इसमें भरे-पड़े हैं। लेखक प्रत्येक प्रसंग के प्रारम्भ और अन्त में देवी की स्तुति करते हैं।

पुरीधाम मे श्रीजगन्नाथदेव की अवस्थिति के कारण अतिप्राचीन काल से विष्णु की उपासना प्रवर्त्तित है, किन्तु जगन्नाथदेव की जैन ऋषभदेव, बौद्ध बुद्धदेव, वैष्णव विष्णु, शैव शिव, शाक्त शक्ति, गाणपत गणपति और सौर सूर्य के रूप में उपासना करते हैं।

रामानुज, जयदेव, माध्वाचार्य, नरहरितीर्थ-प्रभृति महात्माओ ने वैष्णव धर्म की महत्ता पुरीधाम में प्रस्थापित की थी, इसलिए उत्कल के लोग वैष्णव धर्म के प्रति विशेष आकृष्ट हुए। चैतन्यदेव के उत्कल-आगमन के बहुपूर्व ही उत्कल में वैष्णव धर्मात्मक ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। १४ वीं शताब्दी के शेष भाग में मार्कण्डदास ने महाभाष्य और केशवकोइलि की रचना की थी। महाभाष्य में राम की प्रशस्ति और केशवकोइलि में कृष्ण के मथुरा-गमन के बाद यशोदा का विलाप वर्णित है।

१५ वीं शताब्दी के पूर्वभाग में अर्जुनदास ने रामविभा नामक महाकाव्य लिखा है। उत्कल-भाषा का यह प्रथम महाकाव्य है। इसमें शृंगाररस-प्रधान होने पर भी वीर और हास्यरसों का भी समावेश है। यह काव्य सरल मधुर पदावली में रचित हुआ है।

इस शताब्दी में गोविन्दभञ्ज, दामोदरदास, नीलाम्बरदास ने वैष्णव धर्माश्रित काव्यों की रचना मधुर ललित पदावली में की है।

इस शताब्दी के शेष भाग और १६ वीं शताब्दी के प्रथम भाग मे चैतन्यदास, वीरसिंह, बालिगाँदास ने निर्गुण ब्रह्म के प्रशस्ति-ख्यापक ग्रथ लिखे हैं। चैतन्यदास-लिखित विष्णुगर्भ-पुराण पर बौद्धधर्मान्तगत महायान-शाखा का प्रभाव पडा है। वीरसिंह की चउतिशा में बौद्ध नागार्जुन का मत देखा जाता है। वह नरसिंह के उपासक थे।

१५ वीं शताब्दी के अंतिम भाग और १६ वीं शताब्दी में भारत तथा उत्कल में धर्मराज्य पर विप्लव आया।

श्रीचैतन्यचंद्र सन् १५१० ई० में पुरीधाम में आये। इस समय उत्कल में दो कृष्णो-पासक वैष्णव धर्ममत प्रचलित थे – शुद्धा भक्ति और ज्ञानमिश्रा भक्ति।

राय रामानन्द राय शुद्धा भक्तिमार्ग के प्रवर्त्तक थे और उत्कल के पच महापुरुष बलराम, जगन्नाथ, यशोवन्त, अनन्त और अच्युतानन्द ज्ञानमिश्रा भक्तिमार्ग के। उभय सप्रदाय चैतन्यचद्र के प्रिय थे।

बलरामदास ने अनेक ग्रथ लिखे हैं। इनमें जगमोहनरामायण, वेदान्तसार, भगवद्गीता, भावसमुद्र, गुप्तवार्ता और ब्रह्माण्डभूगोल प्रधान हैं। इन्होंने अपनी रामायण लगभग १५०० ई० सन् में लिखी। यह वाल्मीकीय रामायण का अनुवाद नहीं है। इसमें अध्यात्मरामायण, महाभारत, देवीभागवत और अन्यान्य पुराणों से उपाख्यान दिये गये हैं। यह रामायण लोकप्रिय है। उत्कल के प्रधान कवियों ने इस रामायण के आधार पर काव्य लिखे हैं।

जगन्नाथदास चैतन्यचद्र के परम सखा थे। इनका भागवत उत्कल में आब्रह्मचाण्डाल समादृत है। इस भागवत का मूल्य सस्कृत-भागवत से कहीं अधिक है, क्योकि वैष्णव पुराणों में जो-जो उपाख्यान सुन्दर हैं, उन्हें आपने अपने भागवत में स्थान दिया है। इस भागवत से उत्कल की नैतिक गति और धर्मभाव में वृद्धि हुई और बहुत अंशों में वहाँ की निरक्षरता का निवारण हुआ है। प्रत्येक उत्कलीय इस ग्र थ को पढने में श्लाघा मानता है। इन्होने सस्कृत और उडिया में अनेक ग्रंथ लिखे हैं। उड़िया ग्रन्थो में भागवत, दीक्षासवाद, गुप्तभागवत, मृगुणीस्तुति, तुलाभिणा आदि प्रधान हैं।

यशोवन्तदास अनेक ग्रन्थों के लेखक हैं। उन ग्रन्थों में शिवस्वरोदय, प्रेम भक्ति ब्रह्मगीता, गोविंदचद्रगीता, रास प्रभृति प्रधान हैं।

अनतदास ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें मालिका, चउतिशा, स्तोत्र, बाखर, हेतूदयभागवत प्रभृति प्रसिद्ध हैं। हेतूदयभागवत में चारासी सिद्धों में से काह्नुपाद, लुइपाद आदि के नाम हैं, और चौरासी अवधूतों का पूर्ण इतिहास दिया गया है।

अच्युतानन्ददास—ये सहस्र ग्रन्थों के लेखक हैं—ऐसी किंवदन्ती है। उन्होंने संहिता, गीता, मालिका, वशानुचरित, कोइलि, टीका, विलास, निर्णय, ओगाल, गुज्जरी, भजन आदि लिखे हैं। इनमें शून्यसंहिता, अणाकारसहिता, गुरु-भक्ति-गीता पद्यटीका और हरिवंश प्रसिद्ध हैं। ये पच महापुरुष परम योगी, ज्ञानी और परम-भक्ति-परायण थे।

विप्रनारायणदास ने अच्युतानन्द के बाद हरिवश लिखा था— ऐसी किंवदन्ती उत्कल में प्रचलित है।

१६ वीं शताब्दी से १७ वीं शताब्दी के मध्यभाग तक उत्कल में काव्य सहज, सरल और मधुर भाषा में रचित हुआ। १६ वी शताब्दी के कविगण उच्च कोटि के थे। इतिहास-पुराणों से कथावस्तु लेकर उन्होंने काव्य-रचना की थी।

शिशुशंकरदास ने उषाभिलाष, लक्ष्मण महान्ति ने उर्मिलाच्छान्द, कपिलेश्वरदास ने कपटकेलि, हरिहरनायक ने चद्रावतीहरण, देवदुर्लभदास ने रहस्य-मञ्जरी, दीनबंधुदास ने च्छांद-चारु-प्रभा, रामचद्रदेव ने नवानुराग और वंशिचोरी, सालवेग ने स्तुतिभजन (इन्होंने मुसलमान होकर भी वैष्णव धर्म ग्रहण किया था) और कार्त्तिकदास ने रुक्मिणी-विभा एवं नवानुराग लिखे हैं। ये सभी उत्तम काव्य हैं। इनमें उषाभिलाष, रहस्यमञ्जरी और रुक्मिणी-विभा उज्ज्वल रत्न हैं। १७ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में औपन्यासिक काव्य का प्रारम्भ हुआ और रामचन्द्रपट्टनायक ने हारावती काव्य लिखा। इस काव्य की विशेषता यह है कि इसका नायक एक साधारण गृहस्थ है और नायिका है एक हलवाहे की कन्या। इसकी भाषा सरल है और बड़ी पटुता के साथ यह काव्य लिखा गया है।

प्रतापराय ने शशिसेणा नामक एक रमणीय काव्य लिखा है। इस काव्य की कथावस्तु एक प्रसिद्ध उत्कलीय कहानी से ली गई है।

वृन्दावनदास ने गीतगोविन्द का विभिन्न रागो में अतिसुन्दर पद्यानुवाद किया है। यह भाषा-गीतगोविन्द अतिदुर्लभ है। सस्कृत-गीतगोविन्द का पद-लालित्य इसमें सुन्दर रूप से सुरक्षित है।

मधुसूदन ने नलचरित, भीमाधीवर ने कपटपाशा, सदाशिव ने विचित्र हरिवंश और गोप-लीला एव शिशुईश्वरदास ने नलरामचरित लिखे हैं। नलरामचरित में नल और रामचन्द्र के चरित वर्णित हैं। १७ वीं शताब्दी के मध्यभाग तक इन कवियों द्वारा सरल भाषा में काव्य रचित हुए हैं। उक्त शताब्दी के मध्यभाग से शेष तक के कवियों ने कुछ-कुछ शब्दालंकार और चित्रकाव्य के लक्षणों को अपने काव्यों में प्रविष्ट किया है।

श्रीधरदास ने काञ्चनलता लिखी और विष्णुदास ने प्रेमलोचना, रघुनाथ हरिचन्दन ने लीलावती लिखी और धनञ्जयभंज ने रघुनाथविलास, त्रिपुरा-सुन्दरी, इच्छावती, अनगरेखा, मदनमञ्जरी आदि। इस समय के कवियों ने पौराणिक काव्य के साथ औपन्यासिक काव्य लिखने में अपने को गौरवान्वित समझा।

काह्नुदास का रामरसामृतसिंधु एक अपूर्व काव्य है। इसकी भाषा अत्यत सरल है। इस काव्य की यह विशेषता है कि इसमें १०८ सर्ग हैं और प्रत्येक सर्ग में १०८ पद।

उत्कल के अन्यतम अद्वितीय कवि दीनकृष्ण ने अपने अमरगीतिकाव्य रस-कल्लोल और जगमोहनच्छान्द एवं आर्त्तत्राण-चउतिशा की रचना की। इन्होंने और भी ज्ञानमिश्र भक्ति-तत्त्वात्मक अनेक ग्रंथ लिखे। इनमें नामरत्नगीता, रस-विनोद, गुणसागर आदि प्रधान हैं। ये अद्वितीय पण्डित थे और वैद्यक-शास्त्र, शरीरविज्ञान, सामुद्रिक, स्मृतिशास्त्र, सगीत, यन्त्र-तन्त्र मंत्र और योगशास्त्रों मे प्रवीण थे। इन्होंने इन विषयों पर कई ग्रन्थ लिखे हैं।

भूपति पण्डित—ये सारस्वत ब्राह्मण थे। इन्होंने पुरीधाम में आकर उत्कल की ज्ञानमिश्रा भक्ति में दीक्षित होकर, उत्कल की भाषा में एक अत्युत्तम ग्रन्थ की रचना की। उसका नाम

प्रेमपद्मामृत है। यह कृष्ण रासलीलात्मक ग्रन्थ है, जो उत्कल-साहित्य मे दुर्लभ है। जैसी इसकी भाषा सरल, सहज और मधुर है, वैसा ही भाव भी सुन्दर और हृदयग्राही।

त्रिविक्रमभञ्ज की कनकलता एक औपन्यासिक काव्य है। इसमे आलकारिक छटा और काव्य का चातुर्य भरपूर है।

लोकनाथ विद्याधर ने जयदेव के समान पांचालीवध मे बहुरमणीय काव्य लिखे हैं। इनके काव्यों में शब्दालकार और अर्थालकार का सुन्दर योग है। भाषा सस्कृतप्राय होने पर भी ये प्रसादगुण-विशिष्ट और सुमधुर हैं। सर्वाङ्गसुन्दरी, पद्मावती-परिणय, चित्रकला-रसकला, वृन्दावन-विहार आदि के कवि लोकमान्य हैं।

श्रीधर, विष्णुदास, रघुनाथ, दीनकृष्ण, धनंजयभज, भूपति त्रिविक्रम और लोकनाथ की काव्यावली से सूचित होता है कि अत्यधिक चातुरी कलापूर्ण परिच्छद तथा शृ गाररस-सिक्त अश्लीलता का विश्लेपण क्रमश वृद्धि पाकर परवर्त्ती कवि उपेन्द्रभंज के हाथों पूर्णता को प्राप्त हुआ।

उपेन्द्रभंज—प्राचीन उडिया-साहित्य के कवि-सम्राट् ई० मन १६७० से १७२८ तक जीवित थे। आपने ४२ काव्य ग्रन्थ लिखे हैं—संगीत, पौराणिक विषयों पर क्षुद्रकवितावली, पौराणिक और ऐतिहासिक काव्य, औपन्यासिक काव्य, अलकार-ग्रन्थ, कोश-ग्रन्थ, चउतिशा, चौपदी, छप्पई, पविशपोई, गाहा, दोहा, गुज्जरी आदि। वैदेहीश-विलास, रसिकहारावली, प्रेमसुधानिधि लावण्यवती, कोटिब्रह्माण्डसुन्दरी, कलाकउतुक, सुभद्रा-परिणय, अवनीरसतरग और मनोरमा उनके कार्यो में प्रधान हैं। सुभद्रा-परिणय और वैदेहीश-विलास में प्रत्येक पद के प्रत्येक पाद का प्रथम अक्षर यथाक्रम स और व से आरम्भ हुआ है, और कलाकउतुक के प्रत्येक पद के आदि और अन्त अक्षर क हैं। लावण्यवती काव्य की भाषा सरल, किन्तु पूर्ण ध्वन्यात्मक है। इसमें औपन्यासिक और नाटकीय छटा है। महाकवि राजशेखर ने काव्यकारों का अष्टविध भाग निर्देश किया है—यथा, रचना, शब्द, अर्थ, अलकार, भक्ति, रस, मार्ग, शास्त्रार्थ। इन सबमें जो कुशल और उत्तम कवि हैं, उनमें उपेन्द्रभज भी हैं, जिनके काव्यों में सभी विभाग के लक्षण दर्शित होते हैं। सर्वविध शृ खला, सर्वविध यमक, अलकार, एक-दो-तीन और सर्वव्यंजनवर्ग में पदरचना, छद अक्षर, स्वर अक्षर, तीनों श ष स में, कण्ठ्यादि स्थान-वर्ग में, सर्वस्वर वर्ण में, मात्राहीन व्यजनवर्ण में, पशुओं की गतियों में एव मेष-युद्ध में आपने काव्य-रचना की है। चित्रकाव्य के सारे लक्षण इनके काव्यो में निहित हैं। कोटिब्रह्माण्डसुन्दरी-काव्य में १५ पदो का एक सर्ग (छंद) है, जिसमें प्रत्येक पद के प्रत्येक पाद के समग्र अक्षरों को लेकर पढने से वर्षा-ऋतु का वर्णन, चिन्तादेशाक्ष राग में, होता है। आदि के एक अक्षर छोडकर पढने से शीत-ऋतु का वर्णन, काफी-कामोद राग में, होता है। आदि के दो अक्षरों को छोड़ देने से ग्रीष्म-ऋतु का वर्णन, मालववराडी राग में होता है। इनके काव्यों में काव्य के पूर्ण लक्षण हैं। एक शब्द में, उपेन्द्रभंज वाग्देवी के वर पुत्र थे। वे युग-स्रष्ट और युग-स्रष्टा भी थे।

उपेन्द्रभज के समय से आधुनिक युग के साहित्यकारों तक अनेक कवियों ने औपन्यासिक और पौराणिक काव्य लिखे हैं। अधिकाश वे काव्य कृष्णलीलात्मक हैं।

प्रधान-प्रधान कवियो के नाम और उनके काव्यो का परिचय इस प्रकार है —

दाशरथिदास—व्रजविहार । कृपासिन्धुदास – व्रजविहार । मन्दरधरभागीरथी—राधाविलास । रघुनाथभज—रसलहरी । सदानन्दकविसूर्य—प्रेमतरंगिणी, प्रेम-लहरी, ललितलोचना, युगलरसामृत-लहरी, युगलरसामृतभडरी, चौरचिन्तामणि, प्रेमचिन्तामणि, विश्वम्भरविलास, गीता, स्मरदीपिका, चउतिशामाला-प्रभृति । व्रजवन्धुसामतराय —रामलीलामृतकाव्य । जनार्दनदास—गोपीभाषा । चक्रपाणिपट्टनायक – कृष्णविलास । केशवपट्टनायक—गोपविनोद । विश्वनाथखुण्टिआ – विचित्ररामायण । व्रजनाथवडजेना—समरतरग, शामरसोत्सव, अम्विकाविलास, चतुरविनोद (गद्य) प्रभृति । चम्पतिसिंह—सुलक्षण । पद्मनाभश्रीचन्दन—शशिरेखा । कुंजवनपट्टनायक—कुञ्जविहार । त्रिपुरारिदास—रामकृष्णकेलिकल्लोल । पुरुषोत्तममानधाता—शोभावती । केशवहरिचन्दन – रामलीला । विश्वम्भरदास—विचित्रभारत । पीताम्वरराजेन्द्र—रामलीला । वलभद्रभ्रमरवर —चन्द्रप्रभा । राणीनिःशंकराय—पद्मावती-अभिलाष (स्त्री-कवि) । भक्तचरणदास – मथुरामंगल, मनवोध और कलाकलेवरचउतिशा आदि । हरिवशराय—प्रेमकल्पलता । अभिमन्युसामन्तविहार—विदग्धचिन्तामणि, रसवती, मनोरमा, प्रीतिचिन्तामणि आदि । सदाशिव – रामलीला । कृपासिंधुसुमन्त—कृष्णविलास । पीताम्वरदेव—अखिलरस-चिन्तामणि । कर्णाभगिरि—भक्तिरसामृत । अनंगनरेन्द्र—रामलीला । विक्रमनरेन्द्र—रामलीला । पद्मनाभदेव—भागवती । गौरचन्द्रअधिकारी – कृष्णलीला—यदुमणिमहापात्र—प्रवधपूर्णचंद्र, रघुनाथविलास आदि । भुवनेश्वरकविचन्द्र - वासुदेवविलास, सीतेशविलास । लङ्केशमहापात्र—आदिकाव्य ।

उपेन्द्रभंज के समय में एक वैष्णव-परिवार था—

वृन्दावनदासी (स्त्री-कवि)—पूर्णतमचन्द्रोदय, इनके पति चन्द्रशेखरदास—श्रीकृष्णतत्त्व-चन्द्रोदय, श्वशुर—जगन्नाथदास—कृष्णविषयक गीतमाला, पुत्र—भीमदास—भक्तिचद्रोदय, भक्तिरत्नमाला, पौत्र—कृपासिन्धुदास – उपासनाचन्द्रोदय । ये सव लेखक सत्रहवीं शताब्दी में शेष हुए थे ।

कथित कवियों में सर्वप्रधान—सदानदकविसूर्य, चक्रपाणिपट्टनायक, कृपासिन्धुदास, विश्वनाथखुण्टिआ, भक्तचरणदास, अभिमन्युसामन्तविहार, यदुमणिमहापात्र, व्रजनाथ वडजेना ।

उस समय के सर्वप्रधान संगीतकार हैं—वनमालीपट्टनायक, श्यामसुन्दरदेव, पद्मनाभ परीच्छा, सोमनाथ, गोपालकृष्ण, वलदेवकविसूर्य ।

पुराणकार—जयसिंह, रामदास, पीताम्वरदास, कृष्णसिंह, गौरागदास, दीनवधुखागा, वलभद्रमगराज, गगापाणि, कृष्णचन्द्रपट्टनायक, सूर्यमणिपट्टनायक, गगाधरपट्टनायक ।

इस युग में दो महात्मा थे—अरक्षितदास और भीमभोइ । अरक्षितदास—घरभखिमण्डी के राजकुमार—अविवाहित अवस्था में स्वप्नादेश से बुद्धदेव-जैसे राजगद्दी त्याग कर संन्यासी हुए और ब्राह्मधर्म का प्रचार किया । भीमभोइ – जाति के कन्ध और जन्मान्ध थे । महिमा

गोस्वामी की कृपा से अद्भुत शक्तिशाली होकर महिमा धर्म के प्रचारार्थ अति अमूल्य ग्रंथ स्तुतिचिन्तामणि, ब्रह्मनिरूपण-गीता, अनेक भजन और चउतिशा की रचना की।

गूढतत्त्वमय ब्रह्मज्ञान के ग्रन्थ-लेखक थे—अरक्षितदास, हरिदास, नन्ददास, मोहनदास, भूपतिभज आदि।

मुसलमानधर्म और हिन्दूधर्म का समन्वय सत्यनारायण और सत्यपीर पूजा में हुआ है। इस पूजा से सबधित अनेक पाला लिखी गई हैं। उडीसा में सोलह पाला लिखी गई—रत्नाकरपाला, विद्याधरपाला, हरिअर्जुनपाला, फासिआरापाला आदि।

ईसाई धम के प्रभाव से—ईसाइयों ने उड़िया में बाइबिल, अनेक भजन, स्तुतियाँ, प्रार्थनाएँ भी लिखी हैं।

ब्राह्मधर्म में भी कुछ साहित्य हैं, पर वे सामान्य हैं।

उक्त कथन से प्रतिपन्न होता है कि उत्कल भाषा में जैन, बद्ध, शैव, शाक्त, वैष्णव, आद्य ब्राह्म, महिमा-धर्म, इस्लाम, ईसाई और ब्राह्म धर्मों का साहित्य है।

यहाँ धर्म के प्रभाव से साहित्य की उत्पत्ति तो दिखाई गई, अब साहित्य का विभाग प्रधान कवियों और प्रधान राजन्य से किया जाता है। अतः हम तन्निखित-अनुसार विभाग इस प्रकार कर सकते हैं—

१ आदियुग—ई० सन् ११ वीं शताब्दी तक—अर्थात् गगावश तक।

२ गगावंशीय युग—११ वीं से १५ वीं शताब्दी के मध्यभाग तक।

३ सूर्यवशीय युग—१४३५-१५४० तक

४. मुसलमान और मरहठा-युग—१५४०-१८०३ तथा भोइवंशीय युग

५ बृटिश-युग—१८०३-१९४६

६. स्वाधीन युग—

आधुनिक युग के प्राथमिक कवियों के हाथों उत्कल भाषा की सहज-गति क्षुण्ण हुई। भाषा विश्लेषिणी थी, पर इन लोगों ने सस्कृत के सामान भाषा का सश्लेषिणी बना दिया। भाषा की सहज गति और शुद्धता नष्ट हुई। फिर भी भाषा की बडी उन्नति हुई।

पाश्चात्यरीति की शिक्षा के प्रवर्त्तन पर उत्कल में जो साहित्य लिखा गया, उसमें अनेक नूतन विषयों का समावेश हुआ। पाश्चात्य साहित्य और विश्वसाहित्य का वैभव इस शिक्षा के प्रवर्त्तन से उन्मुक्त हो गया। इसलिए, समस्त साहित्य के उपयोगी विषयों को उत्कल-साहित्य में प्रवेश कराने का प्रयत्न होता रहा। रचना, प्रबंध, नये ढग का उपन्यास, नाटक—मिलनात्मक और विषादात्मक, प्रहसन, जीवनचरित, भ्रमण, समालोचना' वज्ञानिक लेख, इतिहास, जीवनी, आत्मजीवनी आदि से उत्कल-साहित्य के अभावों की पूर्त्ति होने लगी।

आधुनिक युग के प्राथमिक कवियों में तीन प्रसिद्ध हैं—राधानाथ, मधुसूदन और फकीरमोहन। अँगरेजी, बँगला और सस्कृत-साहित्य के ज्ञान से इन लोगों ने

नई रीति और उत्तम परिच्छद से साहित्य की रचना की। राधानाथ सुन्दर के, मधुसूदन शिव के और फकीरमोहन सत्य के उपासक थे। प्राकृतिक वर्णन और सुन्दर भावनाराजि से इनकी काव्यावली सुमण्डित हैं। इन्होंने अनेक काव्य लिखे हैं, जिनमें दरबार, चिलिका, चन्द्रभागा और महायात्रा प्रसिद्ध हैं। उत्कल के ऐतिहासिक और भौगोलिक वृत्तांत अपने काव्यों में सुन्दर रीति से सजाकर अपनी देशप्राणता का परिचय दिया है। भाषा सुमार्जित है और प्रसादगुण-विशिष्ट। राधानाथ युग के कविगुरु थे। मधुसूदन उत्कल में भक्तकवि के नाम से परिचित हैं। इनकी कवितावली ने अतःसलिला फल्गुवत् धर्म, नीति और देशभक्ति को धारण किया है। इन्हाने वसतगाथा, उत्कलगाथा आदि अनेक काव्य-गुच्छों की रचना की है। गद्य में भी इन्होंने प्रबंध लिखा है। इनकी भाषा मार्जित शुद्ध और सस्कृतप्राय है। फकीरमोहन उत्कल के व्यास-कवि थे। वे अद्भुतकर्मा थे। समग्र संस्कृत-रामायण और महाभारत का पद्य में अनुवाद किया। इन्होंने बौद्धावतार-काव्य और अन्य काव्य लिखे हैं। वे उपन्यास लिखने में सिद्धहस्त थे। छमाण आठगुण्ठ, मामु, लछमा, प्रायश्चित्त अति उत्कृष्ट धरण के उपन्यास हैं। समसामयिक समाज-चित्र बराबर अपने उपन्यासों में भर दिया है। भाषा सरल, सहज और लोकग्राही है।

रामशंकरराय—प्राचीन उत्कल में नाट्य-यात्रा थी, नूतन धरण का नाटक नहीं था। इस अभाव की पूत्ति का काम रामशकर ने किया। इन्होंने बारह नाटक लिखे हैं, जिनमें कांची, कावेरी, युगधर्म, कलिकाल नाटक आदि प्रधान हैं। इन्होंने प्रायश्चित्त नामक एक सत्यमूलक उपन्यास लिखा है, भाषा सस्कृतप्राय है।

आधुनिक युग के प्रधान महाकाव्य-लेखक—राधानाथ, फकीरमोहन, गगाधरमेहेर, चिंतामणिमहाति, नदकिशोर, नीलकण्ठदास, नीलाद्रिदास हैं।

खण्डकाव्य और क्षुद्रकविता के सुरचयिताओं में प्रधान—मधुसूदन, गोपबधु गोदावरीश मिश्र, पद्मचरणपट्टनायक, चंद्रमणिदास, वैकुण्ठपट्टनायक, शचिराउतराय, मायाधरमानसिंह, कालिन्दीपाणिग्राही, अनतपट्टनायक, विछंदपट्टनायक हैं।

अँगरेजी और सस्कृत-काव्यादिकों एव पद्यानुवादकों में सर्वप्रधान—राधानाथ, मधुसूदन, फकीरमोहन, नीलकण्ठ, पद्मचरणपट्टनायक, मृत्युञ्जयरथ, नारायणमोहन, चंद्रमणिदास, अजयचद्रदास, गोपीनाथसिंह, चद्रशेखरमिश्र, विछंदपट्टनायक हैं।

उपन्यास-लेखकों में सर्वप्रधान—उमेशसरकार, फकीरमोहन, गोपाल-वल्लभ, नदकिशोर, गोपालप्रहराज, दिव्यसिंह, कुन्तलाकुमारी, कान्हुचरण हैं।

प्रबंध-लेखक और समालोचक—मधुसूदन, चिंतामणिआचार्य, विश्वनाथकर, रत्नाकरपति, विपिनविहारीराय, शशिभूषणराय, मृत्युञ्जयरथ, व्रजविहारीमहाति, वासुदेवमहापात्र, कालिंदी-पाणिग्राही प्रधान हैं।

नाट्यकार—रामशंकर, भिकारीचरणपट्टनायक, अश्विनीकुमार, रामचन्द्रमहापात्र, कालीचरणपट्टनायक प्रधान हैं।

उत्कल-भाषा में एक प्रकाण्ड कोशग्रंथ—ओडियाभाषा-कोष—गोपालचन्द्रप्रहराजकृत है। आजकल वास्तविक जीवन, अर्थनीति, दर्शन और विज्ञान-विषयों पर अनेक ग्रंथ लिखे जा रहे हैं।

अत्यानंद की बात है कि आधुनिक उत्कल-साहित्य अति द्रुतगति से चल रहा है और भारत की अन्य प्रांतीय भाषाओं के साथ समभाव रखने का प्रयत्न भी किया जाता है।

—रायबहादुर आर्त्तवल्लभ महांति

———

वंग-भाषा और साहित्य

वंग-भाषा और साहित्य की विशिष्टता, समृद्धि तथा विचित्रता को हृदयङ्गम करने के लिए अत्यन्त संक्षिप्त, किन्तु यथासम्भव आलोचना की आवश्यकता है। अतः पहले भाषा पर कुछ विचार प्रकट करने के पश्चात् साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ करना सुविधाजनक एवं समीचीन होगा।

सन् १९३१ की लोक-गणना के आधार पर पाँच करोड़ से भी अधिक लोग बँगला बोलते हैं। इधर यह संख्या यथेष्ट बढी थी; किन्तु देश के विभाजन से अब भारत में इस भाषा के बोलनेवाले काफी कम हो गये। अन्यान्य भाषाओं की तरह बँगला-भाषा के भी कई रूप प्रचलित हैं। जिन भाषाओं का बहुत दिनों का लिखित साहित्य है, प्रायः देखा गया है कि उनमें साहित्यक रूप और साधारण कथोपकथन के रूप में कुछ अन्तर पड़ जाता है। साहित्यिक और कथ्य के भेद से बँगला-भाषा के भी विभिन्न रूप हैं। बँगला का साहित्यिक रूप (साधु भाषा) बंगाल के सर्वत्र गद्य-साहित्य तथा पत्रालाप में प्रयुक्त होता है। इस 'साधु भाषा' के साथ-साथ नाना अंचलों में कथ्य भाषाएँ भी प्रचलित हैं। इनमें से कलकत्ता अंचल तथा भागीरथी नदी के दोनों किनारों में प्रचलित भद्र समाज में व्यवहृत भाषा को ही बंगाल के शिक्षित समाज ने स्वीकार कर लिया है। यह विशिष्ट कथ्य भाषा ही 'चालू' (चलित) भाषा कहलाती है।

हिन्दी की भाँति बँगला भाषा की भी उत्पत्ति साहित्यिक प्राकृत से हुई है। साहित्यिक प्राकृत को साधारणतः चार भागों में विभाजित किया जाता है—महाराष्ट्री नागरी, शौरसेनी, अर्द्धमागधी एवं मागधी अथवा गौड़ीय प्राकृत। इस शेषोक्त मागधी अथवा गौडीय प्राकृत से बँगला-भाषा विकसित हुई है।

बँगला-भाषा की उत्पत्ति हुए हजार वर्ष से भी अधिक हो गये। बँगला-भाषा में अपने निजी प्राकृतज शब्द हैं, शुद्ध एव विकृत संस्कृत शब्द भी हैं। पुराकाल से इसमें बहुत-से देशी अथवा अनार्य शब्द भी मिलते-खपते रहे। विदेशी भाषाओं से भी शब्द—फारसी, पुर्तगाली और अँगरेजी आदि—आवश्यकतानुसार लिये गये शब्दों की भी संख्या कम नहीं होगी।

बँगला-भाषा का आदि अथवा प्राचीन युग सन १२०० ईसवी तक माना जाता है। इस समय तक बंगाल तुर्कों द्वारा विजित हो चुका था। इस अवधि में बँगला-साहित्य की परम्परा तो बनने लगी थी; पर भाषा में पूर्णाङ्गता नहीं आई थी, प्राकृत का प्रभाव तब भी स्पष्ट दिखाई देता था।

सन् १२०० से १८०० ईसवी तक बँगला का मध्य युग है। इस युग को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) युगान्तर-काल—सन् १२०० से १३०० तक—

बँगला-भाषा का जो अधुना साहित्यिक (साधु भाषा) रूप पाया जाता है, उसका प्रारंभ इस समय हो गया था—अर्थात् इस रूप को ग्रहण करने के लक्षण, इस युग की भाषा में, मिलते हैं। (२) पूर्वार्द्ध-मध्ययुग अथवा प्राक् 'चैतन्य'-युग की अवधि सन् १३०० से १५०० मानी जाती है। इस युग में बँगला-भाषा की जड़ें मजबूत हो रही थीं एवं नाना विषयों में साहित्य-रचना होने लगी थी। (३) उत्तरार्द्धामध्ययुग में (सन् १५००—१८००) बँगला में वैष्णव-साहित्य का शुभारम्भ हुआ, विकसित और पल्लवित हुआ। बँगला-साहित्य की विशेष उन्नति भी इन्हीं षोडश तथा सप्तदश शताब्दियों में हुई। इस मध्ययुग में बँगला भाषा के उच्चारण में परिवर्त्तन परिलक्षित होने लगा। फलस्वरूप, धीरे-धीरे प्राचीन अवस्था से आधुनिक कथ्य रूप (चलित) में भाषा बदल गई अर्थात् उदाहरण-स्वरूप प्राचीन बँगला का 'राखिया' विभिन्न रूप लेते-लेते कथ्य भाषा में आज 'रेखे' में रूपान्तरित हो गया। मध्ययुग के अन्त की ओर बँगाल में अँगरेजों का राज्य विस्तृत होने लगा था और उनके आग्रह तथा चेष्टा से बँगला-अक्षरों में मुद्रण का प्रचलन हुआ, साथ-ही-साथ गद्य साहित्य की नींव पड़ी।

सन् १८०० ई० के इधर का समय बँगला का आधुनिक युग है। गत डेढ़ सौ वर्षों में बँगला भाषा में बहुत से परिवर्त्तन हुए हैं। इस युग में बँगला-भाषा और साहित्य को अति गौरव-पूर्ण तथा प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त हुआ है। पाश्चात्य अथवा आधुनिक चिंता धारा को बँगला भाषा अपने साहित्य के द्वारा अपना सकी है। इसका सुदूर-प्रसारक परिणाम सहज में ही अनुभव किया जा सकता है। कलकत्ता-अञ्चल की कथ्य भाषा (चलित) को साधु-भाषा के बराबर साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयोग कर उसे भी साहित्यिक मर्यादा प्रदान करना, इस युग की सबसे बड़ी भाषागत देन है।

संक्षेप में भाषागत जिन विवर्त्तनों का उल्लेख किया गया है, उनके दृष्टान्त-उदाहरण बँगला-साहित्य की आलोचना करते समय प्राप्त होते रहेंगे।

बँगला-साहित्य को साधारणतः तीन भागों में विभाजित किया जाता है—

(१) आदियुग (सन् ६५० से १२०० ईसवी)
(२) मध्ययुग (सन् १२०० से १८०० ईसवी)
(३) आधुनिक युग (सन् १८०० से—)

वैसे तो बँगला-भाषा की उत्पत्ति दशम शताब्दी से बहुत पहले ही हो गई थी, जैसा कि भाषा की आलोचना करते समय कहा गया है। प्राचीन विभिन्न शिलालेखों तथा सर्वानन्द की टीका सर्वस्व आदि पुस्तकों में बँगला शब्दों के प्रयोग मिलते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि भाषा का जन्म हो गया था। किन्तु, दशम शताब्दी से पूर्व साहित्य के वाहन के रूप में बँगला भाषा का व्यवहार हुआ था या नहीं, इस सम्बन्ध में ऐसी प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी जिससे यह सन्देह दूर हो जाय।

आदियुग में (सन् ६५०-१२००) बौद्ध सिद्धाचार्यगण के 'चर्यापद-समूह' रचे गये थे, जो बंगला-साहित्य की निधि के रूप में हैं। ये पद बौद्ध महायान-सम्प्रदाय के साधना-

संगीत हैं। बँगला-भाषा और साहित्य के प्राचीनतम निदर्शन के रूप में ये चर्यापद बडे ही महत्त्वपूर्ण हैं। भाषा और साहित्य के उदाहरण-स्वरूप यह पद उद्धृत किया जा रहा है—

'उँचा उँचा पावत तहिं बसइ शबरीबाली।
मोरङ्गी पीच्छ परहिन शबरी गीवत गुन्जरीमाली॥
उमत शबरो पागल शबरो माकर गुलिगेहाड़ा तोहरि।
निअ घरनी नामे सहज सुन्दारी॥
नाना तरुवर मौलिलरे गअनत लागेली डाली।
एकेली शबरी ए बन हिण्डई कर्नकुण्डल बज्रधारी॥
तिअ धाओ खाट पडिला शबरो महासुहे सेजि छाइली।
शबरो भुजङ्ग नैरामनि दारी पेम्ह पोहाइली राति॥'

[ऊँचे-ऊँचे पर्वत– वहाँ व्याध बालिका का निवास है। व्याध-बालिका मयूरपुच्छ-परिहिता है, उसके गले में गुञ्ज-माला है, उन्मत्त शवर, पागल शवर, तुम्हारी दुहाई है, गडवड़ न करो, मैं तुम्हारी गृहिणी हूँ—नाम है सहजसुन्दरी। नाना प्रकार के वृक्ष मुकुलित हो उठे रे, उनकी शाखाएँ गगन को स्पर्श करती हैं, कर्णकुण्डल वज्रधारिणी शवरी इस वन में एकाकी ढूँढती फिरती है। तीन धातुओं की खटिया बिछ गई, शवर तूने परमानन्द से शय्या बिछाई। नायक शवर ! तूने नायिका नैरामणि के साथ प्रेम से रात बिताई।]

चर्यापदों के समूहों के अतिरिक्त तत्कालीन बँगला की रचनाओं के और भी कुछ निदर्शन पाये जाते हैं। इस युग में राधाकृष्ण-लीलाविषयक गीति-काव्य भी रचे गये थे। प्राचीन भाषा के उदाहरण-स्वरूप कुछ पँक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं—

'छाड़ छाड़ु महँ जाइबों गोविन्द सह खेलन ··· ·····
नारायण जगह केरु गोंसाई ······ · '

यह पद खण्डितावस्था में है। किन्तु प्राचीन वग-भाषा के प्रमाण-स्वरूप अमूल्य है। राधा कृष्ण लीला-विषयक पदावलियों के साथ-साथ विष्णु के दशावतार-स्तोत्रों के भी कुछ अश उपलब्ध हुए हैं—

'जे ब्राह्मणेर कुलें उपजिओं कीतबीया जेनें बाहुकर से खण्डिआ परशुराम देउ शे मोहर मङ्गल करउ'।

प्राचीनतम बँगला-साहित्य के उपर्युक्त उद्धरणों के अतिरिक्त इस युग मे गोपीचाँद के गानों के तरजे ('पाला'), धर्ममङ्गल के लाउसेन की कथा, लक्खीन्दर-बेहुला की कथा आदि गेय पद्य ('पाञ्चाली') के रूप में लोकमुख में अत्यधिक प्रचलित थे, पर लिपिवद्ध नहीं हो सके थे। यदि लिपिवद्ध हुए भी हों तो उनकी पोथियाँ उपलब्ध नहीं हो सकीं।

आदियुग के विषय में संक्षिप्त ज्ञातव्य इतना ही दिया जा सका। इसके उपरान्त मध्य युग को भी सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) युगान्तर-काल (आदि तथा मध्य का सन्धिकाल—सन् १२०० से १३०० ई०)
(ख) पूर्वार्द्ध-मध्ययुग (प्राक्चैतन्य युग – सन् १३०० से १५०० ई०)
(ग) उत्तरार्द्ध-मध्ययुग (चैतन्योत्तर युग—सन् १५०० से १८०० ई०)

सन् १२०० से १३०० ईसवी बँगला-साहित्य के लिए एक युग-सन्धिकाल है। आदि-युग की समाप्ति तथा मध्ययुग का आगमन—एक युगान्तर उपस्थिति है। इस समय भारत पर तुर्कों का आक्रमण शुरू हो गया था। इस संघर्षमय वातावरण की लहर बंगाल तक पहुँची। वहाँ भी आक्रमण होने लगे और उसका प्रभाव भी पड़ा। इससे देश की शृङ्खला और शान्ति नष्ट हो गई, फलस्वरूप बँगला भाषा में उल्लेखनीय साहित्य-विशेष की रचना सम्भव न हो सकी। अतः इस युग की किसी रचना का निदर्शन हस्तगत न हुआ। चतुर्दश शताब्दी के मध्य भाग में शमसुद्दीन इलियसशाह ने दिल्ली के सुलतान की अधीनता से मुक्त होकर बंगाल में स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। साथ ही-साथ देश में शान्ति प्रतिष्ठित हुई, साहित्य सृष्टि के लिए आवश्यक अनुकूल वातावरण मिलने लगा। विद्या, ज्ञान तथा साहित्य चर्चा का सूत्रपात हो गया।

सन् १३०० से १५०० ईसवी पूर्वार्द्ध-मध्ययुग अर्थात् 'प्राक्-चैतन्ययुग' के नाम से अभिहित किया जाता है। सन् १४८५ ईसवी में श्री चैतन्यदेव का आविर्भाव हुआ था। उनके आविर्भाव के पश्चात्, उनके लोकोत्तर जीवन के प्रभाव से बँगला साहित्य ने एक नवीन पथ का अनुसरण किया था, किन्तु उनके आविर्भाव से पूर्व चतुर्दश से पष्ठदश शताब्दी तक बँगला-साहित्य में जिन काव्यों का सर्जन हुआ, उनका महत्त्व भी कम नहीं है। इस युग में गौड के मुसलमान शासकों की पृष्ठपोषकता में बँगला-साहित्य की यथेष्ट श्रीवृद्धि तथा उन्नति हुई थी। उनकी छत्रच्छाया में, ब्राह्मणों द्वारा बहुनिन्दित 'भाषा' प्राण-प्रतिष्ठित हो, समृद्ध हुई। इस युग में प्राकृत बँगला को अपनी प्रतिष्ठा तथा महिमा मिली। गौड के सुलतान हुसैनशाह, उनके पुत्र नासिरुद्दीन, नसरतशाह, उनके पुत्र अलाउद्दीन फिरोजशाह—सभी बँगला-साहित्य के प्रति विशेष अनुराग-पोषण करते थे। इन व्यक्तियों के सत्प्रयत्नों से बँगला-काव्य-साहित्य पुष्ट और समृद्ध हुआ था। गौडेश्वर हुसैनशाह के सेनापति परागल खाँ चटगाँव के शासनकर्त्ता थे। ये एवं इनके पुत्र छुटी खाँ दोनो बँगला-साहित्य और संस्कृति के बड़े प्रेमी थे। इन लोगों की कृपा से भी बँगला-साहित्य पुष्ट और सम्पन्न हो सका था।

चण्डीदास इस युग के श्रेष्ठ कवि हैं। प्राक्-चैतन्य युग के ये चण्डीदास 'बड़ चण्डी-दास' के नाम से प्रख्यात हैं। बँगला-साहित्य में एकाधिक चण्डीदास नामक कवि होने के कारण प्राक्-चैतन्य-युग के चण्डीदास 'बड चण्डीदास' के नाम से परिचित हुए। इन्हीं बड़ चण्डीदास-का एक काव्य प्राप्त हुआ था। उसका नाम है श्रीकृष्णकीर्त्तन। अनुसन्धानो-परान्त सिद्ध हो गया है कि बड़चण्डीदास की पदावली ही बंगला-गीतिकाव्य का प्राचीनतम निदर्शन है। गीतिकाव्य में जो स्वतः स्फूर्त्त भाव, उन्मुक्त स्वर एवं कवि का आत्मगत आवेग रहता है—वे सभी 'बड़ चण्डीदास' की पदावली में मिलते हैं—

'आभर भरए मोर नयनेर पानी।
बाँशीर शबदें बड़ायि हारायिलों परानी॥
आकुल करितें किबा आम्हार मन।
बाजाए सुसर बाँशी नान्देर नन्दन॥

पाखी नहीं तार ठाइ उड़ि पड़ि जाओं।
मेदनी बिदार देउ पसिआँ लुकाओं॥
बन पोड़े आग बड़ायि जगजने जानी।
मोर मन पोड़े येन्ह कुम्भारेर पनी॥
आन्तर सुखाए मोर कान्ह अभिलासे।
बासली शिरे वन्दी गाइल चण्डीदासे॥'

चण्डीदास के बाद इस युग के उल्लेखनीय कवि हैं—कृत्तिवास। ये पञ्चदश शताब्दी के कवि हैं। कृत्तिवास ने वाल्मीकि-रामायण का अनुवाद किया था, किन्तु कृत्तिवासी रामायण वाल्मीकि-रामायण का अनुवाद होने पर भी उसमें मौलिक कल्पना तथा वर्णन है। चण्डीदास और कृत्तिवास के अतिरिक्त इस समय मालाधरवसु नाम के एक और कवि का आविर्भाव हुआ था। इन्हें गौडेश्वर शमसुद्दीन युसुफ़शाह से 'गुनराज खाँ' की उपाधि मिली थी। जहाँ तक पता चलता है, उस दृष्टि से इनका 'श्रीकृष्ण-विजय काव्य' कृष्ण-लीला विषयक बँगला में प्रथम काव्य है, तथा समस्त बँगला-साहित्य में प्रथम वर्ष और तिथियुक्त ग्रन्थ है। प्राचीन बँगला साहित्य में कविगण केवल अपना नामोल्लेख भर कर देते थे, किन्तु श्रीकृष्ण-विजय में कवि लिखा है—

तेरश पचानइ शके ग्रन्थ आरम्भ।
चतुर्दश दुइ सके ग्रन्थ समापन॥

इस युग में श्रीखण्ड-निवासी यशोराज खाँ नाम के एक कवि ने कृष्ण-लीला-विषयक एक काव्य-ग्रन्थ की रचना की थी। कवि यशोराज को भी गौड के सुलतान का आश्रय मिला था। इस समय विजयगुप्त का पद्म-पुराण अथवा बेहुला लक्खीन्दर की कहानी रची गई थी। सञ्जय, कवीन्द्र परमेश्वर तथा श्रीकर नन्दी नामक तीन कवियों ने इसी युग में महाभारत का अनुवाद किया था। इस युग के कवियों की भाँति एकमात्र चण्डीदास ही मौलिक सर्जन-प्रतिभा-सम्पन्न थे। विजयगुप्त ने लौकिक कथा के आधार पर 'मनसामङ्गल' की रचना की थी। मालाधर वसु, सञ्जय, कवीन्द्र, परमेश्वर, श्रीकर नन्दी आदि ने अनुवाद-काव्य रचा था।

भाषा की नींव दृढ करने के लिए अनुवाद की आवश्यकता रहती है। इसलिए, प्रत्येक भाषा और साहित्य के इतिहास में यह सिद्ध है कि प्रथम युग में मौलिक रचनाओं की तुलना में अनुवाद को ही प्राधान्य मिला करता है। बँगला-साहित्य के लिए भी इसका व्यतिक्रम सम्भव नहीं हुआ। स्वतंत्र रचना से अधिक अनुवाद और अनुकरण के द्वारा ही प्राक्-चैतन्ययुग का बँगला-काव्य-साहित्य विकसित हुआ। किन्तु, चतन्यदेव के आविर्भाव से बँगला साहित्य में एक नूतन अध्याय का सूत्रपात हुआ। इस युग में सङ्कीर्णता तथा गतानुगतिकता से मुक्त होकर बँगला-साहित्य सम्पूर्ण नूतन विशिष्टता से महिमामण्डित हो उठा। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल तथा अँगरेजी-साहित्य के इतिहास में

एलिजाबेथीय युग, जो गौरवपूर्ण स्थान अधिकृत किये हुए हैं, बँगला साहित्य में चैतन्य-युग भी वही स्थान रखता है। चैतन्यदेव के आविर्भाव ने बंगाल में एक अभिनव भक्तिधारा का स्रोत प्रवाहित किया था। उस भक्तिरस में दीक्षित होकर इस युग के कवि काव्य-रचना कर गये हैं।

जीवन-चरित-साहित्य इस युग का अन्यतम दान है। चैतन्यदेव तथा उनके पार्षदों के जीवनचरितों के आधार पर इस युग मे कई जीवनी-काव्य रचे गये थे। उनमें—गोविन्द दास का कडचा, जयानन्द का चैतन्य मगल, वृन्दावनदास का चैतन्य-भागवत, लोचनदास का चैतन्य मगल एव कृष्णदास कविराज का चैतन्य-चरितामृत—चैतन्यदेव की अलौकिक जीवन-गाथा विभिन्न प्रकार तथा विभिन्न दृष्टिकोणों से वर्णित हुई है। 'गोविन्ददास का कडचा' गोविन्ददास नामक चैतन्यदेव के एक सहचर द्वारा रचा गया है। इसकी भाषा और वर्णन सहज, सरल और सुन्दर है। जयानन्द के 'चैतन्यमंगल' में बहुत-से ऐतिहासिक तथ्य हैं, वृन्दावन दास का 'चैतन्य भागवत' भागवत के आदर्श पर चैतन्यदेव की जीवनी है। लोचनदास पदावली-रचयिता कवि थे। अतः उनके द्वारा रचित 'चैतन्य-मगल' मे कल्पना की उडान अत्यधिक है, फलस्वरूप चैतन्यदेव का जीवनचरित देवलीला की कोटि में पहुँच गया है। कृष्णदास कविराज का 'चैतन्य चरितामृत' अपूर्व ग्रन्थ है। इसमें जीवनचरित, वैष्णव-दर्शन तथा भक्तितत्त्व का सुन्दर निर्वाह हुआ है। भाषा भी बडी सरल है। यह ग्रन्थ असाधारण पाण्डित्यपूर्ण है। चैतन्यदेव के सहचरों तथा भक्तों के जीवनचरित भी इस युग में रचे गये। भक्ति-रत्नाकर, प्रेमविलास, अद्वैत प्रकाश आदि चरित-काव्यों में चैतन्यदेव के पार्षदों एव भक्तजनों की जीवनियाँ लिखी गई हैं। बँगला-साहित्य की प्रधान सम्पद् है—उसका पदावली साहित्य। इस युग में यही पदावली-साहित्य विशेष समृद्ध तथा पुष्ट हुआ था। प्राक्चैतन्य-युग में भी पदावली साहित्य था, किन्तु महाप्रभु-प्रवर्त्तित प्रेम और भक्ति-धर्म ने इस पदावली-साहित्य को जैसे नये मंत्र, नये स्वर तथा नये प्राण से सजीवित कर दिया था। चण्डीदास तथा विद्यापति यद्यपि चैतन्यदेव के समसामयिक नहीं थे, तथापि पदावली-साहित्य की आलोचना के अवसर पर इनके नामों का उल्लेख करना अत्यावश्यक है। चण्डीदास की असंख्य कविताएँ हैं। भावों की गम्भीरता में, भाषा की माधुरी में, छन्दों के झङ्कार में ये अनूठी हैं। यहाँ एक उदाहरण में उनके विशिष्ट गुणों का परिचय प्राप्त हो सकेगा—

सदाइ धेयाने चाहे मेघ पाने
ना चले नयनेर तारा।
आउलाइया बेनी फुलये गाँथनि
देखये खसाये चुलि।
हसित बदने चाहे मेघपाने
कि कहे दुहात तुलि॥
एक दिठ करि मयूर मयूरी
कण्ठ करे निरीखने।

[राधिका कृष्ण-प्रेम में कंगालिन बनकर मेघ में श्रीकृष्ण का रूप देख रही हैं। वे अपने कृष्ण कुन्तल-पाश में, मयूर-मयूरी के कण्ठ में, श्रीकृष्ण के रूप की छाया देख पा रही हैं।]

विद्यापति का जन्म यद्यपि मिथिला में हुआ था एवं उन्होंने मैथिली-भाषा में अपनी पदावली रची थी, तथापि मिथिला के साथ बंगाल का जो घनिष्ठ सम्पर्क उस समय बना हुआ था, उसके कारण विद्यापति सदा बंगाल के अपने कवि के रूप में परिचित रहेंगे। चण्डीदास की कविता में सुख के बीच में भी दुःख, मिलन के बीच में भी विच्छेद की आशङ्का बनी रहती है, किन्तु विद्यापति के सुख में लेशमात्र भी दुःख की रेखा नहीं पड़ने पाती, विरह की आशङ्का में मिलनानन्द कभी व्याहत नहीं होता, इसलिए विद्यापति की कविता में नवीनत्व है। विद्यापति की पदावली की अन्यतम विशेषता यह है कि बहुत से स्थानों में उनकी पदावली में राधाकृष्ण को उपलक्ष्य-मात्र मान पार्थिव प्रेम ही वर्णित हुआ है। उनके बहुत-से ऐसे भी पद मिलेंगे, जिनमें राधाकृष्ण के नामों तक का उल्लेख नहीं किया गया है। इनमें सर्वदेश तथा सर्वकाल के प्रेमी-प्रेमिकाओं का रूप राधाकृष्ण के प्रणय-दर्पण से कवि के काव्य में प्रतिबिम्बित हो उठा है। इस श्रेणी के पदों में मर्त्यवासी प्रेमिक-प्रेमिकाओं की व्यथा-पीड़ा, आशा-आनन्द जैसे मूर्त्त हो उठे हैं। इन कविताओं में अद्भुत सार्वजनीन आवेदन मिलता है। इन सब विशिष्टताओं से पूर्ण यह उद्धरण है—

आजु रजनी हाम भागे पोहायलु
पेखलुँ पियामुख चन्दा
जीवन यौवन सफल करि मानलुँ
दश दिश भेल निरदन्दा
आजु मझु गेह गेह करि मानलुँ
आजु मझु देह भेल देहा
आजु विहि मोहे अनुकूल होयल
टुटल सबहुँ सन्देहा

विद्यापति तथा चण्डीदास के अतिरिक्त ज्ञानदास, गोविन्ददास, बलराम दास, नरोत्तम दास आदि बहुत-से पद-रचयिताओं के द्वारा इस युग का पदावली-साहित्य यथेष्ट उन्नत हो गया था। पदावली-संग्रह-साहित्य इस युग की अतुलनीय साहित्यिक सम्पद् है। आउल मनोहर दास-संकलित 'पद-समुद्र', श्रीनिवास आचार्य के पौत्र राधामोहन ठाकुर का 'पदा-मृत-समुद्र', वैष्णवदास का 'पद कल्पतरु' आदि पदावली संग्रह अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

इस युग में वैष्णव-पदावलियों के साथ-साथ मंगलकाव्य भी रचे जाने लगे थे। लाउसेन की कथा के आधार पर कई 'धर्म-मंगल' काव्य रचे गये थे, जिनमें माणिक गांगुली का धर्म-मंगल, खेलाराम का 'धर्म-मंगल' आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

इस युग में कालकेतु व्याध तथा श्रीमन्त सौदागर की कहानियों का आश्रय लेकर चण्डी-मंगल काव्य भी रचे गये थे। जितने भी चण्डी-मंगल काव्य उपलब्ध हुए हैं, उनमें

माधवाचार्य का चण्डी-मगल तथा कविकंकण मुकुन्दराम चक्रवर्त्ती का चण्डीमगल सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। कविकंकण का वर्णन अत्यन्त सुन्दर तथा स्वाभाविक हुआ है। मध्ययुग के कवियों में विशेषतः दुःख के वर्णन और वास्तव चित्र-अङ्कन में वे बेजोड़ थे। काशीराम-दास रचित महाभारत भी इसी युग की रचना है। चन्द्रावती नामक महिला कवि ने इस युग में रामायण की भी रचना की थी। इस युग का अनुवाद-साहित्य एक मुसलमान कवि आलाओल की रचनाओं से समृद्ध हुआ था। जायसी-कृत 'पद्मावत' का इन्होने बँगला में अनुवाद किया था। आलाओल स्वयं वैष्णव कवि थे। इनके रचे राधाकृष्ण-लीलाविषयक कुछ पद भी प्राप्त हुए हैं। भावो की गभीरता, अनुभूति की प्रगाढता एवं वर्णन-कुशलता मे ये पद अपूर्व माधुर्यपूर्ण हैं।

अन्त मध्ययुग—चैतन्योत्तर काल के कवियों मे शाक्त पदावली रचयिता रामप्रसाद तथा अन्नदा-मगला के रचयिता भारतचन्द्र विशेप उल्लेखनीय हैं। रामप्रसाद श्यामा-सगीत (कालिका-सम्बन्धी) के आदिकवि हैं, आगमनी तथा विजया (दुर्गा-सम्बन्धी) गान के आदि कवि हैं। किंतु रामप्रसाद की ख्याति उनके काव्य के उत्कर्ष के लिए नहीं वरन् आत्म-निवेदन, तन्मयता तथा भक्ति की सहज अभिव्यक्ति के लिए फैली है।

अष्टादश शताब्दी के श्रेष्ठ कवि भारतचन्द्र का अन्नदामगल मगल-कोटि का काव्य है। यह ग्रथ तीन काव्यो का सग्रह है—अन्नदामगल, कालिकामगल एव विद्यासुन्दर। इनकी रचनाओं में जैसे अलकारों का प्राचुर्य है, उसी प्रकार भाषा और छन्द का सौंदर्य भी है। शब्दों पर इनका अधिकार अद्भुत था—बँगला के निजी शब्दों के साथ सस्कृत अरबी और फारसी का ऐसा सुन्दर मिश्रण किया है कि भाषा बड़ी ही प्रभावोत्पादक तथा चमत्कार-पूर्ण हो गई है। विभिन्न भाषाओं के शब्दों का पुट उनकी अपनी विशेषता है। भारत चन्द्र के पश्चात् बँगला-साहित्य का एक नूतन अध्याय प्रारम्भ होता है और तबसे आधुनिक युग की उत्पत्ति मानी जाती है।

बँगला-साहित्य के आधुनिक युग की आलोचना करने से पूर्व इसकी मध्ययुग तक की विशेषताओं का सक्षिप्त उल्लेख कर देना उचित होगा। विश्व के समस्त साहित्यों का प्रथम आत्म-प्रकाश पहले पद्य में हुआ। बँगला भी अपवाद नहीं। अतः प्रथमतः इस युग का साहित्य केवल पद्य में ही उपलब्ध है। द्वितीयतः इस युग के साहित्य की विषयवस्तु अत्यन्त ही सीमाबद्ध रही तथा इतिवृत्तात्मकता एव गतानुगतिकता इस युग के साहित्य के अन्यतम लक्षण हैं। इस युग के कवियों की प्रतिभा लौकिक धर्म-साहित्य, अनुवाद जीवन-चरित साहित्य, पदावली साहित्य आदि की रचना में विकसित हुई थी। तृतीयत॰ इस युग के कवियों की जीवनी एव समय आदि विषयों का विवरण अत्यन्त ही स्वल्प ज्ञात हो सका है।

सन् १८०० से १८२५ ई० की अवधि में कविवालों के गाने (कवि से निम्न स्तर के रचयिता), पाचाली गान (तुकबन्दी), टप्पा गान (समस्या पूर्त्ति-जैसी कविता) आदि रचे गये थे। यह समय बँगला-साहित्य के लिए एक युग सन्धि काल है। विविध प्रकार की यात्राओं में (पर्दा-विहीन अभिनय, नौटकी की भाँति) खेले जानेवाले विभिन्न प्रकरणों

पर रचित रचनाएँ भी इस युग की विशेषता है। कविवालों में राम बसु, आशु गोसाइ, ऍटनी फिरंगी, हरु ठाकुर, भोला मयरा, रासू, नृसिंह आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पाचाली-रचयिताओं में दशरथि राय, टप्पा-रचयिताओं में रामनिधि गुप्त तथा यात्रा-लेखकों में गोपाल उड़िया के नाम अत्यधि प्रसिद्ध हैं। इन व्यक्तियों की कविताओं मे वीच बीच में कवित्व तथा कल्पना का सुन्दर स्फुरण होने पर भी गान-रचयिताओं अथवा पांचाली, टप्पा-रचयिताओं को प्रथम श्रेणी की कविमर्यादा नहीं दी जा सकती। इस युग-सन्धिकाल के अवसान पर ईश्वरचन्द्र गुप्त का (१८११-५८) काव्य प्रतिभा का विकास हुआ था। ईश्वरचन्द्र में ही आधुनिकता का उन्मेष दिखाई देने लगा था। उनमें एक ओर युग सन्धिकाल की विशेषताओं का प्रभाव दिखाई देता था तो आधुनिकता के उपकरण भी स्पष्ट परिलक्षित होते थे। उनकी कविताओं की अन्यतम विशेषता है—स्वदेश-प्रेम। गुप्त कवि ने बॅगला-साहित्य में सर्वप्रथम स्वदेश प्रेम-मूलक कविताएँ लिखीं। उनकी एक और विशेपता है—व्यग्य-कविता-रचना तथा प्रत्यक्ष वर्णन-निपुणता। 'सवाद-प्रभाकर' नाम का समाचार-पत्र प्रकाशित कर नवीन लेखकों को प्रोत्साहित करना भी इनका काम था। वीच वीच में सर्वश्रेष्ठ रचनाओं के लिए पुरस्कार-घोषणा भी की जाती थी। फलस्वरूप इस 'सवाद-प्रभाकर' को केन्द्र मान एक लेखक-गोष्ठी पनपी। रंगलाल वंद्योपाध्याय, मनोमोहन वसु, द्वारकानाथ अधिकारी, वंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, दीनबन्धु मित्र सभी को 'सवाद-प्रभाकर' की कृपा से लेखनी चलाने का अवसर मिला और सिद्धहस्त लेखक वन सके।

कविवर माइकेल मधुसूदन दत्त का आविर्भाव वगाल के जातीय जीवन के एक ऐसे सन्धि-क्षण में हुआ, जव शुद्ध रुचि के अभाव से, यमक अनुप्रास के प्राचुर्य एवं अर्थहीन शब्दविन्यासप्रियता के कारण ॲगरेजी-शिक्षित नूतन सम्प्रदाय अपनी मनस्तुष्टि की सामग्री न पा पाश्चात्य काव्यरस-पिपासु हो चला था। माइकेल असाधारण प्रतिभा लेकर बॅगला-साहित्य के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। प्रकृतिदत्त शक्ति, प्रतिभा तथा असाधारण आत्मविश्वास के सहारे वंगाल के इस नवीन कवि ने पाश्चात्य साहित्य से नाना प्रकार के उपकरणों का सग्रह कर अपनी मातृभापा को परिपुष्ट किया—भाव-वैचित्र्य तथा गाभीर्य से वेंगला-भाषा को समृद्ध किया। मधुसूदन ने सिद्ध कर दिखाया कि वॅंगला-भापा निर्जीव नहीं है, यह सजीव भावधाराओं की वाहिक वन सकती है, दृढता और भाव-प्रकाशन में यह किसी भी उन्नतिशील भाषा की समक्षता कर सकती है। मधुसूदन प्रधानतः कवि थे एव वॅगला-काव्य-साहित्य में उनका प्रथम दान है—'तिलोत्तमा-सम्भव काव्य। नाटक-रचनाओ के द्वारा उनकी प्रतिभा को वल मिला और शर्मिष्ठा, पद्मावती, 'एकेइ कि वले सभ्यता' तथा 'वुड़ो शालिकेर घाडे रोंया' आदि उल्लेखनीय नाटक एव प्रहसन इन्होंने रच डाले। 'तिलोत्तमा-सम्भव-काव्य' में छन्दो का जो विशेपत्व तथा अभिनवत्व है, उसीका सुन्दरतर रूप 'मेघनाद-वध' काव्य में मिलता है। 'मेघनाद वध' काव्य की मूल आख्यायिका रामायण से गृहीत होने पर भी मधुसूदन ने चिरपुरातन आदर्श त्याग कर राक्षसों के प्रति अनुकम्पा तथा सहानुभूति प्रदर्शित की है। कवि के वर्णन-गुण के चमत्कार से राक्षस-परिवार के लिए हमारी आँखें भी अश्रु-सजल हो उठती हैं। उनके स्वदेश एवं स्वजाति-प्रेम से हम मुग्ध हो जाते हैं। उनके दु ख से और

विपर्यय से हमारा अन्तर उद्वेलित हो उठता है। मेघनाद-वध काव्य करुण रस प्रधान है, यद्यपि कवि ने काव्य के प्रारम्भ में कहा है— 'गाइब मा वीररसे'—तथापि इस काव्य में करुण रस ही आद्योपान्त प्रधान हो उठा है। रावण के करुण विलाप से काव्य का प्रारम्भ होता है तथा मेघनाद की मृत्यु हो जाने पर प्रमीला के सहमरण एव रावण के मर्मभेदी आर्त्तनाद से काव्य की समाप्ति होती है—

'सेविनु शिवेरे आमि बहु यत्न करि,
लभिते कि एइ फल? केमने फिरिब,

सान्तनिब माये तव, के कबे आमारे?
हा पुत्र, हा वीर श्रेष्ट। चिरजयी रणे
हा मात राक्षसलक्ष्मि! कि पापे लिखिला
ए पीड़ा दारुण विधि रावणेर भाले?'

मधुसूदन के उपरान्त बँगला काव्य-साहित्य में हेमचन्द्र वद्योपाध्याय एवं नवीनचन्द्र सेन के नाम उल्लेखनीय हैं। मधुसूदन की भाँति हेमचन्द्र ने भी महाकाव्यों की रचना की थी— वृत्तसहार तथा वीरबाहु काव्य। इनके अलावा उन्होंने बहुत से खण्ड-काव्यों की रचना भी की थी। नवीनचन्द्र सेन के काव्य की मूलवस्तु है—स्वदेश प्रेम। 'पलाशीर युद्ध' यद्यपि उनकी प्रथम रचना है, तथापि उसमें उनका स्वदेश-प्रेम एव अधःपतित वंगजन के लिए तीव्र वेदना अत्यन्त स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई है।

पाश्चात्य साहित्य के आधार पर नूतन गीति-कविताओं के आदिकवि हैं—विहारीलाल चक्रवर्त्ती। काव्यसृष्टि में व्यक्तिगत स्वतन्त्र प्रेरणा के पोषक हैं ये ही विहारीलाल। इनके भाव, भाषा और छन्द गीति-कविताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी बन पड़े हैं। विहारीलाल द्वारा प्रवर्त्तित पथ पर रवीन्द्रनाथ ने अपनी यात्रा प्रारम्भ की। इस युग के सर्वश्रेष्ठ कवि रवीन्द्रनाथ हैं। रवीन्द्रनाथ प्रधानतः कवि होने पर भी सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न होने के कारण साहित्य का ऐसा कोई अग नहीं रहा जो उनसे अछूता रह गया हो और उनके स्पर्श से उज्ज्वल न हो उठा हो।

काव्य-साहित्य में विचित्रता प्रदान कर उसे सजीवित करने का श्रेय रवीन्द्रनाथ को है। उनका काव्य किसी विशेष विषय, सुर, छन्द अथवा कल्पना को आश्रय बना मुखरित नहीं हो उठा, वरन् वेग एव गति, प्राण एव परिवर्त्तन—रवीन्द्र-काव्य की विशेषताएँ हैं। रवीन्द्रनाथ के गान उनकी कविताओं की तरह बँगला साहित्य के अमूल्य सपद् के रूप में स्वीकृतिलाभ कर चुके हैं। इन गानों में शब्द-चयन और सुर का अपूर्व समन्वय हुआ है। रवीन्द्रनाथ के गान कई भागों में विभक्त किये जा सकते हैं—देश प्रेम मूलक, भक्ति-मूलक तथा ऋतु-सम्बधी। ऋतुओं के गानों में कवि-प्रतिभा का परिचय मिलता है, तो भक्तिमूलक गानो की विशेषता है—भावगाम्भीर्य एवं गम्भीरता तथा देश-प्रेममूलक गानों में बलिष्ठता एव सारे दुःखों को पराजित करने की आकांक्षा मूर्त्त हो उठी है। उनके उच्चाग सगीत भी अपूर्व बन पडे हैं। वास्तव में रवीन्द्र-काव्य का स्वरूप-निर्णय करना और वह भी सक्षेप में, दुस्साहस करना है।

रवीन्द्रनाथ ने जिस युग में काव्य रचना की, उस युग के दो और कवियों के नाम स्मरणीय हैं। इनमें से एक हैं—काजी नजरुल इस्लाम और दूसरे हैं—सत्येन्द्रनाथ दत्त। काजी नजरुल इस्लाम विप्लव के कवि हैं। इनकी कविताओं में बलिष्ठ युवशक्ति का दुर्निवार आत्मप्रकाश हुआ है। इस बलिष्ठता को प्रकट करने के लिए इन्होंने यथेष्ट अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग किया है। ये अन्यतम संगीत-स्रष्टा भी हैं। इनकी कविता की बलिष्ठता तथा साहस इस उद्धरण से ज्ञात हो जायगा—

बल वीर, बल उन्नत मम शिर
शिर नेहारि आमार नत शिर ऐ
शिखर हिमाद्रिर।
बल महा विश्वेर महाकाश फाड़ि
चन्द्र सूर्य ग्रह तारा छाड़ि
द्युलोक, भूलोक, गोलक भेदिया
खोदार आसन आरश छेदिया
उठियाछि आमि चिर विस्मय
विश्व विधातृर

अथवा—

साम्येर गान गाइ
आमार चक्षे पुरुष रमणी कोनो
भेदा-भेद नाइ।

रवीन्द्रनाथ ने स्वयं सत्येन्द्रनाथ को 'छन्देर राजा' (छन्दों का राजा) कहकर स्वीकार किया था। संस्कृत के छन्दों का प्रयोग आपने बँगला में किया था। साथ ही अँगरेजी सुर भी बँगला छन्दों में प्रयुक्त कर नूतन माधुर्य प्रदान किया था—

पाल्की चले
गगन तले
सात बेहारा
योयान तारा

अथवा—

बाघेर सगे युद्ध करिया आमरा बाँचिया आछि
आमरा हेलाय नागेरे नाचाइ सापेरि माथाय नाचि।

आधुनिक युग के कवियों द्वारा नवीनतर प्रयोग और एक धारा-विशेष के प्रवर्त्तन की चेष्टा की जा रही है। विषय-वस्तु के अभिनवत्व की खोज का प्रयास किया जा रहा है। परम्परानुगत विषय-वस्तु का अनुसरण न कर वे समाज की अवहेलित, उपेक्षित, निपीड़ित मानव की पुकार को अपने काव्य की विषय-वस्तु बना रहे हैं। इस युग के कवियों में प्रेमेन्द्र मित्र, जीवनानन्द दास, बुद्धदेव बसु, सुकान्त भट्टाचार्य, सुभाष मुखोपाध्याय, दीनेश दास आदि

के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रेमेन्द्र मित्र ने ही सर्वप्रथम इन उपेक्षितों को काव्य में स्थान दिया। वे ही सर्वप्रथम गा उठे—

आमि कवि एइ कुमोरर आर कामारर।

रवीन्द्रनाथ में Free Verse—गद्य-पद्य लिखने की जो धारा विकसित हुई थी, उसीका परवर्ती पदक्षेप इस युग के कवियों में परिलक्षित होता है।

अब तक बँगला साहित्य की एकांगी झलक मिलती रही। बँगला-गद्य के सम्बन्ध में आलोचना करने से पूर्व यह स्मरण रहे कि मध्ययुग पर्यन्त बँगला के लिए केवल काव्य साहित्य ही उपलब्ध था। कवि ईश्वरचन्द्र गुप्त से जो युग आरम्भ होता है, तब से गद्य का प्रयोग साहित्य-क्षेत्र में होने लगा। राजा राममोहन राय ने उन्नीसवीं शताब्दी में साहित्य के वाहन के रूप में बँगला-गद्य का प्रयोग किया था, किन्तु बँगला साधुभाषा में गद्यरीति को ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने पूर्णता प्रदान की। बँगला-साधु-भाषा में प्रयुक्त अधिकांश शब्द संस्कृत तत्सम होते हैं। अतः विद्यासागर की रचनाओं में संस्कृत शब्दों का अधिक प्रयोग स्वाभाविक ही है। किन्तु, विद्यासागर की भाषा सर्वत्र तत्सम-बहुल नहीं है। योग्य स्थान और वातावरण मिलने पर सुललित तत्सम शब्दों तथा तद्भव क्रियापदों के प्रयोग उनकी शैली का परिचय देते हैं। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने मुहावरों का भी प्रयोग किया है। इस उद्धरण में उनकी इस कुशलता का परिचय मिल जायगा—

"जयश्रीर ज्ञानोदय हइल। तखन से प्रियतमा के मृत स्थिर करिया सखीर निकटे गिया पूर्वापर समस्त व्यापार ताहार गोचर करिया कहिल—'सखि आमि विषम विपदे पडियाछि, कि उपाय करि बल, गृहे गिया केमन करिया पिता मातार निकट मुख देखाइब, ताँहारा कारण जिज्ञासिले कि उत्तर दिब।"

प्यारी चाँद मित्र ने बँगला चलित भाषा के गद्य में अभिनव लघुभंगिमा का प्रवर्त्तन किया था। पाश्चात्य आदर्श पर आधारित नावेल (उपन्यास) का सूत्रपात प्यारी चाँद मित्र अर्थात् टेक चाँद ठाकुर-रचित 'आलालेर घरेर दुलाल' द्वारा हुआ—

"हेदुर लेड़का हए माफिक पाल पार्वनकरा मोनासिब, आर दुनियादारी करते गेले भाला-बुरा दुई चाई—दुनिया साच्चा नय—मुइ एक साच्चा हये कि करब?"

भाषा और भाव की दृष्टि से जिन लोगों ने प्यारी चाँद का अनुवर्त्तन किया था, उनमें कालीप्रसन्न सिंह प्रधान हैं। हुतोम पैंचार नक्शा एकदम कथ्य भाषा में लिखित पुस्तक है। इसमें साधुभाषा का बेकार मिश्रण नहीं किया गया है, पर यह भाषा रससृष्टि की दृष्टि से अनुपयुक्त है—

"इंराजी पड़ले पाछे खाना खेये क्रश्चान हये जाय एइ भये तिनि छेलेगुलि के इंराजी पढ़ान नि—अथच विद्यासागरेर उपोर भयानक विद्वेष निबन्धन संस्कृत पढ़नाओ हये उठे नाइ—विशेषत शूद्रेर संस्कृतते अधिकार नाइ एटिओ तॉर जाना छिलो।"

वंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय की रचना-शैली मौलिक है। उनकी भाषा भाव-प्रकाशोपयोगिनी है एवं अनुगत है। भाषा और भाव का सुन्दर समन्वय बन पड़ा है—

"येमन नदी प्रथम जलोच्छ्वासकाले अत्यन्त वेगवती, किन्तु जोयार पुरिले गम्भीर जल शान्तभाव धारण करे, तेमनि नगेन्द्रेर सम्पूर्ण शोक-प्रवाह एक्षणे गम्भीर शान्तिरूपे परिणत हइयाछिल। ये दु ख, ताहा किछुइ कमे नाइ, किन्तु अधैर्येर ह्रास पाइया आसियाछिल...... ...."

रवीन्द्रनाथ की गद्य-रचना की अन्यतम विशेषता उनके व्यक्त करने का असाधारण सरस ढंग है। रवीन्द्रनाथ की गद्यरीति में वाक्यालङ्कार के बीच उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, श्लेष और विरोध का प्रयोग अत्यधिक हुआ है। किन्तु, रवीन्द्रनाथ की गद्य-रचना का अलङ्कार भूषणभार नहीं है, वह स्वाभाविक तथा सहज-सौन्दर्य है।

छोटी कहानी-रचना मे रवीन्द्रनाथ के बाद ही प्रभातकुमार मुखोपाध्याय का नाम लिया जाता है। प्रभातकुमार की भाषा के मूल में रवीन्द्र-प्रभावित वंकिम की पद्धति है। वह सरल, अनाडम्बर, हृदयग्राही, सरस, उज्ज्वल और सुन्दर है।

प्रमथ चौधुरी बँगला-गद्य की एक विशेष रीति के प्रवर्त्तक हैं। यह वीरवली ढंग है, क्योंकि प्रमथ चौधुरी 'वीरबल' छद्मनाम से सरस निबंध-रचना किया करते थे। इस भाषा का प्रधान विशेषत्व यह है कि कथ्य भाषा को ही मूलरूप से लिया गया है, पर उसमे तत्सम शब्द एवं वाक्यांश भी यथेष्ट मिलते हैं—

"आमादेर मन सहजे एवं शिक्षार गुणे एतटा वैषयिक ये विषयेर अवलम्बन छेड़े दिले आमादेर मनेर क्रिया बन्ध हय, बलबार कथा किछु थाके ना, हाओयार ऊपर चला यत सहज, फॉकार ऊपर लेखाओ तत सहज...... ...."

शरतचन्द्र की रचना-रीति अपूर्व है। नारी-सुलभ अतिशयोक्तिपूर्ण वाक्यों का प्रयोग शरतचन्द्र की भाषा का एक प्रधान वैशिष्ट्य है। उनकी भाषा का सर्वप्रधान गुण यह है कि वह कथा की अनुरूप वाहिका, स्वच्छ एवं मनोरम है—

"आर सामाजिक बाधा आमादेर दुजनेर मध्ये ये कत बड छिल, ए शुधु ये तिनिइ जानतेन, आमि जानतुम ना, ता नय। भावलेइ आमार बुकेर समस्त रस शुकिये काठ हये उठत, ताइ भावनाय एइ विश्री दिकटाके आमि दुहाते ठेले राखतुम।"

बँगला-गद्यरीति की उत्पत्ति और क्रम विवर्त्तन की आलोचना की गई; पर साहित्यिक और उनकी रचनाएँ इतनी हैं कि केवल नामोल्लेखकरण भी इस समय सम्भव नहीं होगा।

वर्त्तमान बँगला-साहित्य मे एक नूतन अध्याय का आरम्भ हो गया है। अबतक समाज में जो उपेक्षित, निपीड़ित थे, उनके जीवन को केन्द्र मान जिन साहित्यिको ने नय साहित्य की रचना मे अपनी लेखनी उठाई, उनमें माणिक बंद्योपाध्याय, शैलजानन्द मुखोपाध्याय, ताराशकर बंद्योपाध्याय, नारायण गगोपाध्याय, बुद्धदेव बसु आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। छोटी कहानियो की रचना मे आशापूर्णा देवी, प्रेमेन्द्र मित्र, विभूति-भूषण मुखोपाध्याय आदि प्रसिद्ध हैं।

समसामयिक बँगला-साहित्य के सम्बन्ध मे अभी कुछ भी कहने का अवसर नहीं आया है, विशेष रूप से निर्धारण कर कुछ कहना कठिन है। यह परीक्षण एवं नवीन मनोभावों के सकलन का सन्धि-क्षण है—केवल प्रयोगो का युग है। नवीन साहित्यिकों की परीक्षा, साधना सफल होगी कि नहीं, एकमात्र युग उसका साक्षी देगा और महाकाल बतला सकेगा।

—श्रीरेवतीरंजन सिन्हा

असमीया भाषा और साहित्य

असम

भारतवर्ष के उत्तर-पूर्व सीमान्त पर अवस्थित असम एक छोटा-सा राज्य है। बहर के लोगों ने इसके बारे मे कल्पना ही अधिक की है, सही परिचय पाने की चेष्टा कम। उनलोगों के लिए यह एक मत्र-तंत्र और जादू-टोनो का प्रदेश है, भयानक जीव-जन्तु और जगल-पहाड़ो का राज्य है—जहाँ सदा बाढ और भूकम्प आते रहते हैं। अधिक-से-अधिक लोग वहाँ के कामाख्या-मंदिर, गुवाहाटी शहर, ब्रह्मपुत्र नद और स्वर्गीय बारदलोईजी को जानते हैं। पर असल में असम इन सबसे ऊपर और भी कुछ है, और भी बहुत-कुछ है।

यह भारत का एक बहुत ही सुरम्य प्रदेश है, जहाँ प्रकृति अपने सर्वाधिक सजीव और आकर्षक रूप में प्रकट हुई है। यह बापू का 'मनोहर असम' और पटेल का 'प्राकृतिक उद्यान' है। यहाँ मन्त्र और जादू हैं प्रकृति में, जो किसी भी अजनबी को तुरन्त अपना बना लेते हैं। जीवन यहाँ का नृत्य और सगीतमय है—सादा-सीधा, पर बड़ा रँगीला। किन्तु, आज तो हमारा विषय है—असमीया भाषा और साहित्य। इसलिए उसके जीवन के बारे में—उसकी सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक परिस्थिति के बारे में हम यहाँ चर्चा नहीं कर सकते।

असम एक अति प्राचीन राज्य है। रामायण और महाभारत-काल मे यह प्रागज्योतिषपुर तथा कामरूप नाम से प्रख्यात था। इसका प्राचीन इतिहास बड़ा गौरवपूर्ण रहा है। पर, दुर्भाग्य की बात है कि उसे न तो भारतीय इतिहास मे ही कोई स्थान मिला है और न अन्य प्रकार से उसके विषय में जानने का हमने कोई चेष्टा ही की है। कारण चाहे जो भी हो, पर यह सत्य है कि यह राज्य आज भी मारे देश के लिए एक गूढ पहेली-सा बना हुआ है।

असमीया भाषा और साहित्य का भी यही हाल है। भारत के बहुत कम लोगों को इनके बारे मे जानकारी है। हम सक्षेप में आज इन्हीं विषयों पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

असमीया भाषा

सन् १९५१ ई० की लोक-गणना के अनुसार इस राज्य की जनसख्या नब्बे लाख से कुछ ऊपर है, और असमीया भाषा बोलनेवालो की सख्या लगभग पचास लाख है। सुनकर आश्चर्य होगा कि यहाँ असमीया के अलावा करीब एक सौ और भी छोटी-मोटी भाषाएँ चलती हैं।

भारतीय संविधान द्वारा स्वीकृत चौदह भाषाओं में असमीया भी एक है। भाषा-विशेषज्ञों के मतानुसार असमीया भाषा का विकास भी बँगला, उड़िया और मैथिली की तरह मागधी-अपभ्रंश से हुआ है। किन्तु, इसपर तिब्बती-बर्मन भाषाओं का प्रबल प्रभाव पड़ा है। इसलिए इसके रूप में कुछ विशेष परिवर्त्तन आ गया है। असल में असमीया एक सामासिक (Composite) भाषा है, जिसके शब्द-भाण्डार में आर्यभाषाओं की प्रमुखता रहने पर भी यहाँ की प्रचलित खासिया, बडो, आहोम आदि अनार्य भाषाओं का भी एक खास स्थान है। इसके स्वतंत्र रूप को स्वीकार करते हुए डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी लिखते हैं—"असमीया अपनी एक स्वतन्त्र राज्य-सीमा तथा सामाजिक जीवन के अन्दर विकसित हुई जो कालान्तर में एक स्वतन्त्र भाषा बन गई।"

सातवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रसिद्ध चीनी परिव्राजक ह्वेनसांग यहाँ आया था। उस समय भास्करवर्मा कामरूप देश के राजा थे। अपनी यात्रा-पुस्तक में तत्कालीन कामरूपी यानी असमीया भाषा के बारे में ह्वेनसांग ने लिखा था—"कामरूप की जन-भाषा मध्य-भारत की भाषा से प्रायः मिलती-जुलती-सी है, दोनों में बहुत कम भेद मालूम होता है।" इस कथन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि सातवीं शताब्दी के पूर्व भाग में ही मागधी-अपभ्रंश का इस प्रदेश में प्रचलन और विस्तार हो चुका था तथा देश-काल व जलवायु की भिन्नता के कारण उसका कुछ रूपान्तर भी होने लगा था। इस तरह बदलते-बदलते दसवीं शताब्दी तक वह एक अलग और स्वतंत्र भाषा बन गई। किन्तु, बाद में भी वह करीब चार सौ वर्षों तक केवल बोलचाल की भाषा ही बनी रही। साहित्यिक रूप तो उसने तेरहवीं शताब्दी में जाकर धारण किया।

आज की असमीया भाषा और भी अधिक समृद्धिशाली है। इसने अरबी, फारसी, अँगरेजी आदि भाषाओं के भी काफी शब्द पचा लिये हैं। इसका शब्द-भाण्डार आज किसी भी प्रान्तीय भाषा के शब्द-भाण्डार से कमजोर नहीं। यह व्रजभाषा की तरह कोमल और श्रुति-मधुर भी है। इसका कारण यह है कि युक्ताक्षर युक्त कड़े और कर्कश शब्दों का प्रयोग इस भाषा में बहुत कम होता है। लोगों ने तोड़-मरोड़ कर भक्ति से भकति, पद्म से पदुम, स्नेह से चेनेह, द्वन्द्व से दन, कीर्त्ति से किरित, स्वर्ग से सरग, उत्सव से उछव आदि बना लिये हैं।

उच्चारण की विशेषता

बँगला की तरह असमीया भाषा में भी अ-कार का उच्चारण ओ-कार-सा होता है। च और छ दोनों वर्णों का एक-सा उच्चारण 'स' होता है। मूर्द्धन्य और दन्त्य वर्णों के उच्चारण में खास भेद नहीं रहता। श, ष, और स इन तीन अक्षरों का उच्चारण ह और ख का मिश्रण-सा तथा क्ष का ख्य होता है।

लिपि

वर्त्तमान असमीया और बँगला-लिपि में कोई खास अन्तर नहीं। सिर्फ बँगला में 'व' अक्षर नहीं है, जो असमीया में है, और 'र', 'ढ़', 'रू' इन तीन अक्षरों की आकृतियाँ दोनों में भिन्न-भिन्न हैं।

साहित्य

साहित्य की भावधारा, जनता की अभिरुचि आदि को ध्यान में रखते हुए अध्ययन की सुविधा के लिए असमीया-साहित्य को हम चार काल-विभागों में बाँट सकते हैं। १ प्राक्-वैष्णव काल, २ वैष्णव-काल, ३. बुरजी या इतिहास काल, और ४. आधुनिक काल।

प्राक्-वैष्णव-काल

असमीया-साहित्य का यह युग कब से प्रारंभ होता है, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सन् १२०० ई० में इसकी समाप्ति मानी जाती है। साहित्यिक असमीया भाषा अब भी अपभ्रंश के गर्भ में ही थी। इस युग की रचनाओं में बिहुनाम, धायनाम, बियानाम आदि प्रकार के लोकगीत तथा डाक-महापुरुष के नीति-वचन प्रमुख हैं। ये लोकगीत अलिखित रूप में रहने के कारण इनकी भाषा मँजते-मँजते अब बिलकुल आधुनिक-सी हो गई है। ये गीत बड़े कोमल, सरल और मर्मस्पर्शी हैं।

वैष्णव-काल

सन् १२०० ई० में आरंभ होकर सन् १६५० ई० में यह युग समाप्त होता है। असमीया-साहित्य का यह स्वर्ण युग माना जाता है। इसमें असमीया-साहित्य ने जो उत्कर्ष प्राप्त किया है, वह आज भी अलभ्य है। हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल के साथ हम इसकी तुलना कर सकते हैं।

वैष्णव-काल के हम पुनः दो भाग कर सकते हैं—(१) प्राक्शंकरदेव-युग और (२) शंकरदेव-युग।

प्राक्शंकरदेव-युग—इस युग के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं माधवकन्दलि। चौदहवीं सदी में ही इन्होंने रामायण का असमीया में अनुवाद किया था। असमीया-साहित्य की यह एक महान् रचना है। तुलसीदासजी के रामचरित मानस की तरह असमीया-जन जीवन में इस असमीया रामायण का एक अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक अनुवाद ग्रन्थ होने पर भी इसके भावों की मौलिकता, वर्णन की सुन्दरता तथा भाषा की मधुरता पर मुग्ध हो जाना पड़ता है। उदाहरण स्वरूप, सीता के मुँह से उर्मिला का रूप वर्णन देखिए—

> त्रैलोक्यमोहिनी कन्या महा रूपवती।
> सुन्दर नासिका दन्त मुकुतार पाति॥
> मृणाल युगल बाहु कृश मध्य देश।
> कमल नयनी आकुंचित केश॥

और देखिए, विराध राक्षस का वर्णन—

> चक्षु येन धोन्द काया अंगारर वर्ण।
> नाक गोट बेंका कुला हेन दुइ कर्ण॥
> लह लह जिह्वा मुख माजत नराय।
> अगनि खयखेक येन गह्वर ज्वलय॥

कितना सजीव और सुन्दर वर्णन है ! शब्दों की झंकार से ही अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

माधवकंदलि का दूसरा प्रसिद्ध काव्य है 'देवजित'। इसमें कवि ने श्रीकृष्ण को देवताओं में सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। वास्तव में माधवकन्दलि के इन दो काव्य-ग्रन्थों की नींव पर ही आगे चलकर शंकरदेव-युग में असमीया वैष्णव-साहित्य की महान् इमारत खड़ी हुई।

दुर्गाबर और पीताम्बर इस युग के दो अन्य लोकप्रिय कवि हैं। इन दोनों कवियों ने भक्तिरस की अपेक्षा शृंगाररस को अधिक प्रधानता दी है। पौराणिक ग्रन्थों से अपने काव्यों की कथावस्तु लेने पर भी देवता इनके हाथों में हाड़-मांस के साधारण मानव बन गये हैं और उनकी लीलाएँ मानवीय जीवन के सुख-दुःख व आवेग-अनुभूतिपूर्ण दैनन्दिन व्यापार। दुर्गावर की श्रेष्ठ कृति 'गीति-रामायण' तथा पीताम्बर की 'उषा-परिणय' है। 'गीति रामायण' वाल्मीकि रामायण का हू-ब-हू अनुवाद नहीं, उसके कतिपय मार्मिक व मनोहर चित्रों का गीतिमय रूप है। इन कवियों के गीतों में लौकिकता की प्रधानता होने के कारण ये बिलकुल लोकगीत-से लगते हैं। सामाजिक उत्सवों के अवसर पर लोग आजकल भी बड़े चाव से इन्हें गाते हैं। दुर्गावर के इस गीत की ओर ध्यान दीजिए। रावण द्वारा सीता-हरण के बाद राम के मन में कैसे विचार उठते हैं—

अ कि लक्ष्मण,
गैला सीता मोक उपेक्षिया !
तृणत शयन मोर वल्कल परिधान ह
एहि दुख मने आलोचिया ॥
आखुटि करिया मोक
मृगक पठाइला हे
तोमाक पठाइला क्रोध करी
मइ ना जानिल तान
कपट हृदय प्राण
तिरि माया बुजिते न पारी ॥

हे लक्ष्मण, क्या सीता मुझे सचमुच छोड़कर चली गई। मेरे पास तृण-शय्या और वल्कल परिधान के अलावा और कुछ है भी तो नहीं। मुझे मृग के पीछे भेजकर और तुम्हें क्रोध से दूर हटाकर इस दुःख से वह बच निकली। मैं अबोध उसके कपटी प्राण और त्रिया-चरित्र को नहीं समझ सका।

यह कवि की अपनी कल्पना है। वाल्मीकि के राम ने ऐसा कभी नहीं सोचा था।

हरिहर विप्र का 'बभ्रुवाहन-युद्ध' इस युग का एक और सुन्दर काव्य है। इसमें कवि की मौलिक प्रतिभा विशेष रूप से प्रकट हुई है। महाभारत के एक साधारण से कथानक को कवि हरिहर विप्र ने अपनी प्रतिभा और कला के बल से एक अति सजीव काव्य में परिणत कर दिया है।

इसके बाद असमीया-भाषा, साहित्य, धर्म व समाज में जबर्दस्त क्रान्ति पदा करनेवाले, महान् कवि शङ्करदेव का आविर्भाव होता है।

शंकरदेव-युग—महापुरुप शङ्करदेव का जन्म सन् १४४७ ई० में हुआ था और तभी से इस युग का प्रारम्भ माना जाता है। असमीया साहित्य ने इस युग में अभूतपूर्व उन्नति की। आज असमीया-साहित्य की जो श्रेष्ठ रचनाएँ मानी जाती हैं वे सब इसी युग की देन हैं। शङ्करदेव वर्त्तमान असमीया जाति और साहित्य के जनक कहे जा सकते हैं। यहाँ की सस्कृति, सभ्यता, धर्म, भाषा, साहित्य और सभी चीजो पर उनके विचारों की गहरी छाप है। उन्होंने असमीया जीवन में आमूल परिवर्त्तन ला दिया था। असम में प्रचलित खूँखार शाक्तमत को उखाडकर शान्त वैष्णव मत की शङ्करदेव ने यहाँ नींव डाली, जो आगे चलकर 'महापुरुपीया धर्म' के नाम से प्रख्यात हुआ। आज भी इस धर्म को माननेवाले विभिन्न सम्प्रदायों के लोग लाखो की सख्या में यहाँ मौजूद हैं।

शङ्करदेव मूलतः एक धर्म-प्रचारक थे। साहित्य उनका साध्य नहीं, साधन-मात्र था। उनकी भक्ति और साधना के मूल आधार थे श्रीकृष्ण भगवान्। उन्होंने करीब तीस ग्रन्थ रचे हैं, जिनमें 'कीर्त्तन घोषा' उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसमें उन्होंने गीता, भागवत, ब्रह्मपुराणादि कई सस्कृत शास्त्रों का सार-मर्म अति सरल और मधुर भाषा में भर दिया है। असमीया साहित्य की यह एक अनुपम रचना है। यह ग्रन्थ शङ्करदेव के समस्त धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिनिधित्व करता है।

असमीया-साहित्य के सर्वप्रथम नाटककार भी शङ्करदेव ही हैं। पारिजात-हरण, कालिय-दमन, रुक्मिणी-हरण, राम-विजय और पत्नी-प्रसाद—ये उनके प्रसिद्ध नाटक हैं। इनकी रचना भी कृष्ण-लीला के प्रचार के लिए हुई थी और धर्म-प्रचार ही इनका मूल उद्देश्य था। प्राचीन यूनानी नाटको के 'कोरस' की तरह इन असमीया-नाटको में 'सूत्रधार' शुरू से अन्त तक रहता है, और विभिन्न घटनाओ का तात्पर्य वह दर्शको को समझाते जाता है।

इन नाटकों में गद्य और पद्य दोनों का व्यवहार हुआ है। नाटक के सभी गीतों को पुनः गद्य मे समझाया गया है। पर, साहित्यिक दृष्टि से नाटकों के गीतांश ही विशेष महत्त्व रखते हैं। असमीया में ये नाटक 'अकीया भाओना' अर्थात् एकाकी अभिनय कहलाते हैं। प्राचीन यूनानी नाटको की तरह इनमें भी सिर्फ एक ही अक रहता है।

शंकरदेव के इन नाटको की भाषा कुछ अजीब-सी है—असमीया और मैथिली का सम्मिश्रण। इसका कारण समझ में नहीं आता। हो सकता है, मथिल कोकिल विद्यापति का अनुकरण करने की चेष्टा के फलस्वरूप ऐसा हुआ हो।

शंकरदेव के परम शिष्य माधवदेव ने भी इसी ढग के कई नाटक लिखे, जिनमे 'चारधरा' बहुत ही प्रसिद्ध है।

अब हम शंकरदेव के उन गीतों को लेते हैं जो 'बरगीत' के नाम से प्रख्यात हैं। ये बरगीत आध्यात्मिक और नैतिक भावों की भित्ति पर अवस्थित हैं। इन गीतो मे भावों की गभीरता

और भाषा की मधुरता देखने ही लायक है। असमीया-जीवन मे इनका इतना महत्त्व है कि विना 'वरगीत' के कोई भी धार्मिक व सांस्कृतिक उत्सव पूर्ण नही होता।

शकरदेव ने दो वार भारत-भ्रमण किया था। वे देश के सभी तीर्थ-स्थानो पर गये। बनारस में महात्मा कवीर से भी वे मिले। इसी यात्रा-काल मे वृन्दावन में उन्होने कृष्णोपासक कवियों के भक्तिरस से परिपूर्ण मधुर गीत सुने होंगे। उन्हीं से प्रेरित होकर शकरदेव ने भी अपने वरगीत लिखे हैं। उन्होंने कुल २४० वरगीत रचे थे, जिनमे से अधिकाश एक अग्निकाड में स्वाहा हो गये। वाद मे उनका आदेश पाकर उनके शिष्य माधवदेव ने दो-सौ के करीव वरगीत और रचे।

शकर-माधव के ये वरगीत असमीया-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। सूर, कवीर और मीरा के गीतों के साथ हम इनकी तुलना कर सकते हैं। भाषा भी इनकी विलकुल व्रज से मिलती-जुलती है। यह एक शकरदेव का वरगीत है.—

अथिर धन जन जीवन यौवन
अथिर गृहु ससार।
पुत्र परिवार सवही असार
करवु काहेरि सार।
कमल दल पल चित चचल,
थिर नहं तिल एक।
नाहि भय भव भोगे हरि हरि
परम पद परतेक।
कहतु शंकर ए दुख सागर,
पार करु हृषिकेश।
तुहु गति मति देहु शिरीपति,
तत्त्व पंथ उपदेश।

वरगीतों की रचना भी धर्म-प्रचार के उद्देश्य से ही हुई थी। शकरदेव के वरगीतो में जीवन की क्षणभगुरता, भोग-विलास की असारता, हरि-भक्ति की महानता आदि भावों की प्रधानता है जब कि माधवदेव के वरगीतों में वालकृष्ण की नटखट लीलाओं के रंग-विरगे सुन्दर चित्र भी हमें देखने को मिलते हैं। असमीया-साहित्य में माधवदेव सूरदास की तरह वात्सल्य-रस के सम्राट् थे।

शकरदेव के वाद माधवदेव ही इस युग के दूसरे श्रेष्ठ कवि हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में इनका जन्म हुआ था और ये शंकरदेव के अति प्रिय शिष्य थे। हिन्दी-साहित्य में जो स्थान तुलसी और सूर का है, असमीया-साहित्य में वही स्थान शकर और माधव का है।

'नाम घोषा' माधवदेव की अमर साहित्यिक कृति है। यह गीता और उपनिषद् की कोटि का अनुपम दार्शनिक ग्रथ है। इसमें प्रायः एक हजार पद हैं। यह सपूर्ण मौलिक रचना नहीं, क्योकि इसके आधे पद संस्कृत से अनूदित हैं। पर भाव, भाषा और शैली की

दृष्टि से इसका साहित्यिक महत्त्व किसी भी मौलिक रचना से कम नहीं। इसके एक-एक अक्षर से कवि की आन्तरिक दास्यभक्ति प्रकट होती है। यह भक्तिरस ही इस ग्रन्थ की आत्मा है। इसके छंदों की झकार, भावों की प्रगाढ़ता और भाषा की मधुरता के बीच से झाँकने लगती है। इसके रचयिता की भक्ति-विह्वल करुण तस्वीर पर जरा गौर कीजिये—

मोर सम पापी लोक नहि केह तिन लोक
तुमि सम नाहि पापहारी।
हरि ओ हरि करुणासागर
करियो कृपा आमाक।
प्रियतम आत्मा सखा इष्ट गुरु
मानिया आछो तोमाक।
चरणत धरो कातर करो हो
इबार नेरिबा मोक।

'इवार नेरिवा मोक'—इस बार तो मुझे मत छोड़ना। लाखों बार इस संसार के चक्कर काटे हैं मैंने? भव-बंधन से मुझे छुटकारा दिलानेवाला और कोई नहीं। मैं तेरे चरणों में पड़ता हूँ—बार बार विनती करता हूँ। इस बार तो मुझे उबार ले भगवन्!

कैसी मार्मिक अपील है। कितना महान् आत्म-समर्पण है!

माधवदेव की और भी पन्द्रह पुस्तकें हैं। उनमें 'भक्ति रत्नावली' और 'वैष्णव कीर्त्तन' काव्य तथा 'चोरधरा' नाटक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। किन्तु, इन सबसे भी अधिक प्रख्यात हैं उनके बरगीत, जिनकी आलोचना हम पहले कर चुके हैं। वास्तव में ये बरगीत उनके भक्त-हृदय की संगीतात्मक अभिव्यक्ति हैं।

शंकरदेव और माधवदेव के पश्चात् इस युग के अन्य प्रसिद्ध कलाकारों में हम राम-सरस्वती और श्रीधरकंदलि के नाम ले सकते हैं। रामसरस्वती ने संस्कृत-महाभारत का असमीया में सुन्दर अनुवाद किया है। इससे असमीया साहित्य को नई प्रेरणा, नया जीवन और नई दृष्टि मिली है। कवि ने अपनी ओर से इस ग्रन्थ में कई नये उपाख्यान और उपकथाएं जोड़ दी हैं। ऐसे स्थलों में हमें तत्कालीन असमीया-जीवन की सुन्दर झाँकियाँ मिलती हैं। इस कवि का 'भीम चरित' नामक काव्य भी अपने ढंग की एक अनूठी रचना है। यह व्यंग्य, विनोद और हास्य का खजाना है। जन-समाज में इसका काफी आदर और प्रचार है।

'कानखोवा' श्रीधरकंदलि की एक अत्यन्त कलापूर्ण, सुन्दर, मौलिक रचना है। यह एक लोरी-गीत के रूप में है। इसमें कवि की कल्पना और कला दोनों ही देखने लायक है। कथावस्तु इसकी बिलकुल साधारण है—बालक कृष्ण सोता नहीं, यशोदा माता उसे डराती है—

घुमटि जायोरे अरे कानाइ
हुरे कानखोवा आसे।
सकल शिशुरे कान खाइ-खाइ
आसय तोमार पाशे।

कन्हैया, सो जा। सब बच्चों के कान खाकर 'कानखोवा' अब तुम्हारे पास आ रहा है।

कृष्ण एक ओर पूर्णब्रह्म भगवान् का अवतार हैं, तो दूसरी ओर माया से आबद्ध एक साधारण मानव-शिशु। मन में डर तो है, पर फिर भी सोचता है--

अनादि स्वरूप जगत स्रजिलों
चराचर भेद करि।
समस्त जगत प्रतिपाल करि
आत्मा रूपे आछों धरि॥
ब्रह्मा महेश्वर आदि करि यत
समस्ते मोर स्रजना।
मइ ना जानिलो सिटो कानखोवा
स्रजिलेक कोन जना।

अपने अनादि रूप में सारे संसार का मैंने सर्जन किया, पर इस 'कानखोवा' को किसने बनाया। इसके बाद उस बालक ने विभिन्न युगों में हुए अपने समस्त अवतारों को याद किया। अनेक दैत्य-दानवों से हुए भयानक संघर्ष स्मृति पट पर आये। पर यह 'कानखोवा' वीर कहीं भी नजर नहीं आया। किन्तु हो सकता है, आज उसकी स्मरण-शक्ति ठीक से काम न कर रही हो और यह दैत्य कहीं कोने-कोने में भूल से रह गया हो। इसलिए, अंत में उदास और निराश होकर बाल-कृष्ण अपनी माँ से कहता है—

घुमटिर छले निचुकिया मइ
चकु मेलि थाकों चाइ।
केनेकुवा गोटे कान खाइ फुरे
विनायोक मोक आइ॥

माँ, मैं तुम्हारी गोद में नींद का बहाना बनाकर देखता रहूँगा। जब वह आवे तो मुझे दिखाना, वह कैसे सबके कान खाते फिरता है।

अब माँ से रहा नहीं जाता। भयभीत बालक को छाती से चिपकाकर कह देती है—
'अरे, मैं तो तुझे योंही डरा रही थी।'

वास्तव में 'कानखोवा' असमीया-साहित्य का एक अनमोल रत्न है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस वैष्णव काल में कई महान् कलाकारों ने अपनी सुन्दर कृतियों से असमीया साहित्य को इतना समृद्ध और शक्तिशाली बना दिया कि वह सदा सर ऊँचा करके चल सके। भाषा की दृष्टि से वर्त्तमान की अपेक्षा इस युग की रचनाएँ हिन्दी के अधिक निकट हैं। शंकरदेव, माधवदेव आदि भक्त-कवियों की बहुत-सी रचनाएँ तुलसी, सूर और मीरा की रचनाओं की तरह प्रान्तीय नहीं, भारतीय साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति हैं। मैं इस ओर हिन्दी-संसार की नजर और दिलचस्पी आकर्षित करना चाहता हूँ।

बुरंजी या इतिहास-काल

असमीया साहित्य का आधुनिक काल असम में अँगरेजों के आगमन के साथ सन् १८२६ ई० से शुरू होता है। वैष्णव और आधुनिक काल के बीच सन् १६५० ई० से सन् १८२५ ई० तक यहाँ एक विशेष प्रकार के साहित्य का सर्जन हुआ। इस समय को हम बुरंजी-युग

कह सकते हैं। असमीया में 'बुरजी' शब्द का अर्थ 'इतिहास होता है, और इस युग की रचनाओं में ऐतिहासिक ग्रन्थ ही प्रधान हैं।

बाहर से आये हुए आहोम राजाओं की बुनियाद अबतक यहाँ काफी मजबूत हो गई थी। आहोम लोग अपनी निजी भाषा, संस्कृति व सभ्यता छोड़कर बिलकुल असमीया बन गये थे। उन लोगों ने असमीया भाषा और साहित्य को बड़ा प्रोत्साहन दिया। साहित्यकारों को राजसभा में आश्रय देकर राजकीय उपाधियाँ प्रदान कीं।

साहित्य में अब कृष्ण-भक्ति का स्थान राज-भक्ति ने ले लिया। अब राजाओं के गुण-कीर्त्तन और उनके कार्य कलापों के वर्णन होने लगे। इतिहास लिखने की प्रवृत्ति आहोम लोगों की एक जातिगत विशेषता थी। राजाओं ने अपने साहित्यकारों का ध्यान इस ओर मोड़ा। सर्वप्रथम आहोम-भाषा में लिखित 'बुरजियों' का असमीया-अनुवाद हुआ और बाद में इस प्रकार की मौलिक रचनाएँ भी होने लगीं। आज हमें असम के मध्ययुग का सपूर्ण इतिहास अत्यन्त व्यवस्थित और विशद रूप में इन ग्रन्थों से मिल जाता है। यह कम महत्त्व की बात नहीं।

इस युग के इतिहास-ग्रन्थों में कामरूप बुरजी कछारी बुरजी आहोम बुरजी, जयन्तीया बुरजी, पुरणि असम बुरजी, कलिभारत बुरंजी, बेलिमार बुरजी आदि का विशेष महत्त्व है। इनमें से शेष की दो रचनाएँ काव्य-रूप में हैं। असमीया-साहित्य के इस युग की ये अनोखी कृतियाँ हैं।

इतिहास के अलावा इस युग में जीवन चरित्र तथा गणित, ज्यौतिष, चिकित्सा आदि विज्ञान-सबंधी पुस्तकें भी लिखी गईं जिनमें 'गुरुचरित', 'हस्ति विद्यार्णव', 'अश्व-निदान' आदि उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार इस युग में असमीया-साहित्य की गति कई दिशाओं में फैल गई। इस युग में गद्य-साहित्य का भी काफी विकास हुआ।

आधुनिक काल

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, सन् १८२६ ई० में अँगरेजी-शासन के साथ-साथ असमीया-साहित्य का आधुनिक काल प्रारभ होता है। यहाँ अँगरेजों के आते-आते ही असमीया भाषा और साहित्य पर भी एक भयानक विपत्ति आ पड़ी। अँगरेज लोगों के साथ जो बंगाली दुभाषिये, क्लर्क, अध्यापक आदि यहाँ आये थे, उन्होंने असमीया-भाषा को बँगला का गवाँरू रूप बताकर स्कूलों और अदालतों से उसे हटवा दिया। उसके बाद सभी राज-कार्यों में बँगला भाषा बरती जाने लगी, स्कूल-पाठशालाओं में भी उसी का प्रचार हुआ। असमीया-भाषा के लिए जीवन-मरण का सवाल उपस्थित हो गया, पर वह मरी नहीं, क्योंकि बोलचाल की भाषा के रूप में जन-समाज में तो वह चलती ही रही।

सौभाग्य से सन् १८३८ ई० में अमेरिकन बेप्टिष्ट-मिशन के कुछ लोग धर्मप्रचारार्थ यहाँ आये। उन्हें यह समझते देर नहीं लगी कि असमीया ही यहाँ की देशीय भाषा है और

वह किसी भी प्रकार से बँगला से हीन नहीं। इसलिए, उन लोगों ने धर्म प्रचार का माध्यम असमीया-भाषा को ही बनाया और उसकी उन्नति की ओर भी विशेष ध्यान दिया।

सन् १७४८ ई० में असमीया-भाषा की प्रथम मासिक पत्रिका 'अरुणोदय' का इन्हीं ईसाई मिशनरियों की चेष्टा से प्रकाशन आरम्भ हुआ। इसमें इतिहास, विज्ञान, धर्म आदि सभी विषयों की रचनाएँ निकलतीं। सन् १८६८ ई० मे रेवेरेंड ब्रॉनसन का असमीया अँगरेजी शब्दकोश (Assamese-English Dictionary) प्रकाशित हुआ। ईसाई पादरियों ने स्कूल पाठशालाओं के लिए पाठ्य-पुस्तकें भी लिखवाईं। अंत में इन्हीं लोगों के अथक प्रयत्न से सन् १८७१ ई० में यहाँ की शिक्षण संस्थाओं तथा कचहरियों में असमीया-भाषा को पुनः अपना जन्मसिद्ध स्थान मिला। इस कार्य में प्रसिद्ध असमीया विद्वान् स्व० आनन्द राम ढेकियाल फूकन ने पादरियों की बड़ी मदद की। इस तरह विदेशी मिशनरियों ने बड़े सधि क्षण में असमीया-भाषा को बचाया, जिसके लिए असमवासी सदा उनके कृतज्ञ रहेंगे।

अँगरेजी शासन-काल मे जब पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा और आचार-व्यवहार का प्रचार हुआ, तो लोगों के विचारों मे भी जबर्दस्त क्रांति हुई। फलस्वरूप जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण बदला, साहित्य का स्वरूप बदला , साहित्यिक भाषा और शैली में भी परिवर्त्तन आये।

यहीं से आधुनिक असमीया-साहित्य का रचना-काल आरम्भ होता है। सर्वप्रथम हम आधुनिक पद्य साहित्य को लेते हैं।

आधुनिक कविता—स्व० लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ आधुनिक असमीया-साहित्य के जनक कहे जा सकते हैं। इन्होंने कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि सभी क्षेत्रों में सुन्दर साहित्य रचा है। हास्य-रस के तो ये सम्राट् थे। इसीलिए, इन्हे 'रसराज' की उपाधि दी गई है। इनकी सर्वाधिक लोकप्रिय रचना है 'कृपाबर बरबरुआर काकतर टोपोला', जो हिन्दी में 'दुबेजी' की चिट्ठियों की तरह हास्य और व्यंग्य का खजाना है।

'कदमकलि' बेजबरुआ का एक सुन्दर काव्य सग्रह है। इनकी अधिकतर कविताओं में असम की प्राचीन गौरव गाथाओं के चित्र रहते हैं। साहित्य के जरिये हमारी सुप्त राष्ट्रीय भावनाओं को जगाने का इन्होंने सफल प्रयास किया है। इस तरह की कविताओं में 'आमार जन्मभूमि', 'मोर देश', 'बरागी आरु बीण' उल्लेखनीय हैं। लोकगीत की शैली में रची हुई 'धनबर आरु रतनी' तथा 'रतनीर बेजार' बेजोड कविताएँ हैं।

स्व० चन्द्रकुमार अगरवाला की कविता दार्शनिक विचारों से ओत-प्रोत है। मानव, सौंदर्य और प्रकृति – इन तीन केन्द्र-बिन्दुओं पर इस कवि का सारा काव्य-साहित्य आधारित है। गीति-कविता रचने में ये बडे सिद्धहस्त थे। 'प्रतिमा' और 'बीण आरु बरागी' इनकी कविताओं के दो सुन्दर संग्रह हैं।

स्व० कमलाकान्त भट्टाचार्य की कविताओं से जातीय प्रेम टपकता है। उनकी कविताओं से असम में एक नई चेतना और जागृति की लहर दौड गई थी। 'चिन्तानल' और 'चिन्ता-तरगिणी' उनके काव्य-संग्रह हैं।

रघुनाथ चाधरी, जो इस समय प्रायः अस्सी वर्ष के हो चुके हैं, असम के श्रेष्ठ प्रकृति-कवि हैं। इन्हें निर्जनता अधिक प्रिय है। एकात में प्रस्फुटित फूल, नभ मे विचरता हुआ अकेला पक्षी, आकाश का एकाकी तारा, कोलाहलमय ससार से दूर कोई पहाड़ी लता आदि प्राकृतिक वस्तुएँ उन्हे जितना आकर्षित कर सकती हैं, उतना आर कुछ नहीं। गोलाप, दहिकतरा, प्रिय विहंगिनी, केतेकी, पुवतितरा, गिरिमल्लिका आदि कविताएँ इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। भावों का प्राचुर्य और भाषा का माधुर्य उनके काव्य की विशेषताएँ हैं। अबतक उनके 'सादरी', 'केतेकी', 'कारवाला' आदि कई कविता-सग्रह निकल चुके हैं।

नलिनीबाला देवी और अम्बिकागिरि राय-चौधरी दोनों ही ऊँचे दर्जे के छायावादी कवि हैं। राय-चौधरीजी का 'तुमि' और देवीजी के 'सधियार सुर' व 'सपोनर सुर' छायावादी कविताओं के अच्छे सग्रह हैं। नीलमणि फूकन भी दार्शनिक विचारों से परिपूर्ण गभीर कविता लिखते हैं। इनके कई काव्य-सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें 'ज्योतिकणा', जिञ्जिरि, गुटिमाली, मानसी, सधानी आदि प्रमुख हैं।

यतीन्द्रनाथ दुवरा बड़े ही भावुक कवि हैं। इनकी समस्त रचनाओं में एक वैराग्यमयी उदासीनता की गहरी छाप विद्यमान रहती है। इन्होंने उमर खैय्याम की कविताओं का भी असमीया में सुन्दर अनुवाद किया है। गद्य काव्य भी ये अच्छा लिखते हैं। 'आपोनार सुर' इनका बड़ा लोकप्रिय कविता-सग्रह है।

स्व० गणेश गगै और देवकान्त बरुआ ने सुन्दर भावपूर्ण प्रेम-काव्य लिखे हैं। इन्होंने असमीया प्रेम-कविता को नई दृष्टि आर नया जीवन दिया है। गगैजी की 'पापरि' और बरुआजी की 'सागर देखिछा' बडी मधुर और आकर्षक रचनाएँ हैं।

स्व० दण्डीनाथ कलिता हास्यरस के श्रेष्ठ कवि हैं। इनके 'रहघरा' और 'रगर' हास्यरस की कविताओं के अच्छे सग्रह हैं। इनमें सामाजिक कुप्रथाओं व कुसस्कारों पर सुन्दर व्यग्य हैं।

प्रगतिवादी असमीया-कवियों में हम स्व० अमूल्य बरुआ, हेमकान्त बरुआ, अब्दुल मालिक, तिलक दास, नवकान्त बरुआ आदि के नाम ले सकते हैं। आधुनिक जीवन की विभिन्न समस्याओं पर ये लोग कविता करते हैं। वर्त्तमान समाज-व्यवस्था से ये असन्तुष्ट हैं। उसमें आमूल परिवर्त्तन के ये स्वप्न देखते हैं। ये सभी नवयुवक हैं; अभी इनका परीक्षण-काल चल रहा है।

गत महायुद्ध के बाद से असमीया-काव्य के प्रवाह में एक रुकावट-सी आ गई है। इधर न तो कोई उच्च श्रेणी की रचना ही प्रकाशित हुई है और न इस ओर लोगों की विशेष अभिरुचि ही देखी जाती है। नये काव्य या कविता-सग्रहों के प्रति प्रकाशकगण भी उदासीन हो गये हैं, क्योंकि पाठ्य-पुस्तकों के अलावा ऐसी कविता की किताबें बाजार मे बहुत कम बिकती हैं।

फिर भी इतना तो हम निस्सकोच कह सकते हैं कि आधुनिक असमीया-पद्य-साहित्य गद्य साहित्य की अपेक्षा अधिक समृद्धिशाली है और वह कला की दृष्टि से भी भारत के किसी भी प्रान्तीय साहित्य से पीछे नहीं।

आधुनिक गद्य—आधुनिक असमीया गद्य-साहित्य अभी तक पूर्ण प्रगति नहीं कर सका है। हाँ, पिछले कुछ वर्षों से इस ओर लोगों की विशेष अभिरुचि दिखाई दे रही है, इसलिए यह क्षिप्र गति से उन्नति कर रहा है। उपन्यास और कहानी-साहित्य की आज बाजार में अच्छी माँग है।

उपन्यास—असमीया उपन्यासकारों में स्व० रजनीकान्त बरदलै का नाम सर्वप्रथम आता है। इनके 'मिरि जियरी', 'मनोमती' और 'निर्मल भकत' प्रसिद्ध उपन्यास हैं। ये सभी असम की ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर लिखे गये हैं। स्व० दण्डीनाथ कलिता का 'साधना' असमीया भाषा का प्रथम सुन्दर सामाजिक उपन्यास है। इन्होंने अदृष्ट, गण-विप्लव, परिचय, फूल आदि और भी कई उपन्यास लिखे हैं। इस क्षेत्र मे देवचन्द्र तालुकदार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने कई उपन्यास लिखे हैं, जिनमे 'अपूर्ण', 'आग्नेयगिरि' और 'विद्रोही' अधिक प्रसिद्ध है। वीणा वरुआ का 'जीवनर बाटत' नामक उपन्यास भी असमीया-साहित्य में एक खास स्थान रखता है। नये उदीयमान उपन्यासकारों मे हम योगेशचन्द्र दास, महम्मद पियार, राधिका मोहन गोस्वामी और प्रफुल्लदत्त गोस्वामी के नाम ले सकते हैं। योगेश दास का अभी हाल ही में प्रकाशित 'डावर आरु नाइ' तथा प्रफुल्लदत्त गोस्वामी का 'केचा पातर कॅपनि' उच्च कोटि के रोचक उपन्यास हैं। कलात्मक भाव-प्रकाशन तथा सफल चरित्र-चित्रण इन दोनों उपन्यासो की विशेषताएँ हैं। महम्मद पियार के 'सग्राम', 'मरहा फूल', 'पुवति निशार आजान', 'जीवन नैर जॉजि' आदि उपन्यास भी काफी लोकप्रिय हुए हैं। राधिकामोहन गोस्वामी का 'चाक नैया' भी इस युग के श्रेष्ठ उपन्यासों में से है। इन नये लेखकों से असमीया-साहित्य को बडी उम्मीद है।

कहानी—आधुनिक असमीया-कहानी-साहित्य का प्रारम्भ स्व० लक्ष्मीनाथ वेजवरुआ और स्व० शरत्चन्द्र गोस्वामी से माना जाता है। 'टेकनीक' की दृष्टि से इनकी कहानियाँ अपरिपक्व हैं, किन्तु वेजवरुआजी की कहानियों में हास्यरस का पुट होने के कारण आज भी उनकी लोकप्रियता कम नहीं हुई। इसके बाद लक्ष्मीधर शर्मा, डा० हेम वरुआ, हलीराम डेका, वीणा वरुआ, त्रैलोक्य गोस्वामी, रमादास, महीवरा, दीननाथ शर्मा आदि कहानी-लेखक हमारे सामने आते हैं। इनकी कहानियाँ जीवन की विभिन्न समस्याओं को लेकर चलती हैं, और उनमें वास्तविक जीवन के सुन्दर चित्र हमें मिलते हैं। लक्ष्मीधर शर्मा का 'व्यर्थतार दान', डा० हेम वरुआ का 'चपनीया', वीणा वरुआ का 'आघोनी वाइ', त्रैलोक्य गोस्वामी का 'अरुणा' व 'मरीचिका', रमादास का 'श्रेष्ठ गल्प' आदि अच्छे गल्प-संग्रह हैं। प्रगतिवादी नये कहानी-लेखकों में योगेशचन्द्र दास, अब्दुल मालिक, आलि मुननिछा पियार, प्रफुल्लदत्त गोस्वामी, प्रीति भट्टाचार्य आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत निबंध-लेखक का 'एटि प्रश्न' नामक एक कहानी संग्रह अभी हाल ही में प्रकाशित हुआ है, जिसका पाठकों और समालोचकों ने अच्छा आदर किया है। असमीया में अबतक बहुत लम्बी-लम्बी कहानियाँ लिखी जाती रहीं, किन्तु 'एटि प्रश्न' की कहानियाँ छोटी छोटी हैं और शैली भी उनकी नई है। इधर पत्र पत्रिकाओं में इस ढग की कहानियाँ बीच बीच में देखने को मिलती हैं।

नाटक—इस युग के नाटकों में लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ के 'जयमती कुँवरी', 'बेलिमार', 'चक्रध्वज सिंह', दैवचन्द्र तालुकदार के 'बामुनीकोंवर', 'असम प्रतिभा', और 'विप्लव', स्व० ज्योतिप्रसाद अगरवाला का 'शोणित कुँवरी', अतुलचन्द्र हाजरिका का 'नरकासुर', प्रसन्नलाल चौधरी का 'निलाम्बर' और प्रवीनचन्द्र फुकन का 'लाचित बरफुकन' उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त प्रायः सभी नाटक ऐतिहासिक अथवा पौराणिक हैं। आधुनिक जीवन की समस्याओं को लेकर इधर कुछ नाटक लिखे तो गये हैं, किन्तु वे अधिक सफल नहीं हो पाये। हाँ, इन दिनों में गौहाटी रेडियो-स्टेशन से कुछ सुन्दर सामाजिक नाटक प्रचारित हुए हैं, पर वे पुस्तकाकार में उपलब्ध नहीं। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक के 'सन्यास ने ससार' नामक ध्वनि नाटक ने अच्छी प्रसिद्धि पाई है। रेडियो-स्टेशन से उसका सफल ब्राडकास्ट भी हो चुका है।

निबन्ध—आधुनिक निबंध लेखकों में स्व० सत्यनाथ बरा, स्व० डा० वाणीकान्त काकती, डा० सूर्यकुमार भूयाँ, डा० विरचिकुमार बरुआ, वेणुधर शर्मा और प्रफुल्लदत्त गोस्वामी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इतना सब लिख चुकने के बाद मैं यह भी बता देना चाहता हूँ कि आधुनिक असमीया-साहित्य की प्रगति अधिक संतोषजनक नहीं। इसके लिए निम्न कारण खास तौर से जिम्मेदार हो सकते है :—

(१) असमीया पाठकों की सख्या बहुत कम है। (२) लोगों में पढने की अभिरुचि का अभाव है। (३) अच्छे प्रकाशनों की कमी है।

इन सब कारणों से यहाँ के साहित्यकारों की अधिकतर रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होकर ही रह जाती हैं, पुस्तकाकार में वे बाजार के दर्शन नहीं कर पातीं।

उपसहार

असमीया-साहित्य के लिए यह सौभाग्य की बात है कि बाहर के लोग भी अब उसमें दिलचस्पी लेने लगे हैं। इसके बारे में सक्षेप में हमने यहाँ चर्चा की है। पर यह साहित्य इतना प्राचीन और विशाल है कि उसे इस प्रकार के एक छोटे-से निबंध में नहीं समेटा जा सकता। डाकगाड़ी की तरह मैं सिर्फ बडे-बडे स्टेशनों पर थोड़ी-थोड़ी देर रुकता आया हूँ, कारण, अल्प समय में ही मुझे एक बड़ा लम्बा रास्ता तय करना था। रास्ते में बहुत-से कलापूर्ण, छोटे, सुन्दर स्टेशन छोडकर आगे बढते मुझे दुःख जरूर हुआ। पर क्या करता— डाकगाडी जो मैं ठहरा

—श्री छगनलाल जैन

पंजाबी-भाषा और उसका साहित्य

दिल्ली के आसपास के कुछ प्रदेश और कुछ थोडे-से पहाडी प्रदेश को छोडकर सारे पजाव की भापा पजावी है। चाहे वह पजाव पाकिस्तान मे है चाहे, वह भारत में है।

सन् १६३२ ई० में स्थापित की गई पजाव यूनिवर्सिटी इन्क्वायरी-कमिटी की रिपोर्ट के अनुसार "इडो-एरियन भापाओं में से निकली सव बोलियों मे से पजाबी शायद सबसे पुरानी भापा है।" महात्मा बुद्ध और महावीर को हुए आज लगभग २५०० वर्ष हो चुके हैं। उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों में सैकडों शब्द ऐसे मिलते हैं जो ठीक उसी रूप मे आज पजाव-वासियों की दैनिक भापा में प्रचलित हैं। हिन्दी या बँगला मे उन शब्दों का जो रूप चला हुआ है, वह अधिक से-अधिक एक हजार वर्प पुराना कहा जाता है। पजाव के लोग पिछले पचीस सौ वर्पों से 'दुध', 'नक', 'कन', 'हथ', 'पिठ', 'सत' और 'अठ' कहते आये हैं और जो लोग उत्तरप्रदेश या वगाल में वसते हैं, उनके पूर्वज पहले पन्द्रह सौ वर्षों तक तो इन शब्दों को पंजाबियों की भाँति उच्चारण करते रहे। किन्तु, पिछले एक हजार वर्ष से उनको विगाड कर इन्होंने दूध, नाक, कान, हाथ, पीठ, सात और आठ वोलना आरभ कर दिया है। बौद्ध धर्म-ग्रन्थ 'धम्मपद' में, जैनियों के प्राचीन साहित्य मे और कालिदास के 'शकुन्तला' आदि नाटकों में जहाँ हमें पंजाबी के शब्द 'हेठा', 'रुख', 'पुत', 'अख' आदि तो मिलते हैं, पर इनके हिन्दी रूप नीचे, पेड, पूत, आँख आदि कहीं नहीं मिलते। हिन्दी और पजावी का सबध दो बहनों का सबध है।

नीचे दी गई सूची में सारे शब्द पजावी में आज तक उसी रूप में प्रचलित हैं जिस रूप में पाली और प्राकृत भाषाओं में प्रचलित थे। किन्तु इनके हिन्दी-रूपो के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता।

पाली और पजाबी रूप	हिन्दी रूप
दुध	दूध
सठ	साठ
पुत	पूत
सिंग	सींग
चम	चमड़ा
सिप्पी	सीप
अज	आज
अग्गे	आगे
बी	भी

नहीं पंजाबी बोली का और नहीं गुरुमुखी-लिपि का कोई विशेष सबध सिख धम के साथ है। सिखों के पहले गुरु गुरु नानक के जन्म से पहले पजाबी बोली इस प्रदेश में बोली

जाती थी आर गुरुमुखी अक्षर भी माजूद थे। ये अक्षर उसी प्रकार की ब्राह्मी-लिपि में से निकले थे जसे दूसरी प्रादेशिक भाषाओं के अक्षर।

हाँ, "पजावी वर्णमाला का क्रम और अक्षरों के नाम सिख-गुरुओं ने नियमवद्ध किये और उन्होंने ही इस वर्णमाला को गुरुमुखी का नाम देकर पजावी-भाषा को उच्चकोटि के साहित्य का माध्यम बनने की साख प्रदान की।" —प्रोफेसर ओमप्रकाश

जिस प्रकार महात्मा बुद्ध ने अपने प्रचार के लिए सस्कृत के स्थान पर पाली को चुना उसी प्रकार गुरु नानक ने साधारण जनता तक अपनी शिक्षा पहुँचाने के लिए उनकी भाषा को अपनी शिक्षा का माध्यम बनाया और उसके लिखने के लिए लिपि भी वह चुनी, जो उनमें पहले ही प्रचलित थी।

गुरु नानकदेव के आगमन के समय पंजाब में कई लिपियाँ प्रचलित थीं। देवनागरी जो अधिकतर सस्कृत के लिए प्रयोग की जाती थी और पुरानी दिल्ली का कमिश्नरी में प्रादेशिक बोली के लिए भी। 'लडे' या 'महाजनी' जो व्यापारी हिसाब-किताब के लिए प्रयोग करते थे। 'टाकरी' या 'ठाकरी' जो पहाडी प्रदेश में प्रयोग में आती थी और जिसमें खुदे हुए कई शिलालेख काँगड़ा में मिले हैं। और 'शारदा' जो कश्मीर की लिपि थी, किन्तु पडोसी होने के नाते पजाब में भी कहीं-कहीं प्रयोग में आती थी।

अब अगर हम इन चार लिपियों की गुरुमुखी-लिपि से तुलना करें, तो हम देखते हैं कि महाजनी में तीन स्वर और सत्ताईस व्यजन हैं। गुरुमुखी में तीन स्वर और बत्तीस व्यजन हैं। शारदा और टाकरी में चार स्वर और तैंतीस व्यंजन हैं। इसके विरुद्ध नागरी में सोलह स्वर और छत्तीस व्यजन हैं।

यदि रूपों की तुलना करें तो नागरी और गुरुमुखी में तीन अक्षर साझे हैं। छः अक्षरों के रूप मिलते हैं, चाहे चार अक्षरों की ध्वनियाँ अलग-अलग हैं। बारह अक्षरों के रूप कुछ-कुछ मिलते हैं और शेष अक्षर बिलकुल नहीं मिलते।

यदि 'टाकरी' अक्षरों के साथ तुलना करें तो जान पड़ता है कि बीस अक्षर तो लगभग एक ही रूप के हैं, छः अक्षर कुछ-कुछ मिलते हैं और आठ नहीं मिलते।

'शारदा' के साथ तुलना करने से पता चलता है कि सात अक्षर साझे हैं और बारह कुछ-कुछ मिलते हैं।

शारदा का गुरुमुखी से नागरी के साथ अधिक मेल है। लंडे टाकरी और गुरुमुखी से अधिक मेल खाते हैं।

इससे यह परिणाम निकलता है कि ब्राह्मी में से दो लिपियाँ उत्पन्न हुईं; एक शारदा और देवनागरी की माँ बनी और दूसरी गुरुमुखी, महाजनी और टाकरी की।

पंडित गौरीशकर ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन लिपिमाला' में लिखा है—"पजाबी लिपि के बहुत-से अक्षर देवनागरी से मिलते हैं। गुरु अंगद के पहले बहुधा महाजनी लिपि पजाब में

प्रचलित थी और सस्कृत-पुस्तक नागरी से मिलती हुई एक पुरानी लिपि मे लिखी जाती थी।"

गुरु नानक और अन्य सिख गुरुओं की जनसाधारण में प्रचलित 'गुरुमुखी' केवल एक लिपि है, जिसमें पजावी की साहित्यिक पुस्तकें प्राय. प्रकाशित होती हैं। वैसे कई एक सिख-लेखक और अन्य वहुत-से गैर-सिख फारसी लिपि भी पजावी साहित्य के लिए प्रयोग में लाते रहे हैं। और एक समय था, जव फारसी-लिपि मे प्रकाशित पुस्तकें गुरुमुखी-लिपि मे छपी हुई पुस्तकों से कहीं अधिक सख्या में थीं। इसके कारण अविभाजित पजाव में किसी सीमा तक राजनीतिक थे। पिछले दिनो कई पजावी लेखकों ने देवनागरी में भी रचनाएँ प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है। प्रो० मोहन सिंह, जसवत राय और प्रभजीत कोर की कविताओ के पजावी-सग्रह देवनागरी लिपि मे भी छपे हैं।

गुरुमुखी-लिपि मे 'गुरु-ग्रन्थसाहव' में पजावी के अतिरिक्त कई भाषाओ की कविता मिलती है—सस्कृत, फारसी, सिंधी, व्रजभाषा, आदि। और फारसी-'लिपि मे पजावी की एक अमर रचना 'हीर वारिस शाह' लिखी गई और आज कई शताब्दियों के वाद भी वैसे ही चाव से पढी जा रही है।

कई लोग यह भी समझते हैं कि पजावी-साहित्य केवल सिख-जाति का अपनाया हुआ है। इस वात से इन्कार नहीं कि पिछले तीस वर्षों से इसकी ओर अधिक रुचि सिखों की है, किन्तु पजावी साहित्य के निर्माण में गर-सिख लेखकों ने कहीं अधिक भाग लिया है। पंजावी का प्राचीनतम लेखक, जिसका काव्य हमें मिलता है, 'फरीद शकरगज' मुसलमान था। इस तरह पजावी के इतिहास में एक समय ऐसा आया, जव सिख-जाति की प्रतिभा सस्कृत और प्राकृत की ओर अधिक अग्रसर हुई। गुरु गोविंदसिंह के दरवारी कवि पुरातन भाषाओं में लिखकर प्रसन्न थे। गुरुजी ने स्वय पजावी में वहुत कम कविता लिखी है। ऐसे समय में गैर-सिखों ने ही इस भाषा को आश्रय दिया। आजकल ईश्वरचन्द्र नदा. जोशूअफजल दीन, जसवत, 'राय', बावा बलवन्त, नदलालराय नूरपुरी, डाक्टर वनारसीदास, वलवन्त गार्गी आदि अनेक गैर-सिख लेखक हैं, जो पजावी-साहित्य की सेवा कर रहे हैं। पजावी-साहित्य इसलिए सिख-साहित्य तक ही सीमित नहीं है।

पंजाबी भाषा का शब्दकोष चाहे कितना पुराना हो, किन्तु जिस वोली को आज हम पजावी के नाम से पुकारते हैं उसका पहला लेखक, जिसका कलाम हमारे हाथ लगा है, वह फरीद शकरगज है। बाबा फरीद अपने समय के प्रसिद्ध फकीर थे। इनका पूरा नाम हजरत फरीदोद्दीन मसऊद शकरगंज था। इनका जन्म सन् ११७३ ई० में हुआ। फरीद की कविता में 'लहदी' का स्थानिक रंग है। फारसी-भाषा का भी कुछ-कुछ प्रभाव है। इसलिए कि इन लोगों को काबुल से पजाव आये अभी थोड़ा समय ही हुआ था। फरीद की सारी-की-सारी कविता में एक भावुकता है जो भक्ति-युग के वाद सूफियों का उन्माद वनकर प्रकट हुई। प्रकृति का प्रेम और परमात्मा का प्रेम फरीद की कविता के कुछ विशेष विषय हैं। फरीद ने अधिकतर श्लोक लिखे हैं।

फरीदा गलिए चिक्कड़ दूर घर नाल प्यारे नेह।
चला ता भिजै कम्बली राहां तां तुटै नेहं।

भिज्जो सिज्जो कम्बली अल्ह वरसो मेंह।
जाय मिलां तिन्हा सजना तुटोह नाहिं नेंह।

पजावी-भाषा की शैली को और अधिक निखारनेवाले भक्ति-युग के कवि थे। इनमें गुरु नानक, गुरु अर्जुन और भाई गुरुदास की बहुत सी कविताएँ मिलती हैं। इन सबका एक सांझा रग है, एक साझा स्वाद है। भक्ति-युग के कवियों ने भगवान की एकता पर जोर दिया। राम-रहीम में उन्होंने कहा—कोई फर्क नहीं। कट्टर ब्राह्मण मत और इस्लाम में भक्ति-आन्दोलन एक प्रकार का समझौता था। इन कवियों की शैली सादी और मॅजी हुई है। भक्ति-युग में पुरानी रूढियों को तोडने पर बडा जोर दिया गया। चाहे यह रीतियाँ धार्मिक थीं, चाहे साहित्यिक थीं अथवा चाहे साधारण जीवन के प्रति थीं। कविता में इस प्रकार कवित्त, सवैया आदि पुराने छदों के स्थान पर 'बारहमाह', 'वार', 'सद', 'घोडी' आदि साधारण जीवन से सबध रखनेवाले छदों को अपनाया गया। यह वह समय था जब पजाब में मुगलों के आक्रमण अभी हो रहे थे या अभी होकर हटे थे।

खुरासान खसमाना किया हिन्दुस्तान डराया।
आपै दोष न देई करता जमकर मुगल चढ़ाया।
एती मार पई कुर्लानें तैं की दर्द न आया।
कर्त्ता तू सबना का सोई
जे सकता सकते को मारे।
ता मन रोस न होई ॥ १ ॥
रहाओ। आशा महला १।—गुरुनानक

इस प्रकार भगवान के गुण गानेवाले गुरुओं के पश्चात् गुरुओं के शिष्य उत्पन्न हो गये। ईश्वर के प्रेम से मनुष्य में दिखाई देते ईश्वर के प्रेम ने सूफी मत को जन्म दिया। यथार्थ में सूफी मत इस्लाम का वह अग है, जिसपर भारत के भक्ति-मत और वेदान्त का कडा प्रभाव पड़ा। इस सूफी वातावरण के कारण छायावाद आया। बुल्हेशाह, शाह हुसेन, सुल्तान बाहु-अली हैदर, करमअली शाह, शेख शरफ, गुलाम जीलानी, हाशिम हदायतुल्ला और गुलाम रसूल उस समय के कुछ प्रसिद्ध कवि थे। बुल्हेशाह की काफियो में वर्णन चाहे घरेलू वस्तुओं का और साधारण दृश्यों का होता है, किन्तु उनके पीछे हमेशा कोई उच्च अर्थ अथवा गहरा भेद होता है। सूफी कविता 'इश्क हकीकी' की कविता थी। किन्तु, इस ईश्वर के प्रेम को सासारिक प्रेम के परदे में रखकर गाया जाता था।

रांझा रांझा करदी नी मैं आपै रांझा होई।
सद्दो नी मैंनू धीदो रांझा हीर न आखे कोई।
—बुल्हेशाह

[रांझा रांझा पुकारती मैं स्वय रांझा हो गई।
मुझे धीदो रांझा पुकारो, मुझे हीर कोई न कहे।]

इस प्रकार के ईश्वर-प्रेम के वातावरण में उत्पन्न हुई कविता के पश्चात् यह आवश्यक था कि इसकी प्रतिक्रिया होती। और, इस प्रकार पंजाबी कविता में एक नया युग आरभ

हुआ। इस युग के लगभग सब के सब कवियों ने 'इश्कमिजाजी' का वर्णन किया है। उन्होंने हीर रांझा, मिर्जा साहिबा, सस्सी-पून्नू, कामरूप, सोहनी-महिवाल आदि किस्से लिखे। इन कवियों की वर्णन शैली बहुत सुन्दर है। दामोदर का लिखा हुआ हीर का किस्सा सबसे पुराना माना जाता है। अपनी कविता में वह बार-बार कहता है—'आख दमोदर मैं अखीं डिठा।' ऐसे प्रतीत होता है कि यह कवि हीर-रांझा का समकालीन था। वारिस शाह ने ३५ वर्ष की आयु में हीर का किस्सा लिखना आरम्भ किया। कहते हैं भागभरी नाम की एक लड़की को यह कवि प्रेम करता था और हीर-रांझा के किस्से में उसने अपने प्रेम को गाया है। वारिस शाह की शैली अभी तक पंजाबी में अत्यन्त सत्कारी जाती है। हीर के सौन्दर्य को वारिस शाह इस प्रकार दरसाता है :—

कही हीर दी करे तारीफ शायर
मत्थे चमकदा हुसन महताब दा जी।
सैयां नाल लटकदड़ी आवदी ए
पर भूलदा जिवें उकाब दा जी।
नैन नरगिसी मिरग ममोलड़े दे
गल्हां टहकियां फुल गुलाब दा जी।
सुरमा नैनां दी धार विच फब रहया
चढया हिन्द ते कटक पंजाब दा जी।

[हीर की कवि कैसे प्रशंसा करे।
उसके माथे पर चाँद की सुन्दरता चमकती थी।
सहेलियों के साथ इस प्रकार अठखेलियाँ करती हुई आई।
जैसे उकाब का पंख भूल रहा हो।
उसकी नरगिसी आँखें हिरनों की भाँति थीं।
उसके गाल गुलाब के फूल की तरह महँक रहे थे।
उसके नेत्रों में सुरमा इस प्रकार रचा हुआ था।
जैसे हिन्द पर पंजाब की सेना ने आक्रमण किया हो।]

कवि के रूप में हाशिम वारिस शाह से कहीं कम नहीं था। हाशिम ने शीरीं फरहाद, लैला-मजनूं, सोहनी-महिवाल, सस्सी-पून्नू आदि कई किस्से और कुछ दोहरे लिखे। शब्दों का संयम, वर्णन का बहाव और पात्रों के हृदय के कोमल-से-कोमल भावों का ज्ञान हाशिम की कविता की विशेषताएँ हैं। विरह के भाव को हाशिम ने जहाँ कहीं भी अंकित किया है, बहुत सफलता से किया है। शीरीं की कोमलता का वर्णन हाशिम यों करता है—

नाजक पैर शीरीन रंग मेंहदी नाज न्याजाँ वाले
जे ओह पैर जिमी ते रखे पुर पुर लूं सूं छाले।
उसनूं वेख फरिश्ते जीवण आदिम कौन विचारे
पंछी वेख डिगन अस्मानी आशिक होवन सारे।

[शीरीं के मेंहदी से रँगे कोमल पाँव जिनके कितने नाज होते थे।

यदि वह कहीं जमीन पर पाँव रखती तो।
उसके पोर-पोर पर, रोम-रोम पर छाले हो जाते।
उसको देखकर फरिस्ते जीते थे, मनुष्य वेचारे क्या हैं?
पक्षी उसे देखकर आकाश से गिर पड़ते, हर कोई उसपर आशिक हो जाता।]

शाह मुहम्मद के साथ हम उन्नीसवीं शती के अर्द्ध में पहुँच जाते हैं। शाह मुहम्मद महाराजा रणजीत सिंह का दरबारी कवि था। 'शाह मुहम्मद ने पहली बार पजाबी में ऐसी कविता लिखी जिसे ठीक देश-प्रेम की कविता कहा जा सकता है। पजाब देश से प्रेम, पजाब की धरती से प्रेम, पंजाब की परम्परा से प्रेम, पजाब के सिपाहियो से प्रेम, पंजाब के सरदारों से प्रेम। पजाब के शत्रु शाह मुहम्मद के शत्रु थे, चाहे वे मुसलमान ही क्यों न हों। सिखों और फिरंगियों की लडाई का वर्णन करते हुए शाह मुहम्मद कहता है—

सिंहा मार के कटक मुकाय दित्ते
हिन्दुस्तानी ते पूरबी दक्खिनी जी।
लडन टापुओं विच कुरलाट पया
कुर्सी चार हजार है सखणी जी।

[सिखों ने फौज की फौज मारकर समाप्त कर दी
हिन्दुस्तानी भी, पूरबी भी, और दक्खिनी भी।
लदन के द्वीपो में हाहाकार मच गया
कि चार हजार कुर्सियाँ खाली हो गई हैं।]

नवीन पजाबी साहित्य उस मानसिक वातावरण का परिणाम है, जो प्रथम महायुद्ध ने विशेष रूप से उत्पन्न किया था। युद्ध-प्रचार और पजाबी सिपाहियों के मनोरजन को सामने रखकर साहित्य-निर्माण किया गया। युद्ध में बाहर गये पजाबी सिपाहियों ने दूसरो के जीवन में झाँका, उनके मनोरजनो का अध्ययन किया, लौटे हुए पजाबियों को अवकाश था, प्रान्त का साहित्य इस वातावरण में निखर कर प्रगतिशील हुआ।

प्रथम महायुद्ध अभी समाप्त ही हुआ था कि सिंह-सभा लहर जोर पकड गई। इस लहर का मन्तव्य था—सिख मत और सिख-सभ्यता का प्रचार और इनको अलग करके विभिन्न रूपों से दर्शाना। इस जमाने में गैर-सिखों से वाद-विवाद हुए, ट्रेक्ट छपे, समाचार-पत्रों द्वारा जनता में जागृति उत्पन्न की गई।

साहित्यिक दृष्टिकोण से इसका यह लाभ हुआ कि पजाबी गद्य निखर गया। इससे पहले प्राचीन गद्य-रचना में कविता सा स्वाद है।

इसके पश्चात् अकाली लहर का युग आरभ हुआ, यह एक प्रगतिशील युग था। जहाँ सिखों ने अपनी सभ्यता, सस्कृति और अपने सम्प्रदाय के लिए रक्तपात करके अपने गौरव को सुरक्षित रखा, वहाँ अपने प्रान्त के साहित्य में भी उन्होंने प्राण फूँक दिये।

इन दोनों लहरों के साथ स्कूलों की सख्या पजाब में बढ रही थी। पश्चिम की नवीन प्रवृत्तियों के साथ जनता का परिचय बढ रहा था और एक ताजगी-सी पजाबी जीवन में आ रही थी।

ठीक इस समय भाई वीरसिंह और भाई मोहनसिंह वद्य ने अपने साहित्यिक जीवन का आरभ किया। वीरसिंह नवीन पंजाबी-साहित्य का प्रथम कवि है और कविता-जैसी आकर्षक परन्तु सरल-सीधी गद्य-शैली में इसने सिख-इतिहास और सिख-दर्शन को जनता के सामने रखा। स्पष्टता और सरलता वीरसिंह के काव्य की भी विशेषताएँ हैं। उसने पजाबी में मुक्तक कविता को जन्म दिया और पहली बार एक लम्बी काव्य-रचना सिरखडी-छद में की। 'राणा सूरतसिंह' एक सफल रचना है। 'बिजलियाँ दे हार', 'लहरां दे हार', 'मटक हुलारे', वीरसिंह की कविता के कुछ-एक सग्रह हैं, जिनमें कवि का दर्शन और काव्य-कला अपने शिखर पर पहुँच गई है। वीरसिंह से पहले पजाबी कविता में कवित्त, बैंत आदि जैसे लम्बे छन्द ही प्रयोग में लाये जाते थे। भाई साहब ने सिख-गुरुओं के अनन्तर पहली बार पाश्चिमी प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर छोटे और सरल रूप से निबाहे जानेवाले छदो में कविता लिखी। वीरसिंह के दर्शन सबधी विचार सिख-दर्शन से विभिन्न नहीं। कवि जीवन को उल्लास समझता है और सूफी कवियो के समान जब वह अपने इष्ट के लिए व्याकुल होता है, उसकी आवाज में सूफियों से कहीं अधिक धरती का स्पदन सुनाई देने लगता है।

> **पत्थर नाल नियों ला बैठी, न हस्से ना बोले।**
> **सोहणा लग्गे, मन नू मोहे घु डी दिलों न खोले।**
> **छड्डियाँ छड्डियाँ जाँदीं नाहीं, मिलियाँ निग्ध ना कोई**
> **इच्छा, जिवें रजा है तेरी, अखियों हो न ओहले।**
>
> [मैं पत्थर से दिल लगा बैठी हूँ, न हँसता है, न बोलता है।
> वसे वह सुन्दर और मनोहर है, किन्तु मन ग्रन्थि नहीं खोलता।
> छोड़ना भी चाहूँ तो नहीं छोड़ सकती, मिलने पर कोई उत्तेजना
> अनुभव नहीं होती।
> अच्छा जसे तेरी मर्जी, मेरे नना से ओझल न रह।

उधर मोहन सिंह वद्य एक गद्य-लेखक थे, जिन्होने हर विषय पर रचनाएँ लिखीं और एक एकेडेमी स्थापित की जिसके द्वारा ससार-भर की लगभग दो सौ पुस्तकें पजाबी में रूपान्तरित करवाई गई। पजाबी में इस आन्दोलन के कारण विज्ञान और अन्य विषयों पर भी हमें पुस्तकें मिलती हैं। वद्यजी की लेखन-शली सरल थी। इन्होंने कुछ उपन्यास भी लिखे हैं, जो केवल लम्बी कहानियों के प्रयास तक ही सीमित हैं। वास्तव में भाई वीरसिंह और मोहनसिंह वैद्य नये पजाबी-साहित्य के प्रारंभिक स्तम्भ हैं।

इन दोनों कलाकारों की छाया में पला और पनपा हुआ साहित्य प्रायः परम्परागत रहा ह। हमेशा यह प्रयत्न किया जाता था कि किसी उद्देश्य को पेश किया जाय और कोई शिक्षा सुझाई जाय। फिरोजदीन शरफ, विधाता सिंह 'तीर' और ज्ञानी गुरुमुख सिंह 'मुसाफिर' की कविता इसी तरह की थी। अधिक-से अधिक ये कलाकार अपने कला-कौशल से जनता को झकझोर सकते थे और बस इनकी कविता के भाव-विषय देशप्रेम, अँगरेजी राज में नौकरशाही की बुराइयों तक ही सीमित थे या फिर प्रेमपूर्ण गाथाओं का ही वर्णन होता था।

लाला किरपासागर ने 'लेडी ऑफ दी लेक' के आधार पर 'लक्ष्मी देवी' शीर्षक एक प्रवन्ध-काव्य लिखा, जो दो भागों में प्रकाशित हुआ। विवरण शैली के दृष्टिकोण से यह एक अमूल्य रचना है। इसी युग में 'शकुन्तला' और 'विक्रमोर्वशी' आदि नाटकों का अनुवाद हुआ जो अत्यन्त सफल है। अनुवादक संस्कृत के ज्ञाता होने के कारण कालिदास के साथ न्याय कर पाये हैं। मौलिक नाटककारों में ईश्वरचन्द्र नंदा लिखित 'सुभद्रा' और 'लिल्ली दा व्याह' बृजलाल शास्त्री लिखित 'सावित्री सुकन्या' और 'पूरण नाटक' तथा बाबा बुध सिंह-रचित 'दामिनी' और 'नार नवेली' जनसाधारण में लोकप्रिय हुए। इन नाटकों के विषय रहे हैं—विधवा-विवाह और अछूतोद्धार आदि। सरदार नानक सिंह ने लगभग दो दर्जन उपन्यास लिखे हैं। इस लेखक ने जनसाधारण की रुचि को ध्यान में रखकर लिखा है। इसने तीन गल्प-संग्रह भी प्रकाशित किये, जो उसके उपन्यासों के समान कथानक के चुनाव की विशेषता के कारण लोकप्रिय हैं।

पंजाबी-भाषा का सम्पूर्ण साहित्य अपने उर्दू और हिन्दी के साहित्य से सर्वथा अछूता रहा है। साहित्यिक पंजाबी साहित्य के निर्माण में सीधे अँगरेजी से ही प्रभावित होते रहे हैं। खालसा-कालिज, अमृतसर, सिखों की सबसे बड़ी शिक्षण संस्था होने के साथ-साथ बहुत देर से पंजाबी साहित्यकारों का केन्द्र भी रहा है। प्रिंसिपल जोधसिंह, प्रिंसिपल तेजासिंह, प्रिंसिपल गुरबचन सिंह 'तालिब', प्रोफेसर संतसिंह सेखों, प्रोफेसर मोहनसिंह पिछले बीस वर्षों से पंजाबी साहित्य को यहीं से समुज्ज्वल करते और नये लेखकों को उत्साह देते आये हैं। इन सबने अँगरेजी-साहित्य की लेखन शैली का ही अनुकरण किया है। नये उभरनेवाले कलाकारों की रचनाओं को भी ये अँगरेजी भाव-शैली के अनुसार ही आलोचना की कसौटी पर जाँचते आये हैं।

सुफ़ने विच तुसी मिले असा नू
असी धा गल वक्कड़ी पाई
निरा नूर तुसी हत्थ न आए
साड़ी कम्बदी रही कलाई

[सपने में तुम हमें मिले
हम दौड़कर तुम्हें भींच मिले
तुम केवल प्रकाश थे, तुम हमारे हाथ न लगे
हमारी कलाई काँपती रही]

'कम्बदी कलाई'—वीरसिंह

भाई साहब भाई वीरसिंह 'कम्बदी कलाई' (काँपती हुई कलाई) में पंजाबी-कविता की प्राचीन परम्परा को उसके उच्च शिखर तक ले गये।

यह बात उस समय की है जब पश्चिम में इटली अबीसीनिया को रौंदे जा रहा था, जब 'हैल सिलासी' चिल्लाकर कह रहा था—'यदि मेरे साथियों ने मेरी सहायता न की तो, मेरी बात याद रखना, सारा पश्चिम मेरी ही तरह वर्बाद होकर रहेगा। यह उस समय की बात है जब मुसोलिनी बार-बार कहता था—'सदा ही शान्ति रहे, यह एक असंभव बात है।' अँगरेज बड़े आराम से इन बातों को सुन रहे थे। फ्रांस मदमस्त पड़ा था। उस समय

हिटलर ने 'लीग ऑफ नेशन्स' को ठुकराकर 'सार' को निगल लिया था, जिस समय जापान ने 'लीग' से त्यागपत्र दे दिया था और जिस समय स्पेन में विद्रोह आरम्भ हो गया था, उस समय दुनिया भर के लेखकों ने अपने उत्तरदायित्व को समझा और सन् १९३५ ई० में पेरिस में एक कान्फ्रेंस हुई। उस कान्फ्रेंस में भारत की ओर से 'मुल्कराज आनन्द' और 'सज्जाद जहीर' सम्मिलित हुए। सन् १९३६ ई० में प्रगतिशील साहित्यिकों की एक कान्फ्रेंस लखनऊ में बुलाई गई। इसके प्रधान थे मुन्शी प्रेमचन्द। सज्जाद जहीर, राहुल सांकृत्यायन डॉ० अख्तर हुसेन रायपुरी, डॉ० रशीद जहाँ, अहमद अली आदि हिन्दुस्तानी लेखक इस कान्फ्रेंस में सम्मिलित हुए थे।

इन दोनों कान्फ्रेंसों में बहुत दिनों से चले आ रहे इस मत का खंडन किया गया कि कला कला के लिए है। उसकी जगह इस मत की स्थापना की गई कि कला जीवन के लिए है और कलाकारों से कहा गया कि वे अपने आसपास की वास्तविकता और युग-सत्य से विमुख न रहें। जहाँ दुनिया के राजनीतिज्ञ और वैज्ञानिक दुनिया को विनाश की ओर ले जा रहे थे, ससार के लेखकों और कलाकारों में यह विचार जगा कि वे जनता को इस विनाश सावधान कर दें।

उस समय 'लिखारी' नामक एक मासिकपत्र मोहन सिंह के सपादकत्व में निकाला गया। नये पंजाबी-साहित्य के पुराने-से-पुराने नमूने इसी पत्र में मिलते हैं। आजकल के प्रगतिशील कलाकारों ने पहली बार 'लिखारी' में ही लिखना आरम्भ किया था। प्रो० मोहन सिंह की प्रगतिशील कविताएँ भी सबसे पहले इसी पत्र में प्रकाशित हुईं। प्रो० सन्तसिंह सेखों की नई शैली की कहानियाँ 'प्रेमी देनियाणे' और 'मझधार' आदि 'लिखारी' में ही सबसे पहले छपीं। 'पंज दरया' नामक पत्र मोहन सिंह की उसी लगन का एक दूसरा उदाहरण है। वास्तव में कुछ दिनो बाद 'लिखारी' का नाम बदलकर 'पंज दरया' पाठकों को भेजा जाने लगा था।

उस समय तक नये लेखकों ने यह बात पूरी तरह अनुभव कर ली थी कि जिस तरह की कविता फिरोजदीन शरफ लिखता है, जिस प्रकार की कहानियाँ जोशुआ फजलदीन ने लिखीं और जो नाटक कृपासागर ने प्रस्तुत किये, वे प्रगतिशील साहित्य के मापदडों पर पूरे नहीं उतरते। लेकिन, जो कुछ पेरिस में कहा गया और जिसे लखनऊ में भी दोहराया गया, उसे न पाश्चात्य लेखक अभी तक हृदयगम कर सके थे और न हमारे देश के कलाकार ही।

हमारे देश में उन बातों को ग्रहण न कर सकने के कई कारण थे।

तब हम पराधीन थे—न हमें बोलने की स्वतन्त्रता थी और न लिखने की। जो कुछ हमारे कलाकार कहना चाहते थे, उसे कई कारणों से नहीं कह पाते थे। इस अभाव और विवशता ने संकेत से बात कहने की रीति को जन्म दिया। भाई साहब भाई वीरसिंह की 'गगाराम नामक रचना में जो कटु स्पष्टवादिता थी, वह मोहन सिंह और प्रीतम सिंह सफीर की रचनाओं में केवल प्रतीक मात्र होकर रह गई।

हटलर एटीला चगेज़ खां
रत्ते गट-गट भरे प्याले
मत्ते गुडलक पींदे,

जरा खरीद गोरी बीच बन्हेरे
कोझे ते बलवान विषय दे
सु गडी विच चलावे
[हिटलर एटीला और चगेज खाँ
रुधिर पूर्ण प्याले
मस्ती में 'गुडलक' कहकर गट-गट पी रहे हैं।
क्रीत नवयौवना अँधेरे मे
कुरूप और बलवान वासना के
भुजपाश में सिकुडी हुई है।]

'अधवाटे' : मोहन सिंह

प्रीतम सिंह अपनी कविता के लिए जब प्रतीक भारतीय परम्परा, लोक-साहित्य, सस्कृति या प्राचीन भारतीय इतिहास से लेते हैं, तब उन्हे समझने में पाठकों को इतनी कठिनाई नहीं होती। लेकिन कभी-कभी कवि अपनी भावनाओं के वेग और अपने स्वभाव की चचलता के कारण उन्हें सुलझाए-सँवारे बिना ही छोड देता है।

इक मिट्टी दी मुट्ठी
भर के
नैनां नाल नीझ ला तक्की
नक्श गवाचे हुए न दिस्से
होठ हसा न सक्की,
लभ-लभ चमकीलियां घु घरालियां
नज़र सैहक के थक्की
केर-केर उङ्गला चों भौं ते
कूक अन्त में उट्ठी
हाय नी
इक मिट्टी दी मुट्ठी
[मिट्टी की एक मुट्ठी
भरकर
नैनों के समीप ले जाकर उसे निहारा।
खोये हुए नक्श नजर न आये
वह होठों पर मुस्कान न ला सकी।
ढूँढ-ढूँढकर चमकीले घूँघट
नज़र तरस-तरस कर थक गई।
उँगलियों के बीच से जमीन पर गिरा-गिरा कर
आखिर में चिल्ला पडी
हाय री
मिट्टी की मुट्ठी।]

'कत्तक कूंजा' प्रीतम सिंह सफीर

नये पंजाबी लेखकों में अमृता प्रीतम ने प्रतीकात्मक शैली का शायद सबसे अधिक प्रयोग किया है, इसलिए कि वह नारी है। एक नारी जो कवि है, और अपनी कविताओं में हमारे जीवन पर व्यंग्य करती है, कहीं उसे ऐसी बात कहनी होती है, जिसे यदि हमारे समाज की कोई नारी कहे तो अच्छा नहीं समझा जाता। स्त्री की बेबसी का अमृता प्रीतम ने यों वर्णन किया है :–

रत्ती मेंहदी नाल लबेड़ी
सूहे सालू विच लपेटी
पीले सोने नाल जलेटी
मास दी बोटी, कुख दी बेटी
वाह-वाह दानी
वाह-वाह दाते
किडे करम कमाए
जेहड़ी झोली तक्कन
ओ हो ई परवाए।

[महदी से हाथ पीले किये हुए
लाल दुपट्टे में लिपटी
पीत स्वर्ण से मढ़ी
मास की बोटी, कोख से जन्मी,
धन्य हैं दानी
धन्य हैं दाता,
कितने बड़े कर्मवीर हैं।
जो झोली देखते हैं
वही उन्हें स्वीकार है।]

'कन्यादान' : अमृता प्रीतम

आर्थिक विवशता के कारण एक भारतीय नारी किसी की हो गई। सारे जीवन के लिए बलात् वह एक ऐसे आदमी के साथ बाँध दी गई, जिसके लिए उसके हृदय में कोई भावना नहीं, कोई स्थान नहीं। आजकल के युग में चाहे वह इस अन्याय के प्रति भीतर विद्रोह कर ले, किन्तु उसके विरुद्ध वह खुले शब्दों में अक्सर अपनी आवाज बुलन्द नहीं कर सकती। यदि उसपर कटाक्ष करना भी चाहेगी तो किसी बहाने या ओट से ही वह कर सकती है।

अन्नदाता
कामें मा बाप
दित्ते कामे ने जम
कामे दा कम है
सिर्फ कम।
बाकी वी ता कम
कर दै एहोई चम
ए वी इक कम।
अन्नदाता।

मे चम दी गुड्डी
खिडलै खिडालै
लहू दा प्याला
पी लै पिला लै।

[अन्नदाता !
मेरे माता-पिता श्रमिक थे
जिन्होंने मुझ श्रमिक को जन्म दिया।
श्रमिक का काम है
केवल काम करना
शेष काम भी तो हैं
यही शरीर करता है
यह भी एक काम है?
अन्नदाता !
मैं मास की एक गुड़िया हूँ
खेल ले, खिला ले
लहू का प्याला हूँ,
पी ले, पिला ले।]

'अन्नदाता' : अमृता प्रीतम

पंजाबी में कहानी का जन्म सही अर्थों में सन् १९३५-३६ ई० में ही हुआ था। उस युग की पजाबी-कविता की प्रतीकात्मक शैली ने गद्य मे चेतना की अतर्धारा (Stream of Consciousness) का रूप ग्रहण किया। किसी पात्र से कुछ कहलवाना इतना सरल नहीं, जितना उसकी उपचेतना का अध्ययन करके उसमे समा जाना। इस तरह समय, स्थान और वास्तविकता के बन्धनों से ऊपर उठकर कई बार लेखक, कम-से-कम शब्दो मे, वह कुछ कह सकता है, जो या ही किसी पात्र से कहलवाना असम्भव-सा प्रतीत होता है। पाश्चात्य देशों मे इस शैली का कविता में भी प्रयोग किया किया। हमारे देश के उर्दू के कवि 'मीराजी' ने चेतना का धारा (Stream of Consciousness) को अपनी रचनाओं मे बड़ी सुघरता से निखारा। पंजाबी मे इस तरह की कविता कम लिखी गई। किन्तु पजाबी-कहानी मे इस नवीनता को ग्रहण करके उसके सुन्दर प्रयोग किये गये। जब उर्दू मे हसन अस्करी की प्रसिद्ध कहानी 'हरामजादी' छपी, उससे पहले पंजाबी में इस प्रकार की कई कहानियाँ छप चुकी थीं। हमारे देश में चेतना की धारा (Stream of Consciousness) की चर्चा पाश्चात्य उपन्यासकार 'जेम्स जायस' के प्रसिद्ध उपन्यास 'यूलिसिस' के द्वारा हुई थी। 'सवेर सार' कहानी-संग्रह में इसी नाम की कहानी चेतना की धारा (Stream of Consciousness) के आधार पर ही लिखी गई। एक सुबह एक नौजवान सो कर उठता है। पलग पर लेटे-लेटे उसे जो-जो खयाल आते हैं, उन्हीं खयालों की लड़ी ही

अन्त में एक कहानी बन जाती है। 'आन्द्रा' नामक उपन्यास मे जब जमींदार को यह पता लगता है कि जिसको वह मरवा रहा है, वह उसी के खून का खून है, उसी के अग का अग है—इस द्वन्द्व, इस उलझन को लेखक ने चेतना की लहर के द्वारा ही व्यक्त किया है।

नये लेखको ने यह भी सोचा कि साहित्य को जीवन के निकट होना चाहिए। हमारा साहित्य सामान्य जीवन का, वह जैसा भी है, दर्पण होना चाहिए।

फलतः हमारे नये लेखकों और कलाकारों ने जीवन की साधारण-से साधारण घटनाओं को घिनौने-से-घिनौने पहलुओं को, भद्दे-से-भद्दे पात्रों का चित्रित करना आरभ कर दिया। इस तरह, एक तो वे वह दिखाना चाहते थे कि उन्होंने पुराने बन्धनों को तोड फेंका है और दूसरे यह प्रमाणित करना चाहते थे कि हमारे चारों ओर का धूलि धूसरित जीवन भी कला का विषय बन सकता है। बस, वे जिन्दगी की नालियों को उलीचने लगे। समतल और सुन्दर को उखाडकर उसके नीचे की मुद्दतों की गदगी को सजा-सँवारकर, उस भद्दपन और उलझन को सविस्तर प्रस्तुत करने लगे।

उर्दू के कुछ लेखकों ने भी गन्दगी और भद्दपन को आश्रय दिया। 'लिहाफ' और 'काली सल्वार' जैसी कहानियाँ लिखी गई। इस्मत और मटो पर मुकद्मे चले। पजाबी-साहित्य भी इस असर से न बच सका। कविता में प्रीतम सिंह 'सफीर' के ये शब्द कुछ अधिक कडे अनुभव किये गये —

> किसे कुँआरों दे कजले रगे नैन
> प्रीत नक्शयाँ नाल भरे होय
> सत अठ वार झना नूं तरे होय।
> घुग्घी बाँग बना के मुखड़ा
> कन्त नू बरदें हैन।
>
> [किसी कुमारी के कजराये नयन,
> प्रीति के डोरों से चित्रित,
> सात-आठ बार चनाव को जो पार कर चुके हैं
> फाख्ता की तरह अपना मुख बनाकर
> कन्त को अपनाते हैं।]

'अमृतसरी प्रीत' : प्रीतम सिंह 'सफीर'

'कुड़ी कहानी करदी गयी' नामक कहानी-सग्रह को लडकियाँ लुक-छिप कर पढती थीं। लड़कियों के कालिजों की लाइब्रेरी में तो इस सग्रह को स्थान नहीं मिला, लेकिन कालिज की प्रिन्सिपल और लाइब्रेरी की अध्यक्षा निजी कापी खरीदने के लिए उतावली रहती थीं। इसलिए कि 'कुड़ी कहानी करदी गयी' सग्रह में 'खरींड' नामक कहानी में एक ऐसे अध्यापक का चित्र खींचा गया है, जो दूसरी-तीसरी कक्षा में पढनेवाले एक लड़के से इस प्रकार प्यार करता है जैसे एक मर्द एक औरत से। इस तरह 'मनमारे' नामक कहानी में एक पढी-लिखी औरत अपने शरीर की गर्मी देकर एक गरीब भूखे-नगे ठंड से ठिठुरे हुए नौकर को मौत

के मुँह से बचा लेती है। 'गुलाम' नामक कहानी एक ऐसी अँगरेज औरत का चित्र सामने लाती है, जो एक हिन्दुस्तानी नौकर को दूर नदी के किनारे ले जाकर हरी घास के ऊपर बिछे हुए एक बहुत कीमती कालीन पर बैठने को कहती है, एकान्त में अपने साथ शराब पीने पर मजबूर करती है, उसे अपने शरीर का गोरापन दिखाती है और वह नौकर घबराया हुआ उस अँगरेज औरत की बाँहों से अपने को छुड़ाकर भाग जाता है।

बलवन्त गार्गी के नाटक 'लोहाकुट' में काकू अपनी बेटी बैणों की लिपटी हुई सलवार का बार-बार जिक्र करता है। 'निक्की निक्की बाशना' में मोहन सिंह का एक पात्र अपनी बेटी रेशमा से उसके घर देर से आने पर इस तरह के प्रश्न पूछता है जो शायद ही कोई बाप अपनी बेटी से पूछेगा।

इसी तरह जिन्दगी के गन्दे चित्रों को और भी गन्दा प्रस्तुत करना, जान बूझकर भद्दी चीजों को ढूँढ़ना और उन्हें उनके स्वाभाविक वातावरण से अलग करके पेश करना उस युग के साहित्य का एक विशेष गुण था। जिन स्थानों का, जिन वस्तुओं का उल्लेख करना साहित्य में वर्जित था, उन्हे विशेष रूप से उभारा जाने लगा।

एक समय था कि राजे-महाराजे, अमीर, जागीरदार, पंडित, संत, विद्वान्, फौजी, चाँद-जैसी सुन्दर 'हीर' फूल-जैसे कोमल 'राँझे' और 'यूसुफ' साहित्य की चेतना में बसे हुए थे। फिर एक समय यह आया जब मध्यम श्रेणी के पात्र भी साहित्य के मन और प्राण में स्थान पाने लगे।

मेरी नाजो नार
नहीं कोई हीर
ना मैं हां रांझा
... ...

. . . . ..

भावें तक मेरी नाज़ो दा कुछ बेडोला
मुख तों झाके मुट्ठ हड्डियां दी नक शिख होला
बाकी वी मूंह मत्था मसां गुजारा।
[मेरी नाज-भरी पत्नी
न तो कोई हीर है
और न मैं रांझा हूँ।
. ... ..
... .
चाहे मेरी नाज भरी पत्नी की नाक बेडौल-सी है।
उसके मुखड़े पर हड्डियाँ झाँक रही हैं
और उसका नख-शिख साधारण है
बाकी भी उसका चेहरा-मोहरा बस मामूली है।
. ... .

'मेरी नाजो नार' देवेन्द्र सत्यार्थी

मुसलमानो पर थोपा है, किन्तु इससे समझदार पाठक सन्तुष्ट नहीं हो पाता। कइयो ने जहाँ मुसलमानो को बुरा-भला कहा हैं, तो साथ-साथ हिन्दू और सिखों की भी निन्दा की है। इस तरह जान-बूझकर केवल दोनो पार्टियो मे अपराध को बाँटना कुछ बनावटी सा मालूम होता है। कइयो ने इस अत्याचार का उत्तरदायित्व आदमी के अन्दर की पैशाचिक प्रवृत्ति को ठहराया है, नेताओ के माथे दोष मढ़ा है। अमृता प्रीतम की साम्प्रदायिक झगड़ों के बारे मे प्रसिद्ध कविता इस विषय पर एक सुलझा हुआ उदाहरण है —

अज आखां वारिश शाह नू किते कबरां विचो बोल

इक रोई-सी धी पंजाब दी, त लिख-लिख मारे वैण
अज लक्खां धीआ रोंदियां, तैनू वारिसशाह नूं कैहण
वे दर्दमन्दा दया दर्दिया उठ तक अपना पंजाब,
अज बेले लाशां विच्छिया, ते लहू दी भरी चिनाब।
[आज वारसशाह से कहती हूँ · कहीं कब्रों मे से बोलो
. ...
एक रोई थी बेटी पजाब की, तुम करुण गान लिखते चले गये,
आज लाखो बेटियाँ रोती हैं, वारिसशाह और तुमसे कहती हैं,
ओ दुखियों के हमदर्द उठ देख अपना पंजाब
आज जंगल में लाशें बिछी हुई हैं और चनाव खून से भरपूर है।]

'अग खाण वाले' नामक कहानी-सग्रह में साम्प्रदायिक झगडो के बारे मे ही लिखा गया है। इसमें रावलपिंडी-काड से लेकर महात्मा गांधी की हत्या तक के रक्तिम युग का चित्रण है। नानक सिंह के दो उपन्यासों का विषय भी यही साम्प्रदायिक भावना ही है।

अगस्त, सन् १९४७ में देश स्वतत्र हुआ। लाखों बेघर हो गये, लाखों जानें चली गईं। मन्दिरों को जलते हमने देखा, मस्जिदो की ईंट-से-ईंट हमारे सामने बजाई गई। अमृता प्रीतम ने 'मेरी इकरारोंवाली रात' नामक एक कविता लिखी। पर मोहन सिंह मानते हैं कि सही स्वतत्रता तभी मिलेगी, जब हम इस भुखमरी के अभिशाप से मुक्त होंगे, जब हमारी दरिद्रता की काली चादर उतर जायगी।

स्वतन्त्रता का एक लाभ अवश्य हुआ। हमारे साहित्यिकों ने स्वतत्र देश के लेखकों की तरह सोचना आरभ कर दिया। मोहन सिह, प्रीतम सिंह 'सफीर', अमृता प्रीतम आदि साहित्यिक जन-साधारण के पास आकर खड़े हो गये हैं और उनके साथ हो रहे अन्याय की बात दुनिया को पुकार-पुकारकर सुनाने लगे हैं।

नया पजाबी साहित्य आज बड़े योग्य और समर्थ हाथों में है। प्रथम बार साहित्य के सभी अगों की समान रूप से उन्नति हो रही है। जहाँ आज सुरेन्द्र सिंह नरुला पजाबी-जीवन को सुचारु रूप से अपने उपन्यासो में चित्रित कर रहा है, जहाँ बलवन्त गार्गी पजाबी रहन-सहन को अपने नाटकों में स्वस्थ ढंग से अकित कर रहा है, वहाँ मोहन सिंह 'सफीर', अमृता प्रीतम आदि पजाबी के कवि ऐसे काव्य का सृजन कर रहे हैं, जिसपर कोई भी साहित्य गर्व कर सकता है।

— करतार सिंह दुग्गल

कश्मीरी-भाषा और उसका साहित्य

(क)

कश्मीरी-भाषा का क्षेत्र तो कश्मीर-घाटी के अन्दर ही सिमटा हुआ है, जो १०,००० वर्गमील से कुछ कम है, पर जम्मू-प्रान्त के किश्तवाग जिले में भी कश्मीरी ही की एक उपभाषा बोली जाती है। इस तरह कुल मिलाकर यह लगभग ५०,००० व्यक्तियों की मातृभाषा है।

ध्वनि-विशेष—

इस भाषा की ध्वनिमाला में छह स्वर ऐसे हैं जो देवनागरी स्वरों के अतिरिक्त हैं। वे यों हैं—

१,२ : अ, आ (अर और आर या लर और लार शब्दों में)

३,४ : अु, अू*(तुर और तूर शब्दों मे), और

५, ६ : ऐ, औ (जो प्राकृतों के ह्रस्व ए और ओ के समान हैं—म्यै और मौर शब्दों मे)

ऐसे ही व्यञ्जनों में—

च़, छ़ और ज़ विशेष ध्वनियाँ हैं, जिनमें से च और ज विशेष ध्वनियाँ तो मराठी और पश्तू में भी पाई जाती हैं, और छ च का ही महाप्राण है।

लिपि—

आज से छह सौ वर्ष पहले कश्मीरी भाषा शारदा लिपि में लिखी जाती थी जो ब्राह्मी का कश्मीरी संस्करण-मात्र है। पर १४ वीं शती में फारसी राजभाषा बनी तो कश्मीरी के लिए भी फ़ारसी-लिपि का प्रयोग बढ़ता गया और धीरे-धीरे शारदा-लिपि पुरोहितों तक ही सीमित रह गई। इसी कारण अब फारसी-लिपि को ही कश्मीरी-ध्वनियों के अनुकूल बनाकर अपनाना पड़ा है। वैसे शारदा-लिपि भी सभी ध्वनियों के लिए संतोषजनक नहीं रही है। उसमें भी उसी प्रकार के परिवर्द्धन की आवश्यकता है, जैसे देवनागरी मे। छोटे-से घेरे में देवनागरी-लिपि का भी प्रयोग होता ही रहा है। भारत के संविधान का कश्मीरी अनुवाद देवनागरी-लिपि में भी छपनेवाला है।

---

*ध्वनि-विशेष की संख्या ३-४ की मात्राओं में जो चिह्न कश्मीरी भाषा में प्रयुक्त होते हैं, वे चिह्न हिन्दी में नहीं है। केवल सङ्केत के लिए मात्राओं के नीचे छोटी लकीर लगा दी गई है।

उद्भव—

कश्मीरी भाषा कब और कैसे उभरी, निश्चय से कहा नहीं जा सकता। फिर भी, ग्रियर्सन के मत को फिर से परखना जरूरी है। उसने जिन तथ्यों के आधार पर कश्मीरी को दारद्-परिवार की संतति बताया था, उनसे इस मत का समर्थन बहुत कम हो पाता है, विशेषकर कश्मीरी-क्रिया-पदों और सर्वनामों की दृष्टि से।

कश्मीरी क्रियापदों का विकास एक ऐसी सश्लेषण-पद्धति पर होता रहा है जो भारत की दूसरी आधुनिक भाषाओं में प्रचलित नहीं। उदाहरण के लिए लीजिए—

हावुन (दिखाना) के ये रूप—

१. होवथस (तुमने दिखाया उसको)
२. होवथम (तुमने दिखाई उसको)
३ होव्यथस (तुमने दिखाये उसको)
४. हाविथम (तुमने दिखाई उसको)
५. होवथम (तुमने दिखाया मुझे)
६. होवनम (उसने दिखाया मुझे)
७ होवनस (उसने दिखाया उसे)
८ होवमस (मैंने दिखाया उसे)
९ होवमय (मैंने दिखाया उसे) आदि-आदि।

कश्मीरी के इन क्रियापदों में कर्त्ता के अतिरिक्त कर्म के पुरुष, लिङ्ग और वचन का भी स्पर्श पाया जाता है, यहाँ तक कि द्विकर्मक की रंगत भी मिलती है। सश्लेषण की यह प्रवृत्ति कश्मीरी की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है, पर दारद् भाषाएँ इस रहस्य पर अभी तक कोई विलक्षण प्रकाश नहीं डाल पाई हैं।

रही बात कश्मीरी भाषा में घोष-महाप्राण के अभाव की। यह विशेषता सिन्धी और पश्तू की भी है, बल्कि पंजाबी तथा डोंगरी में भी इन वर्णों का उच्चारण 'ह' की ध्वनि से मुक्त है। पूर्वी बंगाल और राजस्थानी में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है। इसे दारद-प्रस्ताव मान भी लिया जाय तो इसी बिना पर केवल कश्मीरी-भाषा को दारद-संतति ठहराना युक्तियुक्त नहीं।

इसके विपरीत बिल्हण, कल्हण, शितिकण्ठ और श्रीवर आदि की साक्षियों से स्पष्ट होता है कि कश्मीरी भाषा भी उन्हीं परिस्थितियों और प्रभावों का परिणाम है, जिनसे गुजराती, मराठी, बंगाली, हिन्दी और उर्दू आदि का विकास हुआ है। सम्भवतः कश्मीरी का उद्गम वह पैशाची है जो कभी उत्तर पश्चिम में प्रचलित थी, जिसे ब्राह्मण-ग्रन्थों में उदीच्य कहा गया है।

शितिकंठ (१३ वीं ई०) ने 'महानयप्रकाश' की भूमिका यों बाँधी है—

'अथो चितरुचितां नुतिसर्वगोचरया देशभाषया विरचयितुमाह।'

और सर्वगोचर देशभाषा में रची गई नुति का पहला पद्य यों है—

देवत अक्क किश्शी परु राजि
जग घस्मरु भैरु भद्दंत।
नन्त शत्त गासक नेराजि
शमवाजी आशय तद्दंत॥

यह भाषा निस्सन्देह संस्कृत से भिन्न है और प्राकृत की अपेक्षा अपभ्रंश के अधिक निकट है। तो क्या यही उस समय की कश्मीरी-भाषा नहीं थी और इसीसे आज की कश्मीरी का विकास नहीं हुआ है?

बात यों है कि उन दिनों लोकभाषा में शैव-सिद्धान्त प्रस्तुत करने की लगन वैसी ही रही होगी जैसी पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंशो मे बौद्ध और जैन-दर्शन समझाने की। शैव दर्शन को लोक-सुलभ बनाने का यह प्रयत्न बाद में भी जारी रहा ही होगा, जभी तो ललद्यद के 'वाख्यों' में भाषा का लालित्य छलक उठा है। चौदहवीं सदी तक कश्मीरी-भाषा बोलचाल के अतिरिक्त दर्शन और लोक-संस्कृति का भी माध्यम बन चुकी थी और जब हम 'ललवाख्य' (अर्थात् लल की वाणी) की भाषा को 'बाणासुरवध' की भाषा के साथ मिलाकर परखते हैं, तब समझ लेते हैं कि मौखिक परम्परा ने इसे कहाँ-से-कहाँ पहुँचा दिया है।

'बाणासुरवध' हरिवंश के आधार पर लिखा हुआ पहला कश्मीरी-प्रबन्ध काव्य है। महावतार ने जैनुलाबिदीन बडशाह (१५ वीं शती) के शासनकाल में इसे रचा था। श्रीवर की 'राजतरंगिणी' से ज्ञात होता है कि इस शासक के दरबार में कश्मीरी भाषा का भी काफी मान था। महावतार के अतिरिक्त महसोम और योधभट्ट ने भी कश्मीरी मे रचना की। सोम ने 'जैनचरिथ' में अपने आश्रयदाता के गुण गाये और योध ने उसके विषय मे एक नाटक 'जैनविलास' रचा। इन तीन काव्यो में से केवल बाणासुरवध बच पाया है और इसकी 'देश-भाषा' के अध्ययन से कश्मीरी-भाषा की अपभ्रंशमूलकता और भी स्पष्ट हो जाती है। एक उद्धरण काफी होगा—

वैशम्पायन कहते हैं—

"शुनेत् वनों कुम्भाजे बाणस्
आनोत् मङ्गेत् कित् विनाश्
युद्ध महा दुस्सह ए पानस
चल देवा अपवचन म भाप्॥" (नर्कटावृत्तम)

अर्थात्—सुनकर कहा कुम्भज ने बाण को
लाया तू—माँगकर विनाश।
युद्ध महा दुस्सह यह; अपने-आप
चला जा, देव को अपवचन मत कह!

(ख)

साहित्यारम्भ—

अतः इस बात से इनकार नहीं हो सकता कि शितिकण्ठ के 'महानयप्रकाश' की सर्वगोचर देशभाषा में ही कश्मीरी-पद्य का पहला प्रस्फुटन दृष्टिगोचर होता है, पर इसका स्पष्ट रूप सबसे पहले ललद्यद के लोकप्रिय 'वाख्यों' में ही हमारे सामने आता है। ललद्यद की यह वाणी कश्मीरी-साहित्य की अमर थाती है और हिन्दू-मुस्लिम, बच्चे-वृद्ध, नर-नारी, सभी के होठों पर शताब्दियों से नाचती आई है। आज भी, जबकि ललद्यद के युग की दार्शनिक पृष्ठभूमि लुप्त हो चुकी है, उसके सन्देश का रागात्मक स्वर कश्मीर के अन्तस्तल में सोल्लास गूँज रहा है—

"श्येवय छुय थलि थलि रोजान
मो जान ह्योंद त मुसलमान
त्रुखय छुख पनुन पान परजान
स्वय छय साहिबस सूत्य जाञ जान"

अर्थात्—*"शिव ही कण-कण में विद्यमान*
भिन्न न हिन्दू - मुस्लिम जान
निपुण है तो आपा पहचान
साहिब का सच्चा वह ज्ञान।"

सन् १३५० ई० के लगभग जब ललद्यद ने होश सँभाला तो कश्मीर के सांस्कृतिक जीवन में उथल पुथल मची हुई थी। इधर से शैव दर्शन की जीवन-पोषक परम्पराओं को बाह्य आडम्बरों ने ढँक लिया था और उधर से इस्लाम के प्रचारक सूफी फकीर एक नया दृष्टिकोण पेश करने लगे थे। बुद्धिभेद के घुप अँधेरे में अध्यात्म की अमरज्योति लेकर ही ललद्यद कश्मीरी-साहित्य में उतर आई। स्थूल मूर्त्तिपूजा को धर्म का सर्वस्व माननेवाले अविवेकी को उसने आड़े हाथों लिया—

"देव है पत्थर, देवल पत्थर
पत्थर ही ऊपर - नीचे
पूजेगा किसको रे पंडित
मन को श्वास से गर्मा ले।
पढ-पढ होंट छिले हैं तेरे
लिख-लिख घिसी अंगुलियाँ हैं
खेद कि फिर भी द्वन्द्व न तेरे
मन के भीतर से छूटा!" (रूपान्तर)

कबीर से सौ-एक वर्ष पहले ललद्यद ने इस बाह्य आडम्बर और पाखण्ड पर तीव्र चोटें कीं और लोक-भाषा में ही मानव-कल्याण की उद्भावना करनेवाली लोक-कविता के सोते बहा दिये। सहजावस्था की अनुभूति पर उसने विशेष जोर दिया—

"जो जो काम किया अर्चन है
मंत्र कि जो कुछ उचारा
तन का परिचय पाया मैंने
तन्त्र यही परमेश्वर का!' (रूपान्तर)

सहजावस्था को पहुँचने से पहले उसने कठोर-से-कठोर साधना की। उसी के शब्दों में—

"शून्युक मोदान कोडुम पानस
म्य ललि रुदुम न ब्बद न होश
व्येजय सपजिस पानी पानस
अद क्याह् गिलि फोल ललि पम्पोश।"

अर्थात्— *"शून्य का मैदान पार कर चुकी तो*
मै लल सुधबुध खो बैटी;
अपने-आप से परिचित हुई तो
कीच में से कमल-जैसी उल्लसित हुई।"

और— *"दर्पण की तरह मेरे दिल से मैल धुल गया*
जब कहीं मैं 'जन' को जान पाई
उसे अपने पास ही देखा तो
सब कुछ वही और मैं कुछ भी नहीं।"

[कबीर के—*'अब हरि है मै नाहीं'* स मिलान कीजिए।]

संसार से पलायन की जो प्रवृत्ति लल-वाख्यों में कहीं-कहीं नजर आती है, उसका मूल कारण लल के घरेलू जीवन की कठोरता ही नहीं, देश-व्यापी राजनीतिक और सामाजिक अस्तव्यस्तता भी है। हृदयहीन सास और अविवेकी पति ने उसकी नाक में दम कर ही रखा था, सामाजिक उपद्रव ने उसके भाव-प्रवण हृदय पर और भी भीषण आघात किया और उसका अध्यात्म चीत्कार कर उठा—

"कच्चे धागे से सागर में खेती जाती हूँ नैय्या
टेर दई सुन लेता मेरी पार मुझे पहुँचा देता
खो जाती हूँ कच्ची मिट्टी की थलिया में ज्यों पानी
जियरा मेरा ललचाता है—घर जाती, मैं घर जाती।"

और—"शिव हो, केशव हो, जिन हो या
कमलजनाथ—नामा ही हो
मुझ अबला की भव-रुज हर ले
वह या वह या वह या वह !"

वास्तव में कश्मीरी कविता ने जिस वातावरण मे आँख खोली, वह सामाजिक और राजनीतिक उपद्रवों से विपएण हो चुका था। लोग दुनिया के कडवे यथार्थ से घबराकर अध्यात्म की मीठी कल्पनाओं में समाश्वासन ढूँढ रहे थे। ऐसे सकट की घडी में हमारे कवियों ने भी आध्यात्मिक समन्वय का आसरा लेकर उनके सामने मानवता का एक प्यार-भरा सन्देश रखा। ललद्यद के तीस वर्ष बाद नुदर्योश (नूरउद्दीन) की वाणी में भी इस सदेश की गूज साफ सुनाई पडती है जिसमें ज्ञान, भक्ति और सदाचार द्वारा आध्यात्मिक और आधिभौतिक सन्तुलन की प्रेरणा यों प्रकट हुई है-

"मक्का और मदीना का मन मे ही खोजो
निकट ही राह तो है
सत्य को गहो, द्वेष को तजो
जब कहीं तुम्हें सहज-क्रिया सूझेगी !"

और—"सच यदि सुनो तो 'पाँचों' (इन्द्रियों) को झुका दो
नहीं तो केवल 'मांस' को झुकाने से
तुम बच नहीं पाओगे
'शिव' के साथ जब तुम्हारा मेल हो जाय
हे ऋषितात ! तुम्हारी नेमाज जभी सिद्ध हो जाय !"

नुदर्योश की शिष्य-परम्परा 'र्यश'—(अर्थात् ऋषि)-परम्परा कहलाई और इसमें जीवन की तपोमयता के साथ-साथ आचार और विचार की सरल पवित्रता के द्वारा मानव-प्रेम की साधना पर ही जोर दिया गया। 'दूर के ढोल सुहावन' समझनेवाले कौलाचारियों को इस परम्परा ने इसीलिए चिताया—

"अरे 'कौल' कहाँ जायगा तू इस पन्थ से
तज कर बाल-बच्चों और घर-गृहस्थी को ?
पाप का यह भार तू किस पर लादेगा ?
हे परमात्मा, हमारे पाप निवार !"

नुदर्योश के बारे में जो सुन्दर लोकगीत और सलापगीत आज भी प्रचलित हैं, उनमे साफ ज्ञात होता है कि 'र्योश'-साहित्य की परम्परा कम से कम सोलहवीं शती तक जारी रही होगी,

गीति-काव्य की यह परम्परा १८ वीं शती के अन्त तक जारी तो रही, पर बहुत कुछ घिस गई। फिर भी कश्मीरी-मौसीकी के संग्रहों में अज्ञात कवियों के सैकड़ों गीत ऐसे भी मिलते हैं, जिनमें प्रायः स्त्री की ओर से ही आत्मनिवेदन है और कश्मीर के प्राकृतिक परिवेश में आस-उसास का चित्रण बहुत सुकुमार है। हाँ, स्वरों में मिलन का उल्लास उतना नहीं, जितना विरह-व्यथा की कम्पन है। जैसे इस धड़कन में—

"रात-भर मेरे साथ अभिन्न रहा
(फूल पर) ओस की तरह;
सवेरे के किरण फूटते आह मुझे
क्यों छोड़ चला?
सखि, उससे अनुरोध करो,
छव तो देख के जाय!"

रहस्यराग—

चार सौ वर्ष की लम्बी यात्रा में कश्मीरी-गीतियों का जो अध्यात्म स्वर बजता ही रहा, वह १९वीं शती में पुनः जोर से गूँज उठा। लोक-गीतों से जान पड़ता है कि १८वीं शती में भी इस तरह की उत्कृष्ट कविता होती ही रही 'नयिहंज कथ' (नै की कथा) में बाँसुरी की पुकार यों फूट पड़ी है—

"मैं दूर जगल में ओझल थी……
मेरा भाग्य चोर लकड़हारा मेरा घातक बनकर
आ पहुँचा;
उसकी हत्यारी दृष्टि ने मेरा कचूमर निकाल दिया—
कुलहाड़े से वह जानलेवा चोट करता रहा—"

इस तरह की यातनाएँ झेलकर बाँस का टुकड़ा बाँसुरी बन पाया तो उसके दिल की गहराई से आवाज आई—

"चाहता हूँ कि साथियों को दुखड़ा सुनाऊँ
सीना चीर कर अपना दर्द दिखाऊँ
नैस्तान मेरा कितना अच्छा है
अनजान क्या जाने महिमा उसकी
वही जाने जो लामकान (अनिकेत) को हूँ पाये!"

जीवात्मा और परमात्मा के विरह का यह संकेत फारसी रहस्यवाद के प्रसिद्ध कवि रूमी की उस विश्वविख्यात मसनवी से प्रभावित है, जिसका आरम्भ यों होता है—

"बिश्नव अज नय चूँ हिकायत मी कुनद !"

एक और प्रसिद्ध लोककविता 'माछ तुलर' (मधुमक्खी) है जिसके रहस्यवाद में भी यथार्थ का राग झनक उठा है।

अत्याचार-पीड़ित मधुमक्खी एक किसान-नारी को अपना दुखड़ा सुनाती है—

"पर्वत-पर्वत से मैं शहद ले आई…
किसान ने मक्खन से पुती हुई, एक कोटी
बनवाई मेरे लिए ;
मैं एक किसान के पल्ले पड़ी, यही मेरी
विधि-विडम्बना थी।
जब उसने भ्रान्ती से मेरा छत्ता चीर डाला,
कितने ही जीवों की मौत उसके सिर चढ़ी…"

यह सुनकर किसान-नारी भी अपनी रामकहानी सुनाती है—

"वसन्त को जब मुतस्सद आ गये
किसानों की ढारस बँधाने के लिए
चाटुकारी से उन्होंने हमारा पेट भर दिया
हम झाँसे में आ गये—
शरद में 'समवेदना' भूलकर हमें मारने आ दौड़े।
.. ..
जो फसलें मैंने धरती में बो दी थीं
अरी वह पक भी गई
खलिहान में उसके ढेर भी लगा दिये मैंने
—सैकड़ों खरवार निकले !
अरी, चप्पे-चप्पे पर मुकद्दम और पटवारी
तोलने आ धमके
बेबस और अकिंचन कितने ही, सखि,
आँचल पसार-पसार कर आ पहुँचे !
मैंने उनके आँचल भर दिये—
यही तो मुक्ति का मार्ग है री !"

शताब्दियों से कश्मीरी किसान की जो लूट-खसूट होती आई है, उसपर कितनी चोखी टिप्पणी है इस रहस्य-गाथा में।

जब कि वर्त्तमान 'येंश-नामा' लिपिबद्ध किया गया। इस संग्रह में नुदर्योश की पत्नी ज़यद्यद तथा सन्त महिला शामद्यद आदि की वाणी के नमूने भी उद्धृत हैं।

इसके पश्चात् जैन-उल्-आबिदीन बडशाह (१५ वीं शती) के काल में कश्मीरी-साहित्य की जो प्रगति रही उसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। बडशाह के पोते हस्सनशाह के दरबार में भी कश्मीरी-भाषा का बड़ा आदर रहा। उसके कवि गणक प्रशस्त की एक निराली रचना आज भी उपलब्ध है 'सुखदुख चरित', जिसके चार अध्याय हैं—विद्यापरिश्रम, मदनशास्त्र, जन्मजरामरण और तानप्रकाश। शेष साहित्य लुप्त हैं।

गीति-काव्य—

आश्चर्य की बात है कि १६वीं शती में मृतप्राय कश्मीरी कविता को फिर से सजीव करने का श्रेय भी एक नारी को ही है, और वह नारी है 'हब्बा ख़ातून'।

ललद्यद के 'वाक्यों' का छन्दाविधान परिष्कृत और कसा हुआ नहीं था, उसमें लचीली लय का एक मनोरम संगीत था, पर हब्बा ख़ातून ने फ़ारसी की 'बहरों' का सहारा लेकर एक संयत छन्दोविधान की स्थापना की। ऐसा लगता है कि उससे पहले ही लोकगीतों के द्वारा कश्मीरी-कविता के आकार प्रकार में परिवर्त्तन हो चुका था, पर इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि हबा खातून ने कश्मीरी-गीति-काव्य की एक नई विधा को विकसित किया जिसमें आत्मनिवेदन की कोमलता, मार्मिकता और संगीतमयता वैसी ही प्रबल है जैसी ललद्यद के मुक्तकों में तीव्रता, स्पष्टवादिता और दर्शन-गम्भीरता।

हबा खातून का जीवन ही एक ऐसा करुण काव्य है जिसका 'अथ' पीडा से होता है और 'इति' विरह से। कश्मीर के शासक यूसुफ़शाह चक की प्रेमिका बनने पर उसके कुछ दिन सुख से कट गये तो उसने रोमांस के मधुर राग भी अलापे, पर उल्लास की मस्ती उनमें भी नहीं, मानो बीते जीवन का अवसाद उसका पीछा कर रहा हो। उसके कवि-हृदय पर क्या-क्या बीती थीं, यह उसकी इन धड़कनों से स्पष्ट होता है—

"किस आशा पर प्राण टिकेंगे, किस आशा पर ?
सखि वह तो सुध मेरी भूले,
नाम नहीं मेरा लेता, वह नाम नहीं लेता मेरा !
'उर्फ़' मना रही है दुनिया
'ईद' है आई हर प्रेमी की
प्रिय बिन 'ईद' भी कैसी ? वह नाम नहीं लेता मेरा !
भीतर ही भीतर सुलगाया
झोंक दिया भट्ठी में मुझको
क्षार हुआ चम्पा-तन मेरा, वह नाम नहीं लेता मेरा !
गला दिया है हिम-सा मुझको
व्याकुल कर डाला झरना-सा
भटकाया है सरिता-जैसा—वह नाम नहीं लेता मेरा !"

कश्मीरी मौसीकी (अर्थात् संगीत-संहिता) के सर्वप्रथम सम्पादन का श्रेय भी हब्बा खातून को ही दिया जाता है। आजकल शादी ब्याह के अवसरों पर जो लोकगीत कश्मीर में गाये जाते हैं, उनमें से अधिकांश या तो हब्बा खातून के बताये जाते हैं या **अरणिमाल** के।

अरणिमाल ने १८ वीं शती में वही काम किया, जो हब्बा खातून ने १६वीं शती में। हब्बा के बाद कई एक कवियों ने उसकी गीति-प्रणाली को अपनाकर वेदान्त और सूफी मत के सामंजस्य से प्रेरित कविता की, और मुगलकाल में एक साधिका **रूपभवानी** (अलख्येश्वरी) ने ललद्यद की अध्यात्म-परम्परा को पुनः जीवित भी किया ; पर उसकी पद्य-रचना में वह भावमयता नहीं जो लल-'वाख्यों' की विशेषता है।

मुगलों के बाद कश्मीर की राजनीतिक स्थिति और भी विप्लवाकुल रही। समाज की नींव हिल उठी तो आध्यात्मिकता अकर्मण्य निराशा का केन्द्र बन के रह गई, और तुकबंदियों में 'उसगार' के जटिल रहस्य की दुहाई दी जाने लगी। इन परिस्थितियों में किसी ऐसी कवि प्रतिभा की आवश्यकता थी जो कविता की सूखी शिराओं में नई अभिव्यक्ति का संचार कर सके, और इसी आवश्यकता की पूर्ति **अरणिमाल** ने की।

अरणिमाल साकार वेदना थी, उसका निठुर पति मुंशी भवानीदास काचरू, फारसी 'बहरे तवील' का विख्यात कवि था, पर **अरणिमाल** के प्रति उतना ही निर्मम जितनी वह उसके प्रति साभिलाष थी। अतः उस परित्यक्ता तपस्विनी ने अपने पाषाण-हृदय प्रियतम के बिछोह में तड़प तड़पकर अपनी दर्दभरी धड़कन को ही करुण मधुर गीतों में शब्दबद्ध कर दिया। मांसल होते हुए भी उसका प्रेम पवित्र है और तीव्र होते हुए भी कोमल। इसमें वही समर्पण है जो मीरा की पदावली का सर्वस्व है। प्रतीक्षा के जो भावपूर्ण चित्रण अरणिमाल ने किये हैं, वे कश्मीरी-साहित्य में बेजोड़ हैं। उसकी विरह-व्यथा उत्कंठा के आतुर स्वरों में कूक उठती है—

"रस के घट पर घट भरती हूँ
उर में मधु-मक्खी-गण मेरे !
धर्मस्थानों पर तो तुम्हारे प्रेम की भिक्षा माँगी मैंने
तोड़ चली मैं हेतु तुम्हारे घर के बन्धन सारे
तुम नहीं और मकड़ियों ने बुन डाले जाले
सम्मुख द्वार हमारे ! ....."

और— *"चम्पा हूँ मैं बार-बार क्या विकसूँगी, विकसूँगी ?*
मेरे सुन्दर, सुन लो मेरा करुणा-क्रन्दन, सुन लो—
यथासमय मुरझा जाऊँगी, आओ भी, आओ भी !"

और— *"मैं सावन की चम्पा थी, अब आह,*
अरणि-सी पियराई हूँ !"

अरणिमाल के ये वेदनागीत भी कश्मीरी-मौसीकी का शृंगार बन चुके हैं।

धार्मिक उद्गार—

धार्मिक कविता भी उन दिनों खूब हुई। जहाँ एक ओर शिव, पार्वती, राम और कृष्ण के भजन, कीर्त्तन और चरित गाये गये, वहाँ दूसरी ओर हजरते मुहम्मद की शान में नाते कही गईं और मेराजनामे लिखे गये। कई रचनाओं में विशेषकर कृष्णदास वनपूह और अब्दुल अहद नादिम की 'लीलाओं' और 'नातों' में उत्कृष्ट कविता का भी उन्मेष हुआ है। कुछ-एक गीतों में तो भावमय सरलता का चित्रण अपूर्व है, जैसे इस गीत में—

"सुबुहकि नूरो मो कर चेर!"

अर्थात्— *"सुब्ह के उजाले! देर न कर*
ज्यों ही तेरा प्रतिबिम्ब पूर्व से झलकेगा
धुप अँधेरा गल जायगा, आकाश मुस्कायगा!
दिन दौड़ा-दौड़ा आएगा; शब दूर हो जाएगा
सुब्ह के उजाले! देर न कर!"]

ऐसे ही कृष्णराजदान के रास-गीतों में से दो भाव-चित्र लीजिए—

"छह महीने एक ही 'रात' हो गये
गोपीनाथ जो नाचने लगा।
वर्ष एक दिन हुआ; मास एक पहर हुआ—
चलो री, चलो री, रास खेलें!"

और—

"रात हुई दिन, बस्ती भी वन
मन ले भागा मनमोहन!
समय थमा और 'कल्प' हुए क्षण
मन ले भागा मनमोहन!"

इस प्रकार की कविता में विषय और भाषा पर हिन्दू और मुस्लिम दर्शनों की छाप अनिवार्य थी, फिर भी अध्यात्म की मूलभूत एकता का राग दोनों में फूट पड़ा है, और यह राग प्रबन्ध-काव्य में और भी गम्भीर होता गया।

प्रबन्ध-काव्य—

अबतक हम पौराणिक प्रबन्ध-काव्य के साथ ही ऐतिहासिक चरित-काव्य का आरम्भ भी देख चुके हैं। बडशाह के शासन-काल (१५ वीं शती) में जहाँ 'बाणासुरवध' लिखा गया, वहाँ 'जैनचरित' भी रचा गया, परन्तु बाद में किसी ऐतिहासिक चरित-काव्य की सूचना तक नहीं मिलती। हाँ, १७ वीं शती में साहिबकौल ने 'कृष्णावतार' लिखा, जिसकी शैली ने बाद में 'लीला-काव्य' की विधा प्रचलित की, और राम तथा कृष्ण के आख्यानों पर काव्य

लिखे जाने लगे। साहित्यकाल के इस काव्य का कृष्ण-सुदामा प्रसंग काफी आकर्षक है। किन्तु इस विषय पर सबसे सुन्दर काव्य है (१६ वीं शती का) परमानन्द का 'सुदामचर्यंग', जिसमें सुदामा का परिचय यों कराया गया है—

"सुदाम जीव आंस गार बगवानग !"

अर्थात्—सुदामा जी (=जीव) भगवान का मित्र था।

जीवात्मा और परमात्मा के संबंध की यह व्यञ्जना इस काव्य में बहुत स्वाभाविक हुई है, कहीं पर भी व्याघात नहीं आने पाया है। कृष्ण ने सुदामा को भगवान् बना दिया, क्योंकि—

"जो कोई उसकी ओर एक पैर बढ़े
भगवान् उसकी ओर दस पैर आगे आ जाय !"

और—

"जिसपर भगवान का अनुग्रह हो जाय
उसकी अपनी पर्णकुटी ही द्वारका बन जाय !"

'रादा स्वयंवर' में परमानन्द ने प्रेम की व्याख्या यों की है—

"अभेद का भेद पराये पर प्रकट नहीं किया जाता ;
आँख की पुतली ही पुतली का आलिंगन करती है ;
प्रेम की कथा है ही क्या ?
दो का एक हो के रह जाना !"

और आरम्भ में ही कवि ने काव्य की भूमिका यों बाँधी है—

"हृदय मेरा गोकुल है,
वहीं तुम्हारी गायें चरती हैं;
हे 'चित्त-विमर्श—दीप्तिमान् भगवान्' !
वृत्तियाँ मेरी गोपियाँ हैं, तुम्हारे पीछे दौड़ती हैं,
बाँसुरी का नाद सुनकर मतवाली हो उठती हैं—"

और फिर 'प्रेमयोग' का रास खेला जाता है तो—

"पेड़-पौधे, घास फूस और कंकर-पत्थर
दीदे फाड-फाडकर
अपने अन्तर के रहस्य खोलने लगते हैं !"

पौराणिक काव्य में शिव-पार्वती के दिव्य प्रेम का भी चित्रण हुआ है। इस विषय की सबसे सुन्दर रचना भी परमानन्द की ही है। वह है 'शिव-लगन' जिसमें शिव और पार्वती के

रहस्य-काव्यों की यह परम्परा कश्मीरी-साहित्य की एक सम्पन्न पूँजी है। करमबुलद खान, शाह गफूर और स्वछकाल जैसे मस्त कलन्दरों के बाद १६ वीं शती के आरम्भ में महमूद गामी ने फारसी कवि निजामी के 'पजगज' को कश्मीरी जामा पहनाकर इस परम्परा को एक नई दिशा दी। पर प्रबन्ध-काव्य की चर्चा करने से पहले मुक्तक कविता का कुछ और परिचय जरूरी है।

महमूद गामी की गजलों में फारसी तसव्वुफ की लय साफ सुनाई पड़ती है। उसका विश्वास था कि—

"भिन्न-भिन्न हैं रंग और भिन्न-भिन्न है नाम
आप ही अपने-आपको 'वह' देखने निकला है!"

और 'तमसीले आदम' मसनवी में उसने जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्धों को पानी और बुलबुले आदि प्रतीकों द्वारा चित्रित किया है।

"'सूरत' में 'पानी' हैं, 'ख्वाब' में 'ताबीर'
वैसे ही जैसे 'गुलाब' में 'सुगंधि' व्याप्त है।
मैं एक 'जर्रा' हूँ, 'आफताब' से मेरा मेल होगा?"

महमूद गामी ने बुलबुले से पूछा—

"रिन्द! तू किस पानी से जिन्दा है रे?"

महमूद के समकालीन परमानन्द ने इस अध्यात्म-तत्त्व को 'परापूजा' के एक प्रतीक द्वारा यों ध्वनित किया—

"देह की गुफा के अन्दर सच्चिदानन्द-लिंग
मन के पीठ पर निःसंग बैठा है!"

अतः 'अमरनाथ-यात्रा' के रूपक में 'अध्यात्म-यात्रा' को ही झलकाते हुए उसने पुकारा—

"गुफा के अन्दर तुम अपनी (अन्तर्) गुहा में जा पहुँचो—
दूसरे देवी-देवताओं को छुट्टी तो दो!"

इस परा पूजा से ही वह 'सहज-विचार' सम्भव है जिसका तत्त्व—'पानृ रोस्त पान स्वरुन' अर्थात् 'आपेसे रहित अपने आपको स्मरण करना' है। 'कुल त छाय' मसनवी में उसने प्रतिपादित किया है कि 'पेड़' के साथ रहने से ही 'छाया' को सूर्य' के दर्शन हो सकते हैं।

दूसरे सूफी कवियों ने भी ऐसी ही आध्यात्मिक एकता के तराने गाये, जिनकी टेक यही है कि—

"सु छु नांन म्य छु ठोर पनतुय पानस"

(वह तो प्रकट है , मेरा आपा ही मेरा आवरण है ।)

हसन सूफ़ी, मकबूलशाह, शमस फ़क़ीर, रहमान डार और वहाबखार आदि ने संकीर्णता और कट्टरता पर रहस्य-गम्भीर चोटें कीं। इनकी रचनाओं में तसव्वुफ़, वेदान्त और शैव दर्शन एक-जबान होकर बोलते सुनाई पड़ते हैं। शमस फ़क़ीर ने तो वेदान्त और शैव दर्शन की कई परिभाषाओं को भी बड़ी सफ़ाई से अपने छन्दों में उतारा है। जैसे—

"दम दमन दम म्य ह्यती, गोम यकसानो ;
न्यर्मल मद-चार पिवुम तती, लो लती लो !
तुर्या सुपुफ स्वपुन जाग्रती, दीवान क्या जानो;
शमस फकीरो गम स्य अती, लो लती लो…"

अर्थात्—*"क्षण क्षण मैंने प्राणायाम किया,*
मैं 'एकसान' हो गया !
निर्मल मदिरा मैंने वहीं पी डाली,
वाह री, वाह री, वाह !
तुरीया, सुपुप्ति, स्वप्न और जागृति
मैं दीवाना क्या जानूँ ?
शमस फकीर ! हर प्रकार से वहाँ पर
निर्विकल्प हो जा--वाह री, वाह री, वाह !' "

जातिभेद को प्रायः इन सभी कवियों ने धिक्कारा है। 'अज़ीज़ दरवेश' ने 'कुफ्रो इस्लाम' का समन्वय एक सुन्दर रूपक में यों किया है—

"जब उस (प्रियतम) ने मुखड़े पर बाल बिखेर दिये,
कुफ्र और इस्लाम (के कजिये) मिटा दिये,
उजाला और अँधेरा गले मिल गये—
मेरा 'जाने जानाँ' आड़ में जा छिपा !"

अतः वह विवेक के पुल से पार उतरने का उपदेश करता है , क्योंकि—

"उससे आगे 'फनि फीलल्लाह'

(अर्थात्—'दिव्य में अन्तर्लीनता' है)—

वहाँ हिन्दू है न मुसल्मान !"

'हसन' के शब्दों में—"*ओलिमव छ्यन ह्युत काबु बुतखानस"*

(अर्थात्—'पंडितों और मुल्लाओं ने ही काबे को बुतखाने से अलग कर दिया।')

मिलाप में आत्मा और परमात्मा के एकीभाव का ही रूपक बाँधा गया है। कवि का कौशल देखिए कि लौकिक जीवन के तारों पर ही उसने आत्मा का दिव्य-सगीत छेड़ा है।

भाव की मनोरम गम्भीरता के साथ-साथ परमानन्द की कविता का भाषा-चातुर्य अपूर्व है। पद-पद उसकी प्रतिभा के इशारे पर वैसे ही नाचता दिखाई देता है, जैसे बीन की धुन पर साँप। प्रासानुप्रास के मधुर सगीत में यमकों और श्लेषों की सरस ध्वनि एक अनुपम सौन्दर्य की सृष्टि करती है और सुकुमार माधुर्य का प्रपात-सा फूट पडता है।

परमानन्द के शिष्य कृष्णदास ने भी 'शिवलग्न' कहा और कृष्णलीला रची। दोनों में उसने लोक-गीत की शैली अपनाई, विशेषकर 'शिवलग्न' में।

' कश्मीरी-प्रबन्ध-काव्य का एक प्रिय विषय रहा है, 'दमयन्तीचरित'। परमानन्द के एक और शिष्य लक्ष्मण भट्ट नागाम ने 'नलदमन लिखा है, जो फैजी के फारसी 'नलदमन' से होड करने की कोशिश का परिणाम मालूम होता है।

एक और विषय जिसपर आधा दर्जन से अधिक कवियो ने अपनी प्रतिभा को आजमाया है, 'अक्रनन्दुन' की करुण कथा है। एक दम्पती वचन पालने पर मजबूर हो स्वयं अपने हाथों अपने इकलौते बेटे को मारकर पकाते हैं और खाते हैं और परीक्षा में खरा उतरकर फिर से उसे प्राप्त कर लेते हैं। विषम वेदना और अपार उल्लास की धूप छाँह ने रमजान भट्ट के 'अकनन्दुन' को अमर कर दिया है।

रामकथा का पहला कश्मीरी-काव्य तो १८ वीं शती का **'रामावतारचरित'** ही जान पडता है, जिसका कवि **दिवाकर प्रकाश** फारसी का भी अच्छा विद्वान् था। अतः आश्चर्य की बात नहीं, जो इस रचना पर फारसी 'रजमिया' शायरी की छाप हो। इसमे राक्षस-सेना और रामसेना की जो झड़पे चित्रित की गई हैं, उनमें फ़ारसी शाहनामे के जंगो-का-सा समाँ बाँधा गया है; और इसके छन्दोविधान पर भी फारसी प्रभाव स्पष्ट है। फिर भी विषय और भाषा के लिहाज से यह काव्य कश्मीरी की मौलिक रचनाओं में से है। भाषा वर्णनानुकूल और सतुलित है तथा मनोवेगों का चित्रण बहुत स्वाभाविक और प्रभावशाली है। जंगों के अतिरिक्त शेष सभी प्रसंगों में देशकाल की उद्भावना खूब हुई है। वेदना को जाग्रत करने में कवि को विशेष सफलता मिली है। काव्य के परिशिष्ट 'लवकुशचरित' मे सीता का करुण निवेदन तो कश्मीरी-साहित्य में बिल्कुल निराली चीज है।

वसन्तागमन के उल्लास का सबसे गतिशील चित्रण भी इसी काव्य मे मिलता है—

"आ ही गई बहार; बुलबुल बोलो तो
हमारे हाँ आ जाओ—उत्सव मनाऊँगी
'कठकुश' विदा हो गया; गरजो नन्ही जलधारा
नींद से जाग उठो—अभी सुवेला है!
चम्पई तन को महका कर निकलो भी संबुल,
जमीन। के नाम आजादी का खत लेकर!

'नरगिस' है प्याला लिये तुम्हारी प्रतीक्षा में ;
हमारे हाँ आ जाओ—उत्सव मनाऊँगी।"

कथावस्तु की दृष्टि से भी **'रामावतारचरित'** विलक्षण है। इसमें सीता को मन्दोदरी की बेटी और महामाया का अवतार बताया गया है। (मलय रामायण में भी यही अनुश्रुति सुरक्षित है।) कुश के जन्म की बात भी यहाँ निराली है—कुशा के एक तिनके से उसे वाल्मीकि ने उपजाया है।

बाद के रामकाव्यों में १६ वीं शती का **'शंकररामायण'** और २० वीं के आरम्भ का **'विष्णुप्रतापरामायण'** भारी भरकम होते हुए भी पठनीय है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, महमूद **गामी** ने कश्मीरी-प्रबन्धकाव्य को फारसी-प्रेमाख्यानों की डगर पर डाल दिया। उसके **'यूसुफ-जुलैखा'**, **'शीरीं खुसरो'** और **'लैला व मजनूँ'** का उद्देश्य जायसी के पद्मावत की तरह लौकिक प्रेम में आध्यात्मिकता की उद्भावना है, अर्थात् 'इश्के मजाजी' में 'इश्के हक़ीक़ी' की तगनुमानी है। इसी उद्देश्य से **मक़बूल कालवारी** ने **'गुलरेज'** और **वली उल्लाह मत्तू** तथा **जरीफ** ने **'हीमाल'** लिखे। दोनों ने फ़ारसी-काव्यों को सामने रखकर ही रचना की, फिर भी दोनों ने मौलिकता का अच्छा परिचय दिया है, विशेषकर मक़बूल ने। करुणा का जो चित्रण 'गुलरेज' में हुआ है, वह भाषा और भाव के सामजस्य का एक उत्कृष्ट आदर्श है। **'हीमाल'** की कथावस्तु मूलतः ईरानी नहीं, कश्मीरी लोकवार्त्ता से उद्धृत है। रचना की दृष्टि से यह काव्य साहित्यिक सहकार का एक निराला नमूना है, क्योंकि इसका कथानक वली उल्लाह मत्तू ने लिखा है और गीत रचे हैं जरीफ ने। मजे की बात यह कि दोनो का रस-सयोजन अनुपम है।

इनके अतिरिक्त भी कश्मीरी में दर्जनों प्रेमाख्यान हैं, जिनमें से अधिकांश फारसी, पजाबी, अरबी और उर्दू के कुशल रूपान्तर हैं, जैसे—'किस्स-ए-रुजरि इश्क', 'जौहरि इश्क़', 'जेवा निगार', 'गुलबकावली', 'चन्द्रवदन' और 'सोहनी-मैंहवाल', पर 'जैनुख अरब' और 'मुमताजे बेनज़ीर' का स्तर काफी ऊँचा है। फारसी किस्सों पर आधारित कई रचनाएँ ऐसी भी हैं, जिन्हें महज तर्जुमा नहीं कहा जा सकता। जैसे—'कलील-व-दिमनु', 'हारून रसीद', 'सुलतान महमूद गजनवी', 'गुरबा व-मोश' और 'हातिम-ताई'।

कश्मीरी जनता में जो दास्तानें सबसे लोकप्रिय रही हैं, वे हैं सामाजिक व्यग्य-काव्य, जिनसे हँसी मज़ाक के साथ-साथ शिक्षा की प्रेरणा भी होती है। इन खण्डकाव्यों में **मक़बूल** का **ग्रीस्तिनामा** (किसान-चरित) विशेष महत्त्व का है, क्योंकि इसमें यद्यपि किसानों की खिल्ली उड़ाई गई है, फिर भी उनके जीवन की बेबसी और विडम्बना का यथार्थ चित्रण है। व्यग्य-काव्य की रचना उन दिनों जोरों पर थी। 'ग्रीस्तिनामा' के जवाब में एक 'मुकदमनामा' लिखा गया, और स्वय मकबूल ने 'पीरनामा' और 'मल्लानामा' में पीरों और मुल्लाओं पर फब्तियाँ कसीं और उनके पाखण्ड पर से पर्दा सरका दिया। बीसवीं सदी के आरम्भ में **वहाब परे** ने अपने कश्मीरी 'शाहनामे' में **'शहर-आशोब'** भी लिखा है, जिसमे उस समय की अफ़रातफरी का अच्छा व्यग्य-चित्रण हुआ है।

वहाब परे ने कश्मीरी-साहित्य को जो 'शाहनामा' दिया है, वह फारसी मूल का अनुवाद-मात्र नहीं, कई वातों में एक स्वतन्त्र रचना है—विशेषकर जगों के वर्णन मे और अपने समय के वस्तु-चित्रण में। वहाव के वाद भी कई जगनामे लिखे गये, जिनमें से अधिकाश तो फारसी-काव्यों के पर्याय से ज्ञात होते हैं। फिर भी 'खावरनामा' और 'सामनामा' लोक-प्रिय हो चुके हैं।

पर सबसे लोकप्रिय जगनामे हैं—कर्वला के विषय पर लिखे गये मर्सिये, जो भाषा के ओजपूर्ण प्रवाह और करुणा के द्रावक चित्रण में वेजोड़ हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महमूद गामी का समय कश्मीरी कविता के लिए वहुत ही सक्रिय रहा; पर उसके शिष्यों में एक रसूलमीर ही था, जिसने रहस्यात्मकता का मोह छोड़कर लौकिक प्रेम की मांसल अभिव्यक्ति को ही अपना ध्येय वनाया। पर फारसी गज़ल के अत्यधिक अनुकरण ने उसकी कविता के रोमास की मनोरम भावभगिमा को वहुत ही कृत्रिम स्वर दिया। फिर भी, उसकी कई गज़लो में रूप-चित्रण खूब रहा है।

शायद इसीलिए, कई आधुनिक कवि उसके प्रभाव को अनायास ही ग्रहण कर बैठे। यहाँ तक कि आधुनिक काल का युग-प्रवर्त्तक कवि महजूर भी वड़े गर्व से इस प्रभाव को स्वीकारता है।

आधुनिक काल—

वैसे तो महजूर की पहली पद्य-रचना हवा खातून के एक गीत से प्रेरित है और मक़्बूल की 'गुलरेज़' ने भी उसे कश्मीरी-काव्य की ओर खींचा है, पर जिस समय उसने कश्मीरी-भाषा को अपनाया, उस समय कश्मीरी कविता में ठहराव सा आ गया था। रचनात्मक प्रतिभा के अभाव में साधारण कोटि के तुक्कड़ पुरानी लकीर पीटे जा रहे थे। जीवन की असारता का रोना रोनेवाली तुकवदियों में कभी-कभी ही सप्राण अभिव्यक्ति का एक-आध स्वर सुनाई पड़ता था। प्रधानता छिछले शब्द-गुम्फन की ही थी।

ऐसी परिस्थिति आकस्मिक नहीं थी। उन दिनों कश्मीर का वातावरण 'रेज़िडेण्टशाही' के छल-बल से उखड़ा-उखड़ा था। द्विराजी शिकजे में कसी हुई जनता की सामाजिक-राजनीतिक चेतना मूर्च्छित पडी थी। पर जव सन् १९३१ ई० में कश्मीर की चेतना अँगड़ा उठी तो वरसों की अन्धाधुन्ध हलचल ने एक आन्दोलन का रूप धर लिया। कश्मीरी कविता इससे प्रभावित ही नहीं होती रही, इसे अनुप्रेरित भी करती रही।

कश्मीर के जन-आन्दोलन की यह पृष्ठिभूमि आधुनिक कश्मीरी साहित्य मे खूब झलक उठी है। सुविधा के लिए हम इस काल को तीन भागों में वाँट सकते हैं—

१. सन् १९३८ ई० से पहले,
२ सन् १९३८ ई० से १९४७ ई० तक, और
३ सन् १९४७ ई० के पश्चात्।

सन् १९३८ ई० से पूर्व तो पीरजादा गुलाम अहमद महजूर का ही रचनात्मक महत्त्व रहा। वास्तव में वही आधुनिक कश्मीरी-कविता का अगुआ है। 'प्यार के साज पर ताजा लय

लेकर' उसकी गज़लों ने 'गुल' और 'बुलबुल' के प्रतीकों में एक नई अर्थ-गाम्भीर ध्वनि की उद्भावना की और अपने 'वतन' को प्रमाद की नींद से जगाते हुए गाया—

> *"सवेरे-सवेरे बेदार हो जा, ऐ गुले बोस्तां*
> *बुलबुल के फ़साने सुन !*
> *पौ फटी, खोल दे मस्तानी आँखें*
> *बुलबुल के......... .... !"*

'ग्रीस्तिकूर' (किसान कुमारी) में उसने रोमांस के रस से ओत-प्रोत शैली में कर्मठ किसान-कन्या की सहज मधुरता के गतिचित्र प्रस्तुत किये हैं। इसी कविता के द्वारा महजूर ने महाकवि टैगोर का ध्यान अपनी ओर खींचा था। 'कोशिर ज़नान' (कश्मीरी नारी) में उसने सदियों से मौन कश्मीरी नारी की बेबसी का उच्छ्वास सुनाया है, मानो सदियों से पराधीन कश्मीर का दुःखी दिल ही चीख उठा हो।

सन् १९३८ ई० में जनता और शासन की जो टक्कर हुई, उससे प्रेरित होकर महजूर ने भी जागरण और क्रान्ति का सप्राण सन्देश गाया और जनता को एक नये युग की अवतारणा के लिए निमन्त्रित किया—

> *"गुलों की बस्ती को जगाना है तो जीरो बम को रहने दो ;*
> *भूचाल लाओ, आँधी को बुलाओ, ज़ोर से गरजो ;*
> *तूफ़ान उठाओ !"*

आश्चर्य की बात नहीं, जो महजूर ने साम्प्रदायिक भाई-चारे पर बहुत जोर दिया। उसका विश्वास था कि कश्मीर में हिन्दू-मुस्लिम 'दूध और शक्कर की तरह' घुल-मिल गये हैं। जनता को आश्वासन दिलाते हुए उसने गाया—

> *"जाडा बीत ही जाएगा, बर्फ़ पिघल ही जाएगी ;*
> *बहार लौट के आएगी।*
> *महजूर ! प्रेम का साज तैयार रखो !*
> *फूल खिलेंगे अपने-आप—*
> *तुम जरा बहाना तो बन जाओ !"*

आजादी के संघर्ष में जोखम उठानेवालों को उसने ढारस बँधाया कि "पर्वत-शिखर 'नई भोर' के प्रकाश से जगमगा उठे हैं।"

उन दिनों उसने सामूहिक आशावाद के जो नग़मे रचे, उनमें कश्मीरी-कविता एक नई लय से परिचित हो गई।

सन् १९३४ ई० के लगभग अख्तारदार और फाज़िल ने अँगरेजी-कविता के कुछ सुन्दर अनुवादों और अनुकरणों से 'रोमांस' काव्य की एक नई धारा भी बहानी चाही, पर इस दिशा में वे बहुत आगे नहीं बढ़ पाये। अतः आरम्भ में महजूर अकेले ही कश्मीरी कविता

को घिसी पिटी परम्परा से मोड़कर नई परिस्थितियों के अनुकूल करता रहा, पर बहुत शीघ्र उसे एक योग्य साथी मिल गया। सन् १३६८ ई० के लगभग अब्दुल अहद 'आजाद' रहस्यवाद की डगर छोड़कर राष्ट्रीय, सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर जोरदार कविता करने लगा। शुरू-शुरू मे वह 'इकबाल' से प्रभावित रहा, और 'नाल-ए इब्लीस' के अनुकरण पर उसने 'शिकव-ए-इब्लीस' लिखा, जिसमें मानव-समाज को बदलने की चेतना अँगड़ा उठी है।

आजाद ने हर तरह की भौगोलिक, राष्ट्रीय, जातिगत और साम्प्रदायिक सकीर्णता के विरुद्ध आवाज उठाई और देशभक्ति, सामाजिक न्याय और आर्थिक समता आदि विषयो पर इनकिलाबी कविता की। मानवता ही उसका उद्देश्य रही और मानवता ही आराध्य। सच्ची देशभक्ति ने उसे यह सोचने पर विवश कर दिया कि—

"कल्हण, ग़नी और सर्फी जिस जल से पनप उठे;
वही जल हमारे लिए आज हलाहल क्यो ?"

पर, देशभक्ति भी जब मानवता की राह में रोड़े अटकाये तो उसे धत्ता बताते उसे झिझक नहीं। समाज की विषमता को देखकर उसकी चेतना 'दरिया' में बोल उठी —

"ऊँच-नीच और सीमाबन्धन देखकर
मैं आपे से बाहर हो जाता हूँ
दौड़ा फिरता हूँ, जान लड़ाता हूँ
एकता और समता की खोज मे ...
मुझे तो जिन्दगी का आनन्द
यात्राओं और गन्तव्यो में ही मिलता है !"

इस तरह आजाद ने कश्मीरी-कविता में मानववाद का जो अन्तराष्ट्रीय सुर छेड़ा, उसे उसके साथियों फानी, काफ़ूर, नाज़ और आमी के अलावा महजूर-जैसे बुजुर्गों ने भी प्रतिध्वनित किया। बेबस पीडित जनता की वकालत कश्मीरी-कविता का प्रिय विनोद बनने लगा। और तो और, रहस्यवाद के भावप्रवण और कल्पनामधुर वयोवृद्ध कवि 'मास्टरजी' ने भी 'करनावि तारख ना अपार' जैसी कविताओं मे समय की नदी के उस पार 'वर्गहीन समाज' की उज्ज्वल दुनिया मे पहुँचने की अभिलाषा घोषित की। इससे पहले 'वदिहे भनुश च्यथि हे न ओश' में उन्होंने मानव की शाश्वत विवशता और लाचारी का रहस्यात्मक राग अलापा था, और तार्किक जिज्ञासा के बावजूद आत्मसमर्पण की भावात्मक व्याख्या की थी—

"जाने कब किसी ने कहीं
उसी की परछाईं पीछे से—दूर-से देखी होगी
हमारे कानों में उसीकी भनक पड़ी है
हमारे दिलों में वही बात जम गई है ..."

मानव रोता, आँसू न पी लेता,
रोने की तासीर ही क्या देखी उसने ?
आँखों से खून बहाये तो क्यों ।
पत्थर से सिर पटकाये तो क्यों ?
जानकर कि कोई सुनता ही नहीं ;
फर्याद करने की यह इल्लत क्यों ।
आकाश मे तीर मारने की यह बेसमझी क्यों ?
मजबूरी है, लाचारी है !"....

परिस्थितियों से बाध्य होकर जब कश्मीर की जनता ने सन् १६४६ ई० मे 'कश्मीर छोड़ दो' तहरीक चलाई तो कवियों ने भी समर्थन किया। 'महजूर' ने "पय बोव लय थव जमानस सूत्य्" में पुरानी व्यवस्था को ललकारा, 'आसी' ने हलवाले झंडे का तराना लिखा, और 'आरिफ' ने "मगर कारवाँ सोन ब्रोंह ब्रोंह पकान गव"-शीर्षक लम्बी कविता में इस आन्दोलन की 'वीरगाथा' गाई। रजवाड़ाशाही की दमन-नीति का सामना करते हुए कश्मीरी जनता ने क्या-क्या यातनाएँ सहीं और क्या-क्या बलिदान किये—इन सभी बातों का उत्तेजक वर्णन 'आरिफ' ने चतुराई से किया है। इससे पहले उसने 'मजूरिज' (मजदूरिन) में एक ऐसी दुलहन के जवान दिल की उजड़ी बहारों का दर्दीला सगीत समो दिया था, जो रेशमखाने में मजदूरी करने पर मजबूर थी। ऐसे ही 'धुस्सा' में उसने कारीगरों की बेबसी के नक्शे उतारे हैं।

राजनीतिक मतभेद के कारण 'आजाद' ने 'कश्मीर छोड़ दो' आन्दोलन का साथ तो नहीं दिया, पर समाजवादी मानववाद की अभिव्यक्ति में उसकी कविता अग्रसर रही। भारत का बँटवारा होते ही जब कश्मीर पर कबाइली हमला हुआ, तो उसके मानववाद का महत्त्व यथार्थ से सपृक्त होता दिखाई दिया। खेद की बात है कि अपने काव्य का यह गौरव देखने से पहले ही वह उसी वर्ष चल बसा।

गद्य-विकास—

सन् १६४७ ई० का वर्ष कश्मीरी साहित्य के लिए युगान्तरकारी सिद्ध हुआ। शत्रु के विरुद्ध मोर्चा खड़ा करने में कश्मीरी-कविता आगे-आगे रही और पहली बार कश्मीरी-गद्य के लिए भी मैदान साफ होने लगा। कश्मीर कल्चरल फ्रण्ट के प्रयत्नों से लोक रंगमच की स्थापना हुई, तो कश्मीरी-गद्य का प्रयोग होने लगा और कश्मीर-रेडियो से भी इसे प्रोत्साहन मिला। बाद में जब 'कुंगपोश' मासिक निकला, तब निबन्ध के अतिरिक्त कहानी की ओर भी साहित्यिकों का ध्यान जाने लगा। इससे पहले कॉलेज मैगजीनों में ही इसके लिए थोड़ी-बहुत गुंजाइश होती थी। रेडियो और पत्रिका का सहयोग पाकर कश्मीरी गद्य अब जरा रेंगने लगा है, अपनी घुटनों पर खड़ा नहीं होने पाया है। जबतक कश्मीरी का कोई दैनिक पत्र नहीं निकलता, तबतक कश्मीरी-गद्य का विकास असम्भव है। फिर भी, आज लिखनेवालों की कमी नहीं, कमी है तो प्रकाशन के साधनों की।

कश्मीर के प्रसिद्ध उर्दू कहानीकार दिवंगत प्रमनाथ परदेशी ने रेडियो के प्रभाव से कश्मीरी में भी लिखना शुरू कर दिया था और दूसरे लेखकों को भी प्रेरित किया था। वैसे तो आज के कवियों में रोशन, मजबूर, नादिम, कामिल आदि ने भी कहानियाँ लिखी हैं, पर इस क्षेत्र में सोमनाथ जुत्शी, अख्तर मुहीउद्दीन और उमेश कौल विशेष प्रयत्नशील रहे हैं। नाटक लिखनेवालों में वलीमुहम्मद लोन और पुष्करमान का भविष्य बहुत उज्ज्वल दिखाई दे रहा है। जगन्नाथ वली और मुहीउद्दीन हाजिनी भी एक-एक नाटक लिख चुके हैं। वली का नाटक 'जून' हवा खातून के रोमांस पर आधारित है और भाषा के लिहाज से बहुत रोचक है। आज से ३० वर्ष पहले 'हरिश्चन्द्राज' नाम का जो नाटक रंगमंच पर काफी सफल रहा था, उसकी शैली पर मदन-थियेटर की छाप थी। आज जो नाटक लिखे जा रहे हैं, उनपर रेडियो का प्रभाव है।

सामाजिक और साहित्यिक विषयों पर जो निबन्ध पिछले छह वर्षों में लिखे गये हैं, उनमें भी कश्मीरी-गद्य खूब निखरता रहा है। दैनिक पत्र का आसरा मिलने पर अवश्य ही इसकी प्रगति तेज हो जायगी। गद्य के विकास की इस प्रासंगिक चर्चा के बाद अब नये पद्य की गतिविधि पर ध्यान देना जरूरी है।

सन् १९४७ ई० के पश्चात् कश्मीरी-कविता ने कई करवटें लीं। पहले दो वर्ष तो शत्रु के प्रतिरोध और नई आजादी के संरक्षण की उमंग ही गूँजती रही। उसके बाद नये कश्मीर के निर्माण की मूलभूत अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए 'आर्थिक प्रजातन्त्र' की स्थापना और 'विश्वशान्ति' की प्रतिष्ठा पर जोर दिया जाने लगा। 'जमीन किसान की' आन्दोलन ने भी कश्मीरी-कविता में प्रबल समर्थन पाया। इस महत्त्वपूर्ण विषय पर कविताएँ ही नहीं, गीतिनाट्य और नाचगीत भी रचे गये, जिनमें 'नादिम' की रचना विशेष सफल रही।

दीनानाथ 'नादिम' ने क्रान्ति की उत्कृष्ट रागिनी गाकर कश्मीरी जनता को 'स्वदेशी' और 'विदेशी' सभी प्रकार के शत्रुओं से सचेत कर दिया है। पीड़ित शोषित वर्ग से उसकी समवेदना, भावुकता या आवेश पर निर्भर नहीं बल्कि गहरी अनुभूति से उमड़ आई है। उसे जिन्दगी से प्यार है, जिन्दगी के साजो-सामान से प्यार है—

"वासन्ती शुगूफों की मस्तानी मुस्कान से
आड़ू के कुसुमित कपोल की लालिमा से
बच्चों के विनोद और माताओं के प्रसव से"

और इस तरह के दूसरे जीवन-व्यापारों से उसे प्यार है, पर अभावग्रस्त मानव को जीवन से प्यार करने का सौभाग्य ही कहाँ? इसीलिए वह किसान को उभारता है कि—

'हर साल धरती माता के भाग्य को अपने हल की नोक से बदलनेवाले!
इसी हल की नोक से अपना 'भाग्य' तो उखाड़ ले!"

'बम्बुर यम्बरजल' गीतिनाट्य में उसने अपने कश्मीर की एक प्राचीन लोककथा को नई समस्याओं का वाहक बनाकर अपने देश की नई बहारों को खिजाँ से बचाने का दृढ संकल्प चित्रित किया है।

नूर मुहम्मद 'रोशन' ने भी मुक्तक कविताओं के अतिरिक्त कई संगीत-रूपक लिखे हैं। ऋतुओं के वैभव पर उल्लासमय रचनाओं में उसने लोकगीत-शैली के कुछ सफल प्रयोग किये हैं। 'नादिम' की तरह मुक्त छन्द से भी उसने काम किया है और शब्दों के भावानुकूल गुम्फन में विशेष सतर्कता और चातुरी दिखाई है।

नवोदित कवियों में 'प्रेमी', 'राही', 'कामिल', 'मजबूर', 'अलमस्त', और 'फिराक' बड़े होनहार दिखाई देते हैं। 'प्रेमी' ने 'लोरी', 'लडीशाह', 'जोडी के गीत', 'खलिहान के गीत', 'रेंडेवालों के गीत' और घुमक्कड भिखमगों के गीत आदि कई लोक-शैलियों में नवयुग की मनोरम धड़कनें सुनाई हैं। 'शरदृऋतु' शीर्षक एक लम्बी रचना में उसने श्रम के उल्लास को एक नई आशा का आलोक दिखाया है, और नाच गीत के बहुत सुन्दर आदर्श प्रस्तुत किये हैं। 'कामिल' की 'मसम्रलर' में नये प्रयोगों की एक महत्त्वपूर्ण साधना है, और 'साकीनामा' में उसने नये दृष्टिकोण को एक प्राचीन टेकनीक में पेश किया है। 'राव-रूपी' संगीत-रूपक में भी उसके नये प्रयोग आकर्षक हैं। नई चेतना को नये यथार्थ और आदर्श के सन्तुलन में चित्रित करने का एक सफल प्रयत्न 'राही' की गजलों और लम्बी कविताओं में मिलता है। रूप, रस और गंध के चित्र उभारने में उसकी चातुरी ने उसकी रचनाओं को बहुत ही आकर्षक बना दिया है। 'कतिरोजि', 'गट-जोल' (कहाँ रह पायगा घटाटोप अंधकार ?) में उसने नये युग की प्रभाती गाई है और 'बहार आव व्यथि लोल मान शोर मारान' (बहार आ गई प्यार से फिर मटकती) के मुक्त छन्द में नई बहार के शुभागमन का आह्लाद छलक उठा है—

"बहार आ गई और दिल चल पड़े 'बादमाबारी' में उत्सव मनाने :
'निशात' की कल्पना ने उत्सुकता की
गिरहें खोल दीं
'डल' लहरा उठी ; यौवन मधु-आसव लिये
'शालामार' की राह ताकता रहा,
और 'वेशाखी' चोरी-छिपे अठखेलियाँ करती
दौड पड़ी 'चश्माशाही' की ओर
आज पर्वतों ने नये परिधान पहन लिये
नई नीलिमा आकाश पर निखर उठी
कश्मीर की रगों में आज नया खून ठाठें मार रहा है.
इसलिए कवि नये प्यालों से
जीवन का नया-नया रस बाँट रहा है आज
इसीलिए तो 'राही' छेड रहा है गीत नये जीवन के !"

और आज की कश्मीरी-कविता सचमुच नये प्यालों से जीवन का नया नया रस बाँटकर ही अपना भविष्य उज्ज्वल बना पायगी।

—पृथ्वीनाथ 'पुष्प'

उर्दू-भाषा और उसका साहित्य

राष्ट्रभाषा हिन्दी के साथ-साथ देश में सबसे अधिक बोली और समझी जानेवाली भाषा उर्दू है। कश्मीर से कन्या-कुमारी और पजाब से आसाम तक चले जाइए, हर जगह आपको उर्दू बोलने और समझनेवाले मिलेंगे। भारत मे आज भी कम से कम छह करोड़ आदमियो की मातृभाषा उर्दू है, और करोडों ऐसे हैं, उर्दू जिनकी मातृभाषा तो नहीं, लेकिन वे अपने सारे काम उर्दू मे करते हैं। कोई उर्दू जाननेवाला देश के किसी हिस्से मे चला जाय, उसे कहीं किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होगी। उर्दू की सबसे बडी विशेषता राष्ट्रभाषा हिन्दी से उसका गहरा सम्बन्ध है। दो नाम पड जाने पर भी उनकी धाराएँ साथ साथ बहती हैं। जन्मदिन से दोनों का ऐसा गहरा सम्बन्ध है कि एक को दूसरी से अलग नहीं किया जा सकता। आज भी ये दोनों भाषाएँ अपने रग-रूप और बनावट में इतनी मिलती-जुलती हैं कि कभी कभी एक को दूसरी से अलग करना और पहचानना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जाता है।

उर्दू भारत में पैदा हुई, भारतीय भाषाओं के अलावा अरबी, फारसी, तुर्की और दूसरी विदेशी भाषाओं से शब्द ले-लेकर बढी और फूली-फली। अब यह विशाल शक्तिशालिनी भाषा बन चुकी है। उर्दू भारत ही के कोने-कोने में बोली और समझी नहीं जाती है, बल्कि भारत से बाहर भी अरब देश, ईरान, मिस्र, बर्मा, सीलोन, मलाया, कनाडा और अफ्रिका के बहुत-से शहरों में बोली और समझी जाती है। भारत-निवासी जहाँ भी गये, अपनी प्यारी भाषा को साथ ले गये, नये वातावरण में पडने पर भी अपनी भाषा को न भूले। इन्हीं कारणों से आज उर्दू केवल भारत की ही नहीं, बल्कि एशिया की बडी भाषाओं में गिनी जाती है।

उर्दू के जन्मदिन से लेकर उसकी आज तक की कहानी बडी दिलचस्प है। उर्दू का जन्म उन ऐतिहासिक शक्तियों ने दिया, जो कई सौ वर्ष तक भारत के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में हिलकोरे पैदा करती रहीं और जिनकी गहरी छाप हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर आज भी दूर ही से दिखाई पड़ती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि उर्दू के जन्म का सबसे बडा कारण मुसलमानों का भारत में आना और बस जाना था। मुसलमानों के आने से बहुत पहले भी अरब और ईरान के साथ भारत का सम्बन्ध था। अरब व्यापारी भारत मे व्यापार के लिए आते थे, या भारत के समुद्री शहरों में ठहरते हुए मलाया और पूर्व के दूसरे देशों मे व्यापार करने जाया करते थे। अरबों ने भारतवालों से कुछ सीखा था, और भारतवालो को सिखाया भी था। भारत का प्रभाव अरबों के और अरबों का प्रभाव भारतवासियों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर पडता था। मौलाना सुलेमान नदवी ने अपनी पुस्तक 'अरब व हिन्द के ताल्लुकात' में लिखा है—

"महाभारत के जमाने मे भी हिन्दुस्तान मे ऐसे लोग थे, जो अरबी जबान से वाकिफ थे। गो मुश्किल से इसका यकीन आ सकता है, ताहम चूँकि एक बड़े पंडित ने इनको माना है, इसलिए मुझे इसके इन्कार की जुर्अत नहीं। सत्यार्थ-प्रकाश के मुसन्निफ स्वामी दयानन्दजी ने ग्यारहवें समुल्लास (पहला प्रो० अध्याय १८७) मे लिखा है—'महाभारत में जब कौरवों ने लाख का घर बनाकर पाण्डवों को उसके अन्दर जलाकर फूँक देना चाहा, तो विदुरजी ने युधिष्ठिर को अरबी जबान मे बताया और युधिष्ठिरजी ने उसी अरबी जबान मे उनको जवाब दिया।

अगर हम इसको ठीक मान लें तो फिर अरब और भारत के पुराने संबध मे कुछ और कहने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। यों भी यह बात मानी जा चुकी है कि भारत का अरब देशों से पुराने काल मे सबध था। भारत की पुरानी पुस्तकों मे अरबों का हाल मिलता है और अरबों की पुरानी पुस्तकों मे भारत का। मौलाना सुलेमान नदवी ने यह भी लिखा है कि अरब के पुराने इतिहासों में भारत की दो लड़ाकू जातियों का हाल मिलता है। ये जातियाँ जाट और मेड हैं। जाटों के बारे मे अरब इतिहासों में लिखा है कि ये बलुचिस्तान और सिन्ध के रहनेवाले थे और जब ईरान ने बलूचिस्तान और सिन्ध पर कब्जा कर लिया था, तब से ईरान की सेना में थे। जब अरबों ने ईरान पर चढ़ाई की, तब जाट-सेना अरबों से मिल गई। अरब सेनापति ने इन जाटों का बड़ा आदर किया और इन्हें अपनी सेना में मिला लिया। ये जाट बड़े अच्छे सिपाही थे और अरबों को इनपर बड़ा भरोसा था। बाद मे अरबों ने इन जाटों को बड़े-बड़े काम सौंपे।

मौलाना सुलेमान नदवी 'हिन्द' शब्द के बारे में लिखते हैं—

"मुसलमानों के आने से पहले इस पूरे मुल्क का कोई एक नाम न था। हर सूबा का नाम अलग-अलग था। या हर रियासत का नाम उसकी राजधानी के नाम से मशहूर था। अहले फारस ने जब इस मुल्क के एक सूबे पर कब्जा किया तब उस दरिया का नाम जिसको अब दरियाय सिंध कहते हैं और जिसका नाम अरबों की जबान में मीरान है 'हिन्धू' रखा। पुरानी ईरानी जबान और संस्कृत में 'सीन' और 'ह' आपस में बदला करते हैं। इसकी काफी मिसालें हैं। इसलिए फारसवालों ने इसको 'हिन्दू' कहकर पुकारा और इससे इस मुल्क का नाम 'हिन्द' पड़ गया। अरबों ने, जो इस मुल्क के दूसरे शहरों से भी वाकिफ थे, सिन्ध को सिन्ध ही कहा, लेकिन इसके अलावा हिन्दुस्तान के दूसरे शहरों को हिन्द करार दिया और आखिर यही नाम दुनिया में कई तरह के रूपों में फैल गया और 'ह' का हरफ 'अलिफ' होकर फ्रेंच में 'इन्द' और 'इण्डिया' और कई तरह के रूप होकर तमाम दुनिया में मशहूर हो गया। और, खैबर से आनेवाली कौमों ने इसका नाम हिन्दु-स्थान रखा, जो फारसी तलफ्फुज में 'हिन्दुस्तान' बोला जाता है। यह अजीब बात है कि हिन्द का लफ्ज़ अरबों को ऐसा प्यारा मालूम हुआ कि उन्होंने मुल्क के नाम पर अपनी औरतों का नाम रखा। चुनांचे अरबी शायरी में यह नाम वह हैसियत रखता है, जो फारसी में लैला और शीरीं की है।"

भारत से अरबों की दिलचस्पी का हाल आपने देख लिया। अरब-व्यापारी व्यापार के लिए आते थे, लेकिन मालूम पड़ता है कि और चीजों के साथ शब्दों का भी

लेन-देन करते थे। सिन्ध और पंजाब के इलाकों में इन शब्दों का व्यवहार भी होने लगा था, पर वे भारत की भाषाओं को प्रभावित नहीं कर सके, बल्कि आप ही भारतीय भाषाओं में घुल-मिलकर भारतीय बन गये। पर जब यही अरब इस्लाम के झण्डे के नीचे दिग्विजयी बनकर निकले, तब इनमें नई शक्ति थी। ये अरब भारत को नहीं भूल सके। ईरान पर कब्जा करते ही इन्होंने सिन्ध पर चढ़ाई कर दी और घमासान लडाई के बाद सिन्ध पर कब्जा कर लिया। इसके कुछ दिनों के बाद तो भारत पर मुसलमानों की चढ़ाइयों का सिलसिला शुरू हो गया। भारत की जलवायु और प्राकृतिक सुन्दरता ने इन मुसलमानों को ऐसा मोहित किया कि वे यहीं के हो रहे। इसी पवित्र भूमि को अपना देश बनाया और अपनी जन्मभूमि की ओर कभी मुड़कर भी न देखा। मुसलमानों के भारत में बस जाने के बाद उनकी भाषा का प्रभाव यहाँ की भाषा पर पडना आवश्यक था और उनकी भाषा से भारत की भाषा प्रभावित होने लगी।

कोई भाषा दो चार वर्ष में नहीं बनती। उसके बनने में हजारों वर्ष लग जाते हैं। कभी-कभी दो या उनसे ज्यादा भाषाओं के मेल से एक नई भाषा बन जाती है, पर उसमें भी सैकड़ों वर्ष लगते हैं। एक-दूसरी से मिलकर भाषा धीरे-धीरे अपना चोला बदलती है। फिर एक नई भाषा बन जाती है। उर्दू इसी तरह कई भाषाओं के मेल से पैदा हुई।

उर्दू भारत की भाषाओं और मुसलमानों के साथ बाहर से आनेवाली भाषाओं—अरबी, फारसी, और तुर्की—के मेल-जोल से बनी है। बाद में योरोपीय भाषाओं के शब्द भी आकर इसमें मिले। पर यह भी इतना आसान काम नहीं था। इस हेर-फेर में सैकड़ों वर्ष लग गये। तब आज उर्दू एक विशाल और शक्तिशालिनी भाषा के रूप में दिखाई पडती है। इस सारी कथा को जानने और समझने के लिए जरूरी है कि मुसलमानों के भारत में आने से पहले के इतिहास पर भी एक छिछलती नजर डाली जाय। हम केवल इसी ढंग से समझ सकेंगे कि मुसलमानों के भारत में आने से पहले यहाँ की भाषाओं की दशा क्या थी, वे किस प्रकार बदल रही थीं और बदलते-बदलते इस योग्य हो गई थीं कि दूसरी भाषाओं के मेल-जोल से एक नई भाषा को जन्म दे सकें।

आर्यों से पहले भारत में द्राविड और ऑस्ट्रिक जातियों के लोग बसते थे। मोहनजोदारो और हड़प्पा की खुदाइयों से यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि द्राविड़ एक महान् संस्कृति के मालिक थे। बाद में आर्यों ने उन्हें लड़ाई में हराकर पीछे ढकेल दिया। पंजाब से लेकर आसाम तक आर्यों का बोलबाला हो गया और द्राविड़ दक्खिन भारत में चले गये, जहाँ उनकी संस्कृति और भाषाएँ आज भी जीवित हैं। उत्तरी भारत में जब हर तरफ आर्य छा गये तब उनकी भाषा भी फैली। यह भाषा संस्कृत थी, जो बढ़ते बढ़ते एक महान् भाषा बनी। पर संस्कृत के बढ़ने से स्थानीय प्राकृत भाषाएँ मरीं नहीं। ये अपनी जगह पर रहीं और संस्कृत ने नया खून और नई शक्ति पाकर बढ़ती ही रहीं। पर संस्कृत की उठान और प्रगति ऐसी थी कि उसके नीचे दबकर रह गईं। संस्कृत ने भारत के साहित्यिक भाण्डार में वह अनमोल रत्न भर दिये हैं, जिनकी चमक-दमक से आज भी संसार

की आँखें चकाचौंध हैं। लेकिन, संस्कृत की इसी प्रगति ने उनको जनता से दूर कर दिया और वह केवल पढ़े-लिखे और ज्ञानियों की भाषा बनकर रह गई। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि जब संस्कृत-भाषा और उसका साहित्य बहुत ऊँचा और जनता से दूर हो गया, तब जनता प्राकृत भाषाओं की ओर लौट गई और संस्कृत ब्राह्मणों और हिन्दू-धर्म की भाषा बनकर रह गई। उस समय दो बलवान् प्राकृत भाषाएँ थीं—एक तो हमारी मागधी या पाली और दूसरी शौरसेनी। आज की अधिक भारतीय भाषाएं इन्हीं दो प्राकृत भाषाओं से निकली हैं। पर, हमारा विषय यह नहीं है, इसलिए हम इस बहस को यहीं छोड़ते हैं।

भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध ने अपने धर्म के प्रचार के लिए इसी मागधी या पाली को चुना। उनके चेलों और बौद्ध-भिक्षुओं ने इस भाषा को सारे भारत, बर्मा, सीलोन और तिब्बत तक पहुँचा दिया। बौद्धधर्म के प्रचार से हिन्दू-धर्म और संस्कृत-भाषा दोनों को बड़ा धक्का लगा। हिन्दू-धर्म के पाँव तो फिर बाद में जम गये, बौद्ध-धर्म के पाँव उखड़ गये, लेकिन संस्कृत-भाषा के पाँव फिर भारत में जम न सके। वह रोज-रोज सिमटती ही गई और आज केवल पुस्तक की भाषा बनकर रह गई है, जिसका जनता से बहुत कम सरोकार है। भगवान् बुद्ध के समय में ही संस्कृत जनता से दूर हो चुकी थी। इसका अनुमान एक किस्से से होता है, जो श्यामसुन्दरदासजी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी-भाषा और साहित्य' में लिखा है। इस किस्से को डॉ० मसऊद हुसेन ने अपनी किताब 'मुकदमए-तारीखे जबाने उर्दू' में उल्था किया है—

"यमिवल और उतयकील नाम के दो ब्राह्मण भाई महात्मा (बुद्ध) के पास आते हैं और दरखास्त करते हैं कि ऐ भगवान्, मुख्तलिफ जात-पात के लोग आपके बोली को दुहराकर नापाक कर रहे हैं। इसलिए हमें हुक्म दीजिए, कि उन्हे छन्दो (वैदिक संस्कृत) में लिख दें, ताकि उनमें किसी किस्म की तबदीली न की जा सके। महात्मा इन्कार करते हुए कहते हैं—ऐ भिक्षुओ, बुद्ध के बोलों को संस्कृत में हरगिज न लिखना, जो ऐसा करेगा वह मेरी तौहीनी करेगा। मेरी बातों को अपनी ही भाषा में समझने की कोशिश करो।" अपनी भाषा से मुराद यही मागधी जबान है।

इससे साफ पता चलता है कि संस्कृत जनता से बहुत दूर हो चुकी थी और जनता की भाषा प्राकृत थी। अशोक की लाटों से यह पता चलता है कि उस समय अधिक से अधिक और कम से-कम दो प्राकृत भाषाएँ प्रचलित थीं और यही दो लोकप्रिय थीं। एक तो पूर्वी और दूसरी पच्छिमी—यानी मागधी या पाली और शौरसेनी। शहबाजगढ़ी में अशोक की लाट पर जो खुदाई मिली है, उससे पता चलता है कि इस पच्छिमी प्राकृत पर संस्कृत का गहरा प्रभाव था। डा० ग्रियर्सन ने भी इसे माना है। इन दोनों प्राकृतों की अलग विशेषताएँ थीं। उस समय दक्खिन भारत में किसी प्राकृत का पता नहीं चलता।

भाषाएँ भी जीवित रहने और बढ़ने के लिए एक-दूसरी भाषा से शब्दों का लेन-देन करती रहती हैं। जो भाषाएँ लेन-देन का व्यापार नहीं करतीं, वे अगर मरती नहीं तो दुर्बल जरूर हो जाती हैं। भाषाओं के इतिहास में ऐसी बहुत-सी मिसालें मिलती हैं।

केवल वही भाषाएँ बढती और फैलती हैं, जो अपने सम्पर्क में आनेवाली भाषाओं से शब्द और विचारो का लेन-देन करती हैं और दूसरी भाषाओ से उनका सम्पर्क बढता जाता है। वे नया खून पाकर बलवान होती जाती हैं।

पाली ने अपने लिए सस्कृत से हटकर अलग राह बनाई। मगर पश्चिमी प्राकृत शौरसेनी के प्रभाव से नहीं बच सकी। और, शौरसेनी पर संस्कृत का प्रभाव था। इसलिए, शौरसेनी द्वारा पाली पर भी सस्कृत का प्रभाव पडा और धीरे-धीरे वह भी साहित्यिक रूप धारण करने लगी। इस प्रकार पाली भी जनता से दूर होकर विद्वानो में घर कर गई। फिर उसका व्याकरण बना और कड़ाई के साथ उसकी पाबन्दी होने लगी। जनता ने फिर मिली-जुली बोलियो को अपनाया। ऐसी मिली जुली बोलियाँ अपभ्रंश कहलाई। अपभ्रंश का अर्थ है बिगड़ी हुई भाषा। मगर जैसे-जैसे समय बीतता गया, यह अपभ्रंश बोलियाँ भी मँजती और अपने-अपने क्षेत्रो में फैलती गई और धीरे-धीरे इन अपभ्रंश बोलियों ने भी साहित्यिक रूप धारण करना शुरू कर दिया—विशेषकर, गुजरात, राजपुताना और दोआबा की बोलियाँ तेजी के साथ बढने लगीं। राजपूतो की राजनीतिक ताकत और असर ने शौरसेनी-अपभ्रंश को ऐसी लोकप्रिय बना दिया कि स० ८०० से सं० १००० तक सारे उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा बन गई और इसमें साहित्य बनने लगा।

खड़ी बोली या उर्दू उसी अपभ्रंश से पैदा हुई, जो दिल्ली, मेरठ और उसके आसपास बोली जाती थी। पश्चिमी हिन्दी जो मुसलमानो के भारत में आने से पहले ही पजाब में फल-फूल रही थी, उसी शौरसेनी-अपभ्रंश से निकली थी और पजाब में पाँव धरते ही मुसलमानों ने उसको अपना लिया था। इसी कारण प्रोफेसर महमूद शीरवानी को धोखा हुआ और उन्होंने यह बात कही कि उर्दू पंजाब में पैदा हुई। इसी प्रकार का धोखा मौलाना मुहम्मद हुसैन आजाद को भी हुआ था और उन्होंने अपनी पुस्तक 'आबे हयात' में उर्दू को ब्रज से निकलनेवाली भाषा बताया, जो मथुरा और उसके आसपास के इलाको की भाषा थी। मगर नई खोजों ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि उर्दू दिल्ली और मेरठ के इलाकों में बोली जानेवाली शौरसेनी-अपभ्रंश या पश्चिमी हिन्दी स पैदा हुई। हाँ, यह जरूर है कि आरम्भ ही से उसपर ब्रजभाषा का प्रभाव पडा है। उसने ब्रज से पूरा पूरा लाभ उठाया है। इसका एक बडा कारण यह भी था कि ब्रज और शौरसेनी-अपभ्रंश या पश्चिमी हिन्दी की सीमाएँ आपस में मिलती थीं।

सवत् १००० के बाद से मुसलमानों ने भारत पर बार-बार चढाइयाँ कीं। ये चढाइयाँ अफगानिस्तान के रास्ते से हुई। इसका फल यह हुआ है कि भारत मे पजाब मुसलमानों का अड्डा बन गया। इससे पहले सन् ७१२ ई० मे मुहम्मद-बिन-कासिम ने राजा दाहिर को हराकर सिन्ध पर कब्जा कर लिया था। बाद मे मुहम्मद-बिन-कासिम तो चला गया, पर अरब मुसलमान वहाँ बस गये। उनकी अरबी-भाषा स्थानीय भाषा के साथ घुल-मिल गई। उसके बाद दो सौ वर्ष तक हाल यह रहा कि मुसलमान भारत पर चढाई करते और लौट जाते। मगर सन् १००० ई० के बाद तो जैसे मुसलमानों की दाढ़ आ गई। मुसलमान आते और पजाब में बस जाते। सन् ११४५ ई० मे ख्वाजा मसऊद सुलेमान

भारत आये। यह तुर्क थे। अरबी और फारसी के विद्वान् और कवि थे। उन्होंने किसी भारतीय भाषा में भी कविताएँ लिखी थीं। उनकी लिखी कोई कविता मिलती नहीं। पर अमीर खुसरू और कुछ दूसरों ने भी उनकी भारतीय भाषा की कविता के बारे में लिखा है। अनुमान किया जाता है कि जिस भारतीय भाषा में उन्होंने कविताएँ लिखी होंगी, वह पंजाबी होगी।

सन् १२०७ ई० में कुतुबुद्दीन एबक ने दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया। यहाँ की भाषा मुलतान और लाहौर की भाषा से अलग थी। यह न तो शुद्ध भाषा थी और न खड़ी बोली, बल्कि शौरसेनी-अपभ्रंश की परम्परा में जकड़ी हुई भाषा थी, जिसपर राजस्थानी और ब्रज का भी गहरा प्रभाव था। चन्दबरदाई के 'पृथ्वीराज रासो' में यह प्रभाव साफ झलकता है। पर दरबारी भाषा पर राजस्थानी और हरियानी की छाप थी। बारहवीं सदी के एक शाही परवाने की भाषा देखिए--

"श्री श्री बलयन महाराजम धीराजम हिन्दुस्थानम राजमधानम सम्मरी नरेस पूरब दिल्ली तख्त श्री श्री माहानम राजमधीराजम, श्री पृथ्वीराज सोमाथनम आचार्य रिशिकेश धनम तरी अपरण तुम ने काका जी के दवा की आराम चतो जेन के रीज में रागड रुपया ५,००० तुमरे अवाई गोडे का खरचा सेवाय आवेंगे। खजानम मे इनम को कोई माफ करेंगे जेन को नीर के अधिकारी होवेंगे। सति दूबे के हुक्म होमन्त रा सम्वत् ४५ और राय असाढ़ सरी १३।"

शाही परवाने की भाषा आपने देख ली। अब पृथ्वीराज की बहन प्रथाबाई का एक पत्र देखिए। यह पत्र प्रथाबाई ने सती होने से पहले अपने बेटे को लिखा था—

"श्री हुजूर सिमर मे मारे गय और उनके सग रिशिकेश भी बैंकुण्ठ को पधारे हैं। रिशिकेश उन चार लोगों में से हैं जो दिल्ली से मेरे सग दहेज मे आये थे। इसलिए इन वशजों की खात्री रखना। ने पाछे मारा। चियारी ग्रामशा की खात्री राख जो। ई मारा जिव का चाकर है। जोथा कदि हरामखोरी नेवेगा।"

प्रो० महमूद शीरानी इन परवानों और पत्रों को असली नहीं मानते, मगर दूसरे विद्वानो ने इसे माना है। बात कुछ ही क्यों न हो, पर यह बात साफ मालूम होती है कि उस समय दिल्ली और उसके आस-पास की बोली में अरबी और फारसी शब्द मिल गये और खड़ी बोली का ढाँचा तैयार होने लगा था। कुतुबुद्दीन ने दिल्ली को राजधानी बनाया, तो पंजाब से मुसलमान भी आकर यहाँ बसने लगे। पंजाब से आनेवाले मुसलमानो की भाषा पंजाबी थी, जिसमें अरबी और फारसी के बहुत-से शब्द मिल चुके थे। दिल्ली मे उस समय कई प्रकार की बोलियाँ बोली जाती थीं। एक ओर पुरानी खड़ी बोली थी, दूसरी ओर हरियानी। पूर्वी पंजाब की बोली इन्हीं दोनों बोलियों के मेल से बनी थी और आनेवाले मुसलमान इससे भी परिचित थे। इसीलिए मुसलमानों को हरियानी और खड़ी बोली अपनी बोली से निकट दिखाई दी और उन्होंने अपना काम चलाने के लिए इसी

खड़ी बोली को चुना और इस बोली का अरबी और फारसी शब्दों की मिलावट से रूप बदलने लगा।

जब दिल्ली में मुसलमानों के पाँव जम गये, तब उनका रास्ता साफ हो गया। भारत के दूसरे हिस्सों पर भी उनकी ललचाई नजरें पड़ने लगीं। उनके सैनिक और सिपाही बढ़ने लगे और नये नये हिस्से दिल्ली के राज में मिलाये जाने या दूसरे-दूसरे इलाकों में नये-नये राज स्थापित होने लगे। सिपाहियों के अलावा सूफी और धर्म के प्रचारक भी हर तरफ फैले और उनके प्रभाव से हर तरफ भाषा बदलने लगी। उस समय खड़ी बोली के अलावा देश में पूर्वी हिन्दी ब्रज, राजस्थानी और दक्खिन में दक्खिनी बोलियाँ बढ रही थीं। मुसलमानों के पहुँचते ही इन बोलियों में अरबी और फ़ारसी के शब्द मिलने लगे। फिर दिल्ली भी कई बार उजड़ी और हर बार दूसरी जगह बसाई गई। इसीलिए, दिल्ली की भाषा पर कई बोलियों का रंग छाया हुआ था। पच्छिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, ब्रज और राजस्थानी का मिला-जुला प्रभाव था। सूफियों, साधुओं और संतों ने अपने विचारों के प्रचार के लिए जन-साधारण की बोलियों से काम लिया। मुसलमान सूफी जहाँ भी गये, वहाँ की भाषा को अपने प्रचार के लिए चुना और उनकी भाषा में अरबी-फारसी शब्दों की मिलावट हुई। हिन्दी के शब्द फारसी में आये। महमूद गजनवी के समय महाकवि फिरदौसी ने अपनी अमर रचना 'शाहनामा' में कोतवाल' शब्द लिखा है। 'कोतवाल' हिन्दी शब्द है, जिसका अर्थ है—किला का मालिक।

कुछ लोगों का कहना है कि सुलतान बलबन के समय दिल्ली में एक नई भाषा बन चुकी थी, जिसे हम उर्दू या हिन्दी के नमूने कह सकते हैं और इस भाषा में अमीर खुसरु ने कविताएँ लिखी थीं। अमीर खुसरू उस समय के महान् व्यक्ति और Genius थे। वे फारसी-अरबी के बडे विद्वान और कविता तथा संगीत के आचार्य थे। आज भी उनके नाम से बहुत-सी चीजें मशहूर हैं। उनकी एक प्रसिद्ध गजल है, जिसका एक टुकड़ा फारसी और दूसरा खड़ी बोली में है—

> जे हाले मिस्कीं मकुन तग़ाफ़ुल लड़ाये नैना बनाये बतियाँ।
> कि ताबे हिजरां नदारम ऐ जां न लेहू का है लगाये छतियाँ॥

या फिर उनकी पहेलियाँ, मकरनियाँ, अन्मलियाँ और दो-सुखने। अमीर खुसरू ने अपनी फारसी-कविता में हिन्दी-भाषा की बड़ाई की है। उसे बहुत सराहा है और अपने बारे में लिखा है कि खुद भी हिन्दी-भाषा में कविताएँ लिखी हैं। आज हिन्दी में जो चीजें अमीर खुसरू के नाम से मशहूर हैं, उनको पूरे विश्वास के साथ उनकी नहीं कहा जा सकता। मगर फिर भी, इतना मानना ही पड़ता है कि उनके समय एक ऐसी भाषा बनकर प्रचलित हो चुकी थी, जिसको उन्होंने 'जबाने हिन्दी' कहा है और जिसमें उन्होंने कविताएँ लिखी थीं।

सूफियों की तरह सन्तों और भगतों ने भी बड़ा काम किया है। उन्होंने भी अपने प्रचार के लिए उन्हीं भाषाओं को चुना, जो जनता में लोकप्रिय हो रही थीं। महाराष्ट्र के

कवि नामदेव का नाम भी, कबीर और गुरु नानक की तरह भाषा के इतिहास में अमर संत रहेगा। सन्त नामदेव ने कबीर और नानक से बहुत पहले ही उस खड़ी बोली में कविताएँ लिखीं, जो देश में पैदा हो रही थी। संत नामदेव का जमाना सन १३२८ ई० से सन् १४०५ ई० तक है। यही समय है, जब मुहम्मद तुगलक़ ने देवगिरि पर चढ़ाई की थी और दिल्ली-वालों को वहाँ ले जाकर बसाया था। संत नामदेव महाराष्ट्री कवि थे, मगर उन्होंने खड़ी बोली में भी कविताएँ लिखीं—

माई न होती बाप न होते कर्म न होता काया।
हम नहीं होते तुम नहीं होते कौन कहाँ ते आया॥
चन्द्र न होता सूर्य न होता पानी पवन मिलाया।
शास्त्र न होता वेद न होता कर्म कहाँ ते आया॥

या यह कि—

मन मेरा सुई मन मेरा धागा
खेचर जी के चरण पर नामा सीपी लागा।

कबीर का जमाना बाद का है— सन् १४४० ई० से सन् १५१५ ई० तक। वे कहते हैं—

बोली मेरी पूरबी ता है न जनिये कोय।
मेरी बोली सो सुने जो पूरब का होय॥

गुरु नानक का ज़माना कबीर के बाद का है। वे कहते हैं—

अंधे अक्ली बाहरे क्या तन सो कहिये,
बिन गुरु न सूझई किस हो ही निरमये।
आवत को जाता कहे जाते को आया,
पर की कर अपनी कहे अपनो नहीं भाया।

इन उदाहरणों से साफ मालूम पड़ता है कि तीनो सन्तों की भाषा एक ही जंजीर की कड़ियाँ हैं। इन तीनों सन्तों का समय अलग-अलग था, स्थान अलग-अलग था। इनके विचार भी अलग-अलग थे, फिर भी भाषा मे बहुत-कुछ समानता है।

सन् १५२६ ई० मे बाबर ने इब्राहिम लोदी को हराकर दिल्ली पर कब्जा कर लिया। जब इब्राहिम लोदी का सर काटकर बाबर के सामने लाया गया, तब एक हिन्दी-कवि ने यह दोहा कहा—

नोय ऊपर था बतीसा। पानीपत में भारत दीसा॥
अट्ठी रजब सुक्कर बारा। बाबर जीता ब्राहीम हारा॥

और तो और, कहा जाता है कि दिल्ली में रहकर बाबर को भी यह भाषा भा गई। वह फारसी का कवि था। उसने एक शेर इस भाषा में भी कहा। नवाब नसीर हुसेन खयाल ने यह शेर अपनी पुस्तक 'मुगल और उर्दू' में लिखा है—

मुज का न हुआ कुज हवस मानको मोती,
फुक़रा हलीफ़ बस बोलगो सेदुर पानी व रोटी।

उसके बाद हिमायूँ के दरबार में भी ऐसे कवियों का पता चलता है, जो दिल्ली की भाषा में भी कविताएँ लिखते थे। उनमें शेख गदाई देहलवी प्रसिद्ध हैं। उसी समय हिन्दी

कवि छेम की कविताएँ भी मिलती हैं, जिनपर शौरसेनी अपभ्रंश का रंग छाया हुआ है। लेकिन, अकबर के समय मे तो दिल्ली की यह भाषा सबसे अलग एक भाषा बन गई थी। अकबरी दरबार के एक रत्न अबुलफज़्ल ने अपनी फारसी 'दरबारे अकबरी' में 'ज़बाने देहलवी' की बार-बार चर्चा की है। यह भाषा दूसरी भाषाओं से अलग थी और दिल्ली में तेजी के साथ बढ रही थी।

लेकिन, अकबर के समय मे इस 'जबाने देहलवी' को एक झटका लगा और वह इस तरह कि अकबर ने अपनी राजधानी दिल्ली से हटाकर आगरा में बनाई। इससे दिल्ली की जिस भाषा का ढाँचा तैयार हो चुका था, उसकी प्रगति कुछ दिनो के लिए मद्धिम पड गई। मगर एक बड़ा लाभ भी हुआ और वह यह कि इस भाषा ने व्रज और राजस्थानी से बहुत-कुछ पाया। आगरा के आसपास व्रज का जोर था और उसके बाद राजस्थानी का। फ़ारसी के साथ शाही महल में भी व्रज और राजस्थानी का व्यवहार होता था। अकबर का सेनापति तलवार का धनी होने के साथ-साथ कलम का भी धनी था। अरबी-फारसी का विद्वान् और व्रजभाषा का रसिया था। उसने व्रजभाषा में जो दोहे कहे हैं, वे अनमोल हैं। फिर यह कि अकबर की सेना मे हर इलाके के लोग थे—पजाबी, हरियानी, राजस्थान के राजपूत और मुसलमान। ये सारे सिपाही अपनी-अपनी भाषा बोलते थे। मगर इनका आपस में रोज-रोज का मिलना-जुलना था और इनके मेल-जोल से आगरा मे भी भाषा की खिचड़ी बनने लगी।

इसी समय अकबर के मंत्री राजा टोडरमल ने एक और कदम बढाया, जिससे इस नई भाषा को बढने में बड़ी सहायता मिली। राजा टोडरमल ने सरकारी नौकरो के लिए फारसी पढना जरूरी कर दिया और सारे हिन्दू सरकारी नौकर फारसी और अरबी पढने लगे। इसके बाद फारसी की चर्चा हिन्दू-घरों तक में होने लगी। अकबर ने हिन्दू और इस्लाम धर्म की अच्छी बातों को इकट्ठा करके अपना नया धर्म 'दीने इलाही' चलाया। अकबर चाहता था कि हिन्दू और मुसलमान का भेद मिट जाय और भारत में एक नई सम्मिलित राष्ट्रीयता पैदा हो। उसे इस विचार में सफलता नहीं मिली। पर, उसने हिन्दुओं के साथ जो बर्ताव किया, उससे यहाँ के हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के बहुत निकट आ गये और उनके जीवन में नया सुभाव पैदा हो गया। इन सब बातों से इस नई भाषा को आगे बढ़ने में बहुत मदद मिली।

अकबर ही के समय (सन् १५७२ ई०) मे गंग कवि ने 'चन्द छन्द वर्णन की महिमा' खड़ी बोली में लिखी, जिसकी भाषा यह थी—

"अकबर शाहजी आम खास में तख्त ऊपर विराजमान हो रहे और आम खास भरने लगा है जिसमें तमाम उमरा आये कोरनिश बजाये जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करें। अपनी-अपनी मिसिल मे जिनकी बैठक नहीं सो रेशम के रस्से में रेशम की लोस पकड़े-पकड़े खड़े ताजीम में रहे।"

अकबर के समय खड़ी बोली में अरबी और फारसी शब्दों का व्यवहार आम हो गया था। अकबर के पोते शाहजहाँ ने फिर दिल्ली को बसाया, वहाँ राजधानी बनाई और उसका नाम शाहजहाँ-आबाद रखा। लाल किले के पास ही उर्दू-बाजार बसाया। उसके चारों तरफ सिपाहियों और फौजी सरदारों की आबादी थी, जिसमे यही खड़ी बोली प्रचलित हो गई और इस बोली का नाम 'शाहजहानी उर्दू' पड़ गया और यह तेजी के साथ बढ़ने लगी। अबतक तो यह समझा जाता था कि दक्खिन के शायर वली औरंगाबादी उर्दू के पहले शायर थे। वली ने शाहजहाँ का आखिर और औरंगजेब का शुरू का जमाना देखा है। लेकिन, अब यह बात नई खोजो ने स्पष्ट कर दी है कि वली जब दिल्ली आये, तब यहा पहले ही से इस नई भाषा मे कविता करनेवाले मौजूद थे। शाहजहा के दरबार के मीर मुन्शी राय रायान पडित चन्द्रभान ब्राह्मण ने उर्दू-कविताएँ कहीं। पडित चन्द्रभान कश्मीरी ब्राह्मण थे, अरबी और फारसी के बड़े विद्वान् और कवि थे। उनकी फारसी शायरी की धूम ईरान तक पहुँच चुकी थी। उनकी उर्दू गजल यह है—

"खुदा ने किस शहर अन्दर हमन को लाय डाला है
न दिलबर है न साकी है न शीशा है न प्याला है।
खुदा के बाग में रौनक होवे तो किस तरह यारा
न दोना है न मरवा है न सौसन है न लाला है।
पिया का नाम की सुमरन किया चाहूँ कहूँ किससे
न तस्बी है न सुमरन है न कंठी है न माला है।
पिया के नाम को कत्ल बाअजब देखे हों
न बरछी है न तिरछी है न खंजर है न भाला है।
बरहमन वास्ते स्नान के फिरता है बगिया में
न गंगा है न जमुना है न नदी है न नाला है।"

इस भाषा का नाम शाहजहानी उर्दू इसीलिए पड़ा कि यह पहले-पहल सेना में फैली। तुरकी भाषा मे उर्दू का अर्थ होता है सेना। यानी शाहजहानी सेना की भाषा जो अब यहाँ की हर भाषा से अलग-अलग थी और स्थानीय बोली में अरबी-फारसी और तुरकी शब्दो के मेल से बनी थी।

उत्तरी भारत में उर्दू-भाषा जिस प्रकार बढ़ी, उसे आपने जान लिया। दक्खिन पर मुसलमानों ने सबसे पहले अलाउद्दीन खिलजी के समय चढ़ाई की और उसके बाद मुहम्मद तुगलक़ ने। मुहम्मद तुगलक़ को देवगिरि का शहर ऐसा पसन्द आया कि उसने दिल्लीवालों को वहाँ जाकर बसने का हुक्म दिया। दिल्ली के बहुत-से परिवार वहाँ जाकर बस गये। बहुत-से फकीर और सूफी पहले ही दक्खिन पहुँच चुके थे। मुसलमानों के पहुँचने के बाद दिल्ली की यह सरल भाषा लोकप्रिय बनने लगी। सत नामदेव के कुछ दोहे ऊपर दिये जा चुके हैं। दक्खिन में उर्दू के नमूने उस समय भी मिलते हैं, जब उत्तरी भारत में कहीं उसका नाम न था। फीरोजशाह बहमनी के समय ख्वाजा गेसूदराज गुलबरगा

आये थे। उसकी तीन पुस्तिकाएँ मिलती हैं। ये तीनों पुस्तिकाएँ सूफ़ी मत पर हैं। उनके नाम हैं—

१, मेराजुल आशेक़ीन, २, हिदायतनामा, ३, रेसाला सेह वारह। मेराजुल आशेकीन की भाषा यह है, देखिए—

"ऐ अज़ीज़ो, वासिलाने खुदा सों मिलना जुदा होना यो दोनों भी हैं
यो बात पीरसों मेराज को खबर देकर बन्दे को सरफराज़ कर।"

ख्वाजा गेसूदराज के नाती अब्दुल्लाह हुसैनी भी सूफ़ी थे। उन्होंने भी कई छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ लिखीं। उसी समय बहमनी-दरबार में मशहूर कवि निजामी था, जो फारसी के साथ-साथ स्थानीय भाषा में भी कविताएँ लिखता था।

बहमनी-राज के पतन के बाद दक्खिन में पाँच मुस्लिम राज बन गये। हर बादशाह के दरबार में विद्वानों और कवियो की भीड थी। इन सबकी सूची इतनी लम्बी बनती है कि दुहराना कठिन है। उस समय के कुछ मुख्य कवि ये थे—शाह मीरानजी, शाह बुरहानुद्दीन जानम, नुसरती, हाश्मी, सेवा, और राम राव। यह सब-के सब उस नई भाषा मे कविताएँ लिख रहे थे, जो तेजी के साथ उभर रही थी।

कुतुबशाही बादशाहो के समय खुद बादशाह सुलतान मुहम्मदशाह, वजही, शौकी अब्दुल्लाह, कुतुबशाह, गव्वासी, इब्ने निशाती, अबुलहसन तानाशाह और वली औरंगाबादी थे। इससे भी यह बात साफ हो जाती है कि वली उर्दू के पहले कवि नहीं थे। दक्खिन में भी उनसे पहले बहुत-से उर्दू के कवियो का पता मिलता है। मगर इसमें कोई सदेह नहीं कि वे अपने समय के सबसे प्रसिद्ध कवि थे और दक्खिन से बाहर भी मशहूर थे। उस समय दिल्ली में भी बहुत-से कवि थे। फिर भी दक्खिन में इस नई भाषा को बढने का ज्यादा अवसर मिला और इसका साहित्य इकट्ठा हुआ। दिल्ली मे ऐसी बात नहीं थी।

उस युग की विशेषता यह है कि फारसी-कविता के प्रभाव से अरबी और फारसी पिंगल देशी भाषा की कविता में प्रचलित हुए। हिन्दुस्तानी कवियों ने फारसी शायरों के चिह्न पर चलकर गज़लें, कसीदे, मसनवियाँ और मरसिये लिखे। हिन्दी-पिंगल से उनका नाता टूट गया। जब वली दिल्ली आये, तब यहाँ का भी यही हाल था। आबू, नाजी, मज्मून, यकरंग और आरजू उर्दू के मशहूर कवि मौजूद थे और सबने फारसी के ढंग पर उर्दू की कविताएँ लिखी थीं। उर्दू कविता भारत की पुरानी कविता से बिल्कुल अलग एक नई राह पकड़ चुकी थी।

बिहार में मुसलमान खिलजियों के समय में आये। बिहार की भाषा मगही थी। सन् ११६० ई० हजरत ताज फक़ीह यरोशेलम से बिहार आये और मनेर में बस गये। यह बडे सूफ़ी थे। बाद में उनके वंश में और बडे-बडे सूफी पैदा हुए, जिनमे अहमद यहिया मनेरी, सरफुद्दीन-बिन-अहमद. यहिया मनेरी और मखदूम बिहार बहुत प्रसिद्ध हैं। मखदूम शरफुद्दीन सन् १३६३ ई० में स्वर्गवासी हुए। उनके दोहे बहुत मशहूर हैं।

पटना-कॉलेज के प्रो० हसन असकरी ने उनकी कविताओं का पता चलाया है। इनकी भाषा खड़ी मगही है। उन्होंने अपने चेलों को बाज बीमारी के नुस्खे भी दिये। ये भी दोहों में हैं। दाँत के मंजन का एक नुस्खा है, सुनिए—

'नून मिर्च मजीठ ले आवे। नीला थोथा आग जलावे॥
लोध पठानी कथ पा परया। पीस पास के मजन करया।
मजन करके पान चबैया। दात के पीरा कभी न अइया॥"

मखदूम साहब के बहुत-से वचन भी मिलते हैं, जो मगही में हैं। कहीं-कहीं फारसी या अरबी शब्द आ गये हैं। बिहार के दूसरे इलाकों में भी सूफियों के वचन के नमूने मिलते हैं। सबने स्थानीय बोली को ही अपने विचारों के प्रचार के लिए चुना। इस तरह यहाँ की बोली में भी अरबी और फारसी के शब्द मिलने लगे और भाषा का चोला बदलने लगा। और कुछ समय में यह भाषा इतनी मँज गई कि इसमें कविताएँ कही जाने लगीं। फुलवारीशरीफ के एक सूफी एमादुद्दीन एमाद ने सन् १६४२ ई० से सन १७०५ ई० के बीच यह गजल लिखी—

"बीच नज़र के इधर-उधर हरदम आवे जावे है
बल वे ज़ालिम तिस पर टुक देखे को तरसावे है।
जब सती छोड़िस खाना-पीना तेरा दिवाना उल्फत में
खून जिगर का पीवे है और गम गुस्सा को खावे है।
आवे अपने हाथ वह मूरख नहीं एमाद अब उसकी आस
उसके कारण कौन जतन हम किया जो नहीं आवे है।"

इन शेरों में बिहार की मगही और खड़ी बोली या रेख्ता का रंग साफ झलक रहा है। बिहार में यह नई भाषा बराबर बढ़ती रही। जिस समय दिल्ली में फायज आबू और मजमून की तूती बोल रही थी, उसी समय फुलवारीशरीफ के एक सूफी को आयतुल्लाह जौहरी ने एक मसनवी लिखी। उसका नाम मसनवी ए-गौहारे जौहरी रखा। वे कहते हैं—

"लिखा रेख्ता बीच यह मसनवी। रखा नाम बस गौहरे जौहरी।
करे जिसकी तारीख का गर ख्याल। रतन सोज मन्का से त जो निकाल।"

अब असल मसनवी के कुछ शेर सुनिए—

"असाढ़ आया लगा बादल गरजने। अंधेरी रात में बिजली चमकने।
गगन पर बर्क नैनन है चमकता। मेरा शोके सतिस है दिल धड़कता।"

× × ×

'घटा सावन की कारी जब पड़े झूम। मेरे जी बीच बिरहा आ करे धूम।
अकारथ जाय है मेरी जवानी। पिया परदेश क्या यह जिन्दगानी।"

उस समय विहार में और भी उर्दू कवि थे। मगर सबके बारे में लिखना बात को बढ़ाना है। पर इनमें कुछ ऐसे कवि हैं, जिनका नाम लिखना जरूरी है। उनमें मीर गुलाम हुसेन शोरिश, मुहम्मद रोशन जोशिश, शाह रुकनुद्दीन इश्क, सज्जाद फुलवारवी, लाला रामचन्द्र फरहत और राजा रामनारायण मौजू। राजा रामनारायण मौजू विहार के गवर्नर थे। उन्होंने जब सिराजुद्दौला की हत्या की खबर सुनी, तब तुरत ही एक शेर पढ़ा—

"गिज़ालां तुम तो वाक़िफ़ हो कहो मजनूं के मरने की
दिवाना मर गया आखिर को वीराने पै क्या गुजरी॥"

दिल्ली में मुगल-राज नाम को रह गया था। सारा शहर षड्यन्त्र और राजनीतिक जोड़-तोड़ का केन्द्र था। विद्वानों और कवियों को पूछनेवाला कोई न रहा। तो ये लोग भी जीने का सहारा ढूँढने निकले। लखनऊ, रामपुर, बनारस, हैदराबाद, अजीमाबाद (पटना) और मुर्शिदाबाद पहुँचे। नजीर अकबराबादी आगरा से निकले तो पटना होते हुए मुर्शिदाबाद पहुँचे। मीर दिल्ली से लखनऊ पहुँचे। जिस समय दिल्ली में मीर और लखनऊ में इन्शा, सौदा, मुसहफी और आतिश की शायरी की धूम थी, उस समय अजीमाबाद (पटना) शेख गुलाम अली रासिख, मीर जियाउद्दीन जिया, राजा बहादुर राजा, और राजा प्यारेलाल उल्फती की शायरी से गूँज रहा था।

उर्दू-कविता तरक्की कर रही थी और मुगल-राज का सिंहासन डोल रहा था। उसी हाल में बहादुरशाह जफर बादशाह हुए। बादशाह शायर थे। लाल किले में मुशायरे की महफिलें जमने लगीं। बादशाह के अलावा शहजादे, उस्ताद जौक, मिरजा असदुल्लाह खाँ गालिब, मुफ्ती सदरुद्दीन आजुरदा, शेख इमामबख्श सहबाई शरीक होते थे। लखनऊ में नासिख, आतिश, नसीर, मीर हसन और दयाशंकर नसीम की तूती बोल रही थी। रामपुर, हैदराबाद और अजीमाबाद में मुशायरे की महफिलें गर्म रहती थीं कि सन् १८५७ के इन्कलाब ने इतिहास का पन्ना उलट दिया, महफिल उजड़ गई।

इसी समय ग़ालिब जैसा महाकवि चमका, जिसने उर्दू शायरी की काया पलट दी। ग़ालिब से पहले उर्दू-शायरी में भाषा पर जोर था। ग़ालिब ने पहली बार उर्दू-कविता में दार्शनिक विचारों को समोया और शायरी में नई जान डाल दी। पर ग़ालिब ने उर्दू-कविता की भाषा को फारसी शब्दों और तरकीबों से बोझिल भी कर दिया। बाज शेर ऐसे कहे हैं कि अगर एक-दो शब्द बदल दिये जायँ तो फारसी शेर बन जायँ। दूसरी ओर लखनऊ में नासिख ने मतरुकात का सिलसिला शुरू किया। मतरुकात का मतलब है किसी शब्द या मुहाविरे को छोड़ना। नासिख ने बहुत-से हिन्दी शब्दों और मुहाविरों का व्यवहार गलत ठहराया और वे उर्दू-भाषा से सदा के लिए छूट गये। उर्दू-शायरी ने फारसी-शायरी की परम्पराओं को अपना लिया। इससे भाषा को बहुत हानि पहुँची।

ग़ालिब के समय तक इस भाषा का कोई एक नाम नहीं था। गालिब ने इसे हिन्दी, हिन्दवी, रेख्ता और उर्दू-ए-मुअल्ला कहा है। फोर्ट विलियम कॉलेज में इसका नाम उर्दू और हिन्दुस्तानी था। उसके बाद ही इसका नाम आखिरी तौर पर उर्दू पड़ गया।

गालिब के बाद ही दिल्ली में दाग और लखनऊ से अमीर मीनाई चमके। दाग ने सरल भाषा में कविताएँ लिखीं, जो बहुत लोकप्रिय हुईं।

उस समय तक फारसी-शायरी की पेरवी में उर्दू में हर प्रकार की कविताएँ आने लगीं। गजलें, रुबाइयाँ, मरसिये, कसीदे, मसनवियाँ, किते, मुसद्दस, मुखम्मस, हर ढग कविताएँ मिलती हैं। गालिब के एक शागिर्द मौलाना अल्ताफ हुसेन हाली ने बाद में एक मुसद्दस 'मद्दो जजरे इस्लाम' लिखा। यह कविता बहुत लोकप्रिय हुई और उर्दू-शायरी मे राष्ट्रीय काव्य की नींव का पत्थर बनी। लखनऊ में मीर अनीस और मिरजा दबीर के मरसियों की धूम थी। इसके बाद ही थोड़े-थोड़े समय के बाद अकबर इलाहाबादी, बृजनारायण चकबस्त, एकबाल, शाद अजीमाबादी, हसरत मोहानी, तलोकचन्द महरूम और दुर्गा सहाय सरूर और इनके बाद साकिब, बेखुद, मिरजा यगाना, अजीज, सफी, जोश और जिगर मुरादाबादी आये और उर्दू का भाण्डार शायरी से भर गया।

अबतक उर्दू पद्य की बातें थीं। यह इसलिए जरूरी था कि उर्दू भाषा को बढ़ाने में पद्य का बड़ा हिस्सा है। अब गद्य की बातें सुनिए। असल मे उर्दू-गद्य का इतिहास ख्वाजा गेसूदराज की पुस्तिकाओं से शुरू होता है, पर उसने साहित्य का रूप नहीं धारण किया था। ये पुस्तिकाएँ साहित्यिक विचार से लिखी भी नहीं गई थीं, मगर बाद में साहित्य-धारा भी आ ही गई। बहादुरशाह ज़फ़र के समय दिल्ली से उर्दू का एक अखबार निकलता था, जिसमें बादशाह-शाहजादों की गजलें और खास-खास खबरें छपती थीं। इसके सम्पादक सैयाद बाक़र अली थे।

उर्दू गद्य का असल इतिहास उस समय से शुरू होता है, जब सन् १८०० ई० में कलकत्ते में फोर्ट विलियम कॉलेज स्थापित हुआ। इस कॉलेज का असल काम था अँगरेज अफसरो को देशी भाषाओं की शिक्षा देना और उसका प्रबन्ध करना। इसके सचालक थे डाक्टर जॉन गिलक्राइस्ट। उन्हें देशी भाषा से बहुत प्रेम था और वे उसको तरक्की देना चाहते थे। उन्होंने खुद भी कई किताबें उर्दू में लिखीं और बहुत-से लेखकों को इकट्ठा-कर लिया। उनमें मीर अमन, निहालचद लाहौरी, लल्लूलालजी, मीर बहादुर अली हुसेनी, मीर शेर अली अफसोस, काजिम अली जवान, मजहर अली विला और लाला बेनी नारायण-जैसे लोग जमा हो गये और फोर्ट विलियम में लिखने और अनुवाद का काम शुरू हो गया।

मीर अमन ने अमीर खुसरू की फारसी पुस्तक बागो-बहार' का किस्सा 'चहार दरवेश' के नाम से और अनवार सहेली का अनुवाद उर्दू में किया। शेर अली अफसोस ने शेख सादी की 'गुलिस्ताँ' और हैदरबख्श हैदरी ने 'लैला मजनू' और 'तोता कहानी' का अनुवाद किया। नेहालचंद लाहौरी ने फारसी से 'गुलबकावली' का अनुवाद किया। काजिम अली जवान से कालिदास के मशहूर नाटक 'शकुन्तला' और फरिश्ता के लिखे हुए भारत के इतिहास का अनुवाद किया। मजहर अली विला ने 'माधव मल' और 'काम कुण्डला' और 'बैताल पचीसी' का व्रज से उर्दू में अनुवाद किया। लल्लूलालजी ने 'सिंहासन बत्तीसी' लिखी। लाला बेनी नारायण ने एक फारसी-किस्से का उर्दू में अनुवाद किया और'चार

कलश' उसका नाम रखा। उसी समय अँगरेजों ने फारसी को हटाकर उर्दू को सरकारी कचहरियों में जगह दी।

उर्दू-गद्य-साहित्य का इतिहास फोर्टविलियम से शुरू होता है। उसके बाद तो धड़ाधड़ काम होने लगा। उसी समय ग़ालिब ने अपने दोस्तों को जो पत्र लिखे हैं, वे उर्दू-साहित्य के बहुत ही अच्छे नमूने हैं। उसी समय बाज लोगों ने धार्मिक पुस्तकों का उर्दू में अनुवाद शुरू किया और थोड़े ही दिनों में हिन्दुओं, मुसलमानों और ईसाइयों की धर्म-पुस्तकें उर्दू में आ गईं। देहली-कॉलेज के एक अध्यापक मास्टर रामचन्द्र ने इतिहास, भूगोल, अंकगणित और दूसरे विषयों पर उर्दू में कई किताबें लिखीं।

सन् १८५७ ई० के बाद सर सैयद अहमद खाँ ने साइंटिफिक सोसाइटी स्थापित की। आपने कई किताबें उर्दू में लिखीं और दूसरों से लिखवाईं। जब वे नौकरी से अलग होकर अलीगढ़ आ गये और कॉलेज बनाया तो बहुत-से विद्वान् उनके साथी बन गये। मुहम्मद हुसैन आजाद, मौलाना हाली, मौलना शिब्ली, डिप्टी नजीर अहमद खाँ खास तौर पर मशहूर थे। उर्दू का प्रेस कायम हुआ। मुहम्मद हुसैन आजाद ने उसी जमाने में या उसके लगभग अपनी पुस्तक 'आबे हयात' लिखी, 'दरबारे अकबरी' का अनुवाद किया और बहुत-सी दूसरी पुस्तकें लिखीं। मौलाना हाली ने मशहूर 'मुसद्दस' लिखा, अपने उस्ताद गालिब का जीवन-चरित्र—'यादगारे ग़ालिब'—लिखा। डिप्टी नजीर अहमद ने नौकरी के समय 'इण्डियन पेनल कोड' का अनुवाद उर्दू में किया था। उनके दिये हुए शब्द आज तक प्रचलित हैं। मौलाना शिब्ली बाद में अलीगढ़ से चले गये और उन्होंने लखनऊ में एक नई संस्था बनाई और 'इस्लाम का इतिहास' तथा दूसरी पुस्तकें लिखीं। उसी समय डिप्टी नजीर अहमद ने उर्दू में नाविल लिखे। सर सैयद ने अपनी पत्रिका 'तहजीबुल अखलाक' निकाली। मौलाना हाली ने आलोचना की पहली किताब लिखी। असल में यह उनके दीवान (संग्रह) की भूमिका है और अब 'मुकद्दमए शेरो शायरी' के नाम से अलग पुस्तक बन गई है।

लखनऊ में उस समय पंडित रतननाथ सरशार के कलम की धूम थी। वे नवलकिशोर प्रेस के 'अवध अखबार' के सम्पादक थे। उन्होंने फसानए आजाद, सैरे कोहसार, कामनी, पी कहाँ और कड़म धर्म जैसी पुस्तकें लिखीं। इसे न मानना पाप के बराबर है कि मुन्शी नवल-किशोर के प्रेस ने शुरू में उर्दू को तरक्की देने के सिलसिले में बहुत काम किया। उस समय लखनऊ से मुमताज हुसैन ने हास्य का एक साप्ताहिक 'अवध-पंच' निकाला। यह अखबार काँगरेसी था और सर सैयद के खिलाफ। इसमें अकबर इलाहाबादी, मिर्जा मच्छू बेग जरीफ, मुन्शी ज्वाला प्रसाद बर्क और पण्डित त्रिभुवननाथ हिज्र जैसे लोग लिखा करते थे। उस समय पटना से भी एक साप्ताहिक 'विहार पंच' निकला। उसमें फ़ज़्ले हक आजाद, खैर रहमानी, मुन्शी अबदुर्रहीम लिखा करते थे।

उन्नीसवीं सदी में उर्दू सारे देश में फैल चुकी थी और हर तरफ ऐसी संस्थाएँ थीं जो उसे बढ़ाने का काम कर रहीं। इस सिलसिले में कुछ पत्रिकाओं ने भी बड़ा काम किया है, जिनका नाम न लेना बड़ी बेइन्साफी होगी।

'मख्जन' सन् १६०१ ई० में लाहौर से प्रकाशित हुआ। उसके सम्पादक सर अब्दुल कादिर थे। इसी पत्रिका ने सर एकबाल, पंडित तिलोकचन्द महरूम, चकबस्त, सुलतान हैदर जोश, मौलवी अब्दुल हक और पडित कैफी और बाद में पंडित सुदर्शन को परिचित कराया। 'जमाना' कानपुर से सन् १६०३ ई० में निकला। उसके सम्पादक मुन्शी दयानारायण निगम थे। मुन्शी प्रेमचन्द, बालमुकुन्द गुप्त, पंडित मनोहरलाल जुत्शी, अजीज मिर्जा, दुरगा सहाय सरूर से लेकर बाद में जोश मलीहाबादी तक ने उसमें लिखा। तीसरी पत्रिका 'तमद्दुन' नाम से देहली से निकली। उनके सम्पादक कारी सरफराज हुसैन थे। राशिदुल खैरी, हसन निजामी और बहुत-से दूसरे लिखनेवाले उसके द्वारा परिचित हुए। चौथी पत्रिका इलाहाबाद से निकली। उसका नाम 'अदीब' था और मुन्शी नौबत राय नजर उसके सम्पादक थे। मगर यह पत्रिका केवल तीन वर्ष के बाद बन्द हो गई।

इस समय तक अँगरेजी शिक्षा सारे देश में फैल चुकी थी। अँगरेजी भाषा के प्रभाव में उर्दू के साहित्यिकों और कवियों को नई प्रेरणा मिली और उर्दू का भाडार भरने लगा। इस सिलसिले में तीन-चार सस्थाओं के नाम और काम दुहराना आवश्यक मालूम पड़ता है।

अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू—इसके प्रधान सर तेजबहादुर सप्रू और मन्त्री मौलवी अब्दुल हक थे। इस सस्था ने सन् १६४७ ई० तक उर्दू में हर विषय की लगभग ढाई सौ पुस्तके छापीं। इसकी सारी पुस्तकें अपने विषय के कारण उच्च कोटि की कही जायँगी। पुस्तकों के अलावा अजुमन तीन पत्रिकाएँ भी प्रकाशित करती थी—'उर्दू', 'साइन्स', और 'मआशियात'। देश के बँटवारे के बाद मौलवी अब्दुल हक पाकिस्तान चले गये। अब इस सस्था का आफिस देहली से अलीगढ आ गया है।

दारुल मुसन्नेफीन, आजमगढ़—दूसरी सस्था है। इसे मौलाना शिब्ली के शागिदों ने स्थापित किया। यह सस्था अब इस्लामी इतिहास, सूफी मत और साहित्य पर सैंकड़ों पुस्तकें छाप चुकी है। एक मासिक पत्रिका 'मआरिफ' भी प्रकाशित करती है।

एदारए अदबियाते उर्दू—हैदराबाद की सस्था है। इसने भी उर्दू-साहित्य पर बहुत-सी पुस्तकें छापी हैं और एक मासिक पत्र 'सब रस' प्रकाशित करती है। देहली में **मकतबए जामेआ** और **नदवतुल मुसन्नेफीन** भी बहुत अच्छा काम कर रही है।

सन् १६१८ ई० में हैदराबाद में **उस्मानिया युनिवर्सिटी** बनी और तय पाया कि उसमें हर विषय की पढ़ाई उर्दू में होगी। साइन्स की पुस्तकों के अनुवाद के लिए एक सस्था बनाई गई। उसका नाम **'दारुल तरजुमा'** रखा गया। इस सस्था ने डाक्टरी, इन्जीनियरिंग और साइन्स के हर विषय पर सैकड़ों पुस्तकों का अनुवाद करके छापा, जिससे उस्मानिया युनिवर्सिटी में इन्जीनियरिंग और डाक्टरी की भी पढ़ाई उर्दू में सभव हो सकी।

दूसरी बहुत-सी और भी सस्थाएँ हैं जो काम कर रही हैं, लेकिन सबके नाम और काम को दुहराना कठिन है, इसलिए उन्हें छोड़ता हूँ।

उर्दू में नाटक कुछ नाटक कपनियों तक ही घिरकर रह गये। इसलिए, बहुत ज्यादा तरक्की नहीं कर सके। फिर भी विनायक प्रसाद तालिब, मुहम्मद अहसन, नारायण प्रसाद बेताब

बेताब, आगा हश्र, अब्दुल माजिद दरियाबादी, इम्तेयाज अली ताज और उपेन्द्रनाथ अश्क ने अच्छे ड्रामे उर्दू को दिये हैं। नाविलों के सिलसिले में मुहम्मद अली, अब्दुल अलीमशरर, मुन्शी ज्वाला प्रसाद बर्क, मिर्जा सईद, अजीज अहमद, प्रेमचन्द और सुदर्शन के नाम लिये जा सकते हैं।

बीसवीं सदी में राष्ट्रीय जागरण के कारण देश के कोने कोने से उर्दू-पत्र और पत्रिकाएँ निकलीं और साहित्य में नये-नये विचार और भाव आने लगे। सन् १९३६ ई० में पंडित नेहरू, सज्जाद जहीर, मौलवी अब्दुल हक और मुन्शी प्रेमचन्द के दस्तखत में एक घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ। उसमें कहा गया था कि देशी भाषाओं में अबतक जितना कुछ भी हुआ है, वह काफी नहीं है। लेखकों और कवियों को देश में बहनेवाली धाराओं को समझना और उनके अनुसार जनता के लिए लिखना चाहिए। इसी घोषणा-पत्र के अनुसार लखनऊ में एक कान्फ्रेंस हुई, जिसके सभापति मुन्शी प्रेमचन्द थे और उसी अवसर पर प्रगतिशील लेखक-संघ की नींव पड़ी। उर्दू के लेखकों ने उससे बड़ा लाभ उठाया। दूसरी भाषाओं के लेखकों और कवियों के सम्पर्क से उर्दू का नया साहित्य बड़ा जानदार हो गया। उस समय बहुत-से नये लेखक चमके, जिनमें कृष्णचन्द्र, राजेन्द्र सिंह बेदी, हयातुल्लाह अन्सारी, सआदत हसन मण्टो, उपेन्द्रनाथ अश्क, अख्तर उरेनवी, इस्मत चुगताई, कवियों में असरारुल हक मजाज, जाँनिसार अख्तर, राज बलदेव राज, रघुपति सहाय फिराक, साहिर लुधियानवी, फज अहमद फज, आलोचकों में मालिक राम, आले अहमद सरूर, एहतेशाम हुसन और एबादत ब्रेलवी ने बड़ा नाम कमाया।

देश के बँट जाने से उर्दू की तरक्की को बड़ा झटका-सा लगा, पर यह झटका थोड़े दिनों के लिए है और अब हालत दुरुस्त होती जा रही है। पाकिस्तान में भी अंजुमने तरक्की-ए-उर्दू काम कर रही है। उर्दू-कॉलेज खोला गया है, जिसमें हर विषय की शिक्षा उर्दू में दी जाती है और इस कॉलेज को युनिवर्सिटी बनाने की चेष्टा की जा रही है।

आज उर्दू भारत के कोने-कोने में फैली हुई है। भारत का शायद कोई बड़ा शहर नहीं, जहाँ से उर्दू पत्र और पत्रिकाएँ न प्रकाशित होती हों। बम्बई से १०, देहली से १५, जालंधर से ५, लखनऊ से ३, कानपुर से २, बनारस से १, पटना से २, हैदराबाद से ६, बँगलोर से २ और मद्रास से १ उर्दू पत्रिका निकलती है। देहली की एक मासिक पत्रिका एक लाख से ज्यादा और दूसरी साठ हजार छपती है।

इन सारी बातों को सामने रखते हुए एक बात स्पष्ट रूप में सामने आती है और वह यह कि उर्दू भारत की विशाल भाषा है और स्वतंत्र भारत में इसका भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है।

—सुहैल अजीमाबादी

हिन्दी-भाषा और उसका साहित्य

हिन्दी भाषा और उसका साहित्य किसी एक विभाषा और उसके साहित्य के विकसित रूप नहीं हैं, वे अनेक विभाषाओं और उनके साहित्यों की समष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं। वस्तुतः हिंदी-भाषा उस मध्य-देश की एकाधिक साहित्यिक बोलियों की नदियों का समुद्र है, जिसमें अनेकता ने एकता उपलब्ध कर ली है। एक बहुत बड़े प्रदेश—जिसे चिरकाल से मध्य देश कहा जाता रहा है—की अनेक बोलियों के ताने-बाने से बुनी हुई यही एक ऐसी आधुनिक भारतीय भाषा है, जिसने अनजाने और अनौपचारिक रीति से, देश की ऐसी व्यापक भाषा बनने का प्रयास किया था जैसी संस्कृत रहती चली आई थी, किंतु जिसे किसी नवीन भारतीय भाषा के लिए अपना स्थान तो रिक्त करना ही था।

हिन्दी-भाषा

'षड्भाषा पुराणं च कुराणं कथितं मया' का दावा करनेवाले कवि चंद ने संस्कृत तथा इस्लाम से संबद्ध भाषाओं के अतिरिक्त किन छह भाषाओं का संकेत किया है, यह निश्चित नहीं है, किंतु यह सहज अनुमेय है कि वे डिंगल या पिंगल में लिखने के बदले एक ऐसी भाषा में लिखने का प्रयत्न कर रहे थे जो अधिक-से-अधिक भारतीय भाषा-क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व कर सके। जिन अन्य विभाषाओं के कवियों ने अपने सामने यह आदर्श रखा, वे ही हिंदी के कवि माने गये, जिन्होंने विभाषा-विशेष की सीमा का अतिक्रमण नहीं किया वे लोक-भाषा मात्र के कवि रह गये। उदाहरणार्थ, अवधी में लिखनेवाले जायसी और तुलसी, भोजपुरी क्षेत्र के कबीर, व्रजभाषा के कवि सूर या मैथिली के विद्यापति, हिंदी के कवि इसलिए हैं कि इनकी अवधी, भोजपुरी, व्रजभाषा या मैथिली भाषा-विज्ञान की दृष्टि से ही तत्-तत् भाषाएँ हैं, साहित्यिक भाषाओं की कसौटी पर वे एक श्रेणी की सिद्ध होती हैं। ये और इन्हीं जैसी अन्य अनेक बोलियाँ ही वे धाराएँ हैं, जिनसे हिन्दी का सागर निर्मित हुआ है—उसमें खड़ी बोली उससे अधिक नहीं, जितनी उपर्युक्त कवियों की अवधी में अवधी, भोजपुरी में भोजपुरी, व्रजभाषा में व्रजभाषा या मैथिली में मैथिली।

अनेकता में एकता की विशिष्टता के लिए उल्लेख्य भारतीय संस्कृति के अनुरूप ही उसकी अभिव्यक्ति का व्यापक नवीन माध्यम वह भाषा है, जिसे हिन्दी कहते हैं। शौरसेनी-प्राकृत तथा उससे संबद्ध अपभ्रंशों से विकसित यह हिंदी तत्सम और अर्द्धतत्सम के अधिकाधिक प्रयोग से अपनी भाषा-वैज्ञानिक सीमा का अतिक्रमण करती गई है, अनेक भाषा वैज्ञानिकों के मतानुसार मैथिली क्या, भोजपुरी और मगही आदि विभाषाएँ भी हिंदी के अंतर्गत नहीं आतीं, किंतु साहित्यिक तथा परिनिष्ठित हिन्दी की परिधि से ये बाहर नहीं हैं, यह सर्वथा स्पष्ट है।

यही कारण है कि आठवीं-नवीं शताब्दियों के अनेक बौद्ध-सिद्ध आधुनिक मगही के क्षेत्र में रहते हुए भी उस साहित्यिक अपभ्रंश का प्रयोग करते हैं जिसका, राहुल सांकृत्यायन के मतानुसार, हिंदी से निकटतम सबंध है। इसी प्रकार विद्यापति की मैथिली तत्सम के बाहुल्य के कारण और कबीर की भोजपुरी अन्य अनेक विभाषाओं के सम्मिश्रण के फलस्वरूप मैथिली या भोजपुरी-मात्र न रह कर हिन्दी में मिल जानेवाली धाराएँ बन जाती हैं। और, इस साहित्यिक संबंध के अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि यदि इन विभाषाओं में से एक-दो कुछ दृष्टियों से बँगला के समीप हो भी, तो यह आंशिक भाषावैज्ञानिक सत्य-मात्र है। यदि बँगला और इन बोलियों को क्रिया-पदों की समानता के आधार पर एक वर्ग में रखा जाता है तो सत्य का यह भी अंश है कि कुछ बातों में इन बोलियों का हिन्दी की बोलियों के वर्ग के साथ स्पष्ट साम्य है, उदाहरणार्थ, सबंध कारक के चिह्न का निर्देश पर्याप्त है, यदि बँगला में रामेर होता है तो मैथिली, भोजपुरी आदि में रामक, रामके, और यह महत्त्वपूर्ण वैषम्य है।

इस विविधतापूर्ण भाषा का साहित्य भी अतिशय विविधतापूर्ण है, यद्यपि दोनों में ही अंतर्व्याप्त अविच्छिन्नता भी है। इस साहित्य का आरंभ १००० ई० से होता है, किंतु प्रायः दो शताब्दी पूर्व से ही इसका प्रारंभ माना जा सकता है, जब अपभ्रंश भाषाएँ द्रव-स्थिति में थीं और आधुनिक भारतीय भाषाओं में नवीन रूप ग्रहण करने लग गई थीं। इस संधि-काल में अपभ्रंश-भाषा में रचित साहित्य परवर्ती वृक्ष का बीज-रूप है।

हिन्दी-साहित्यः उद्भव

अपभ्रंश-भाषा में रचित जैन-धर्म से संबद्ध साहित्य सबसे पहले उल्लेख्य है। इस वर्ग के काव्यों में ऐसे भी अनेक कवियों का उल्लेख है जिनकी रचनाएँ आज प्राप्य नहीं हैं, किंतु जिनका सुलभ हैं, उनसे इसका महत्त्व सहज अनुमेय है। अनुमानतः आठवीं शताब्दी के स्वयंभू की चार कृतियाँ, पउम चरिउ, रिट्ठणेमि चरिउ, पंचमी चरिउ तथा स्वयंभूछंद, संप्रति प्राप्य हैं। अंतिम कृति में अनेक अन्य कवियों के छंद, उदाहरण-रूप में, संगृहीत हैं। इस प्रसंग में दूसरे उल्लेखनीय कवि हैं पुष्पदंत, जिनकी तीन कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। हिन्दी के साहित्यिक इतिहास-कारों ने जिन पुष्प या पुष्प कवि का, इस भाषा के प्रथम कवि के रूप में, स्मरण किया है, वे पुष्पदंत हो सकते हैं, ऐसी कुछ विद्वानों की मान्यता है। इस वर्ग के अनेक अन्य चरित-काव्य अब प्रकाश में आ गये हैं, उदाहरणार्थ, दसवीं शती की भविसयत्त कहा, ग्यारहवीं का सुदर्शनचरिउ, बारहवीं का करकंडु चरिउ, तथा और भी बाद के पज्जुण्ण चरिउ, सुकुमाल चरिउ आदि। इन चरित-काव्यों का परभावी हिंदी चरित-काव्यों पर स्पष्ट प्रभाव है। इनके अतिरिक्त आठवीं अथवा नवीं शती के जोइंदु और दसवीं के रामसिंह के प्राप्त दोहे परवर्ती नाथ और संत-साहित्य के अनेक स्रोतों में एक हैं, और ग्यारहवीं शती के हेमचंद्र तथा बारहवीं के मेरुतुंग के द्वारा संगृहीत छंदों में बाद की शृंगारिक, नीति-विषयक और वीर-रस की रचनाओं के बीज मिलते हैं।

जैन-साहित्य

संधि काल की यह पहली साहित्यिक धारा है। दूसरी वह है, जिसका श्रेय वज्रयानी बौद्ध सिद्धों को है, जिनकी संख्या परंपरया चौरासी मानी जाती है और जिनमें प्रमुख हैं सरहपा, शबरपा, भूसुकपा, लुइपा, विरूपा, डोंबिपा, दारिकपा, गुंडरिपा तथा कण्हपा। इनका समय आठवीं-नवीं शती है और इन तथा कुछ अन्य सिद्धों की ही रचनाएँ आज प्राप्य हैं।

बौद्ध-साहित्य

यदि प्राचीन हिन्दी में निबद्ध जैन साहित्य प्रायश मध्यदेश की पश्चिमी सीमा पर रचित हुआ था तो यह बौद्ध-साहित्य उसकी पूर्वीय सीमा पर। यदि दोनों में प्रादेशिक भाषा-तत्त्व लक्षित होते हैं, तो यह भी सत्य है कि उनमें विस्मयजनक साम्य भी है। इसका संतोष-जनक समाधान राहुल जी ने हाल में ही प्रस्तुत किया है। उनके मतानुसार कन्नौज के आसपास की अपभ्रंश-भाषा ही, हिन्दी क्षेत्र में, इस युग की परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा थी, इसी के फलस्वरूप हिन्दी-क्षेत्र की दूरवर्त्ती सीमाओं के साहित्यों में भी भाषा-साम्य वर्त्तमान है।

नाथ साहित्य

नवीं-दसवीं शताब्दियों में मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ के द्वारा प्रवर्त्तित नाथ-संप्रदाय का बौद्ध-सिद्धों के संप्रदाय से बड़ा ही घनिष्ठ संबंध था, जैसा दोनों संप्रदायों की गुरु-परंपराओं की अंशतः मिलती-जुलती तालिकाओं से सिद्ध है। दोनों के सिद्धान्तों और उनकी अभिव्यंजना-पद्धति में भी, गुरु के महत्त्व, योग, सहज साधना तथा उलटवासियों और प्रतीकों की दृष्टि से, स्पष्ट समानताएँ हैं। किन्तु, नाथ-पंथ की अपनी विशिष्टता भी है। उसमें सिद्ध संप्रदाय के विपरीत आचार की शुद्धता, संयम, वैराग्य, मद्य मांसादि के निषेध पर जोर दिया गया है, जो परभावी संत-संप्रदाय को इसी स्रोत से प्राप्त हुए। संस्कृत तथा हिन्दी में जो नाथ-पंथी साहित्य आज उपलब्ध है, उसका लिखित रूप बहुत प्राचीन नहीं है, अत उसके प्रामाणिक अंशों का निर्धारण विशेष अवधान की अपेक्षा रखता है।

आदि-काल

दसवीं शताब्दी के अंत तक अपभ्रंश की नवीन भाषा रूप ग्रहण करने की प्रक्रिया प्राय पूरी हो चुकी थी और ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारंभ के साथ हिन्दी-साहित्य के उस आदि-काल का प्रारंभ माना जा सकता है, जिसकी समाप्ति चौदहवीं शताब्दी के अंत के साथ होती है। इस अवधि में एक तो जैन, बौद्ध तथा नाथ-संप्रदायों से संबद्ध साहित्य है, जिसकी परवर्त्ती कृतियों का भी उल्लेख पहले ही किया जा चुका है, और दूसरा वह है, जिसकी प्राप्त कृतियों को, हिन्दी साहित्येतिहास के प्रारंभिक लेखकों ने वीर-गाथा के नाम से अभिहित किया था। संप्रदायेतर कृतियों तथा वीर-गाथाओं के अतिरिक्त अन्य प्रकार की रचनाएँ भी इस काल में मिलती हैं।

पूर्व परंपराएँ

वीर-गाथाओं में उल्लेख्य हैं दलपति विजय का खुमान रासो, नरपति नाल्ह का

वीसलदेव रासो, भट्ट केदार का जयचन्द्र प्रकाश, मधुकर कवि-रचित जयमयंक जसचन्द्रिका, शार्ङ्गधर का हम्मीर रासो, नल्लसिंह का विजयपाल रासो, चन्द बरदाई

वीर-गाथाएँ

का पृथ्वीराज रासो, जगनिक का परमाल रासो तथा श्रीधर का रणमल्ल छंद आदि। इन वीर-गाथाओं—विशेषतः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति पृथ्वीराज रासो—के प्राप्य वर्त्तमान रूप की प्रामाणिकता विवादास्पद है। किन्तु, इनके साहित्यिक महत्त्व पर विचार करने के बदल इनकी प्रामाणिकता पर विचार करते रह जानेवाले यह भूल जाते हैं कि इस प्रकार की 'परंपरागत वीर-गाथाएँ' 'साहित्यिक प्रबंध-काव्यों' के विपरीत, लिखित रूप में सर्वत्र केवल अंशतः प्रामाणिक पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ, 'होमारिक समस्या' भी ऐसी ही और कम जटिल समस्या नहीं है, किन्तु इससे होमर की वीर-गाथाओं का साहित्यिक महत्त्व कदापि उपेक्षित नहीं हुआ है। जहाँ तक वीर-गाथाओं के साहित्यिक वैशिष्ट्य का प्रश्न है, आधुनिक चारणों से उनका श्रवण कर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ठीक ही कहा था कि भारतीय भाषाओं में, हिंदी की तरह, भक्ति आदि का तो प्रचुर साहित्य वर्त्तमान है, किंतु वीर-गाथा हिन्दी की महनीय विशेषता है।

अन्य प्रकारों का साहित्य

इस युग में अमीर खुसरो की पहेलियाँ-मुकरियाँ, अब्दुल रहमान का प्रेम-काव्य, संदेश-रासक, विद्यापति की आध्यात्मिक-शृंगारिक पदावली, वीर-गाथाओं से भिन्न श्रेणियों की रचनाओं में, महत्त्वपूर्ण हैं। इनके बावजूद हिन्दी का यह आदि काल, युद्धों के वातावरण के सर्वथा अनुरूप, मुख्यतः वीर-शृंगार-रसप्रधान वीर-गाथा का ही युग है।

पन्द्रवीं शताब्दी के प्रारंभ से हिन्दी का साहित्यिक वायुमंडल बदलने लगा और परिवर्त्तित स्थिति प्रायः सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक बनी रही। इस अवधि में वीर-शृंगार का स्थान

भक्ति-काल

लिया भक्ति-शृंगार ने, क्योंकि हिन्दी-प्रदेश में, प्रतिकूल राजनीतिक परिस्थिति के कारण राज्याश्रय के अभाव में हिन्दी का साहित्यिक विकास अवरुद्ध हो गया था और वह कवियों के बदले भक्तों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनी रही। यदि राज्याश्रय का अभाव साहित्यिक विकास में बाधक हुआ, तो परिस्थिति की माँग थी कि धर्म और दर्शन के प्लावन-कपाट खोल दिये जायँ, ताकि जन जीवन को ऊजर हो जाने से बचाया जा सके। अब तक जो सांस्कृतिक प्राण-धारा संस्कृत की कुल्याओं में प्रवाहित होती थी, वह अकूल लोक-भाषाओं के माध्यम से हिन्दी-क्षेत्र को सींचने लगी। युद्धों में पराजित जाति के सदस्य कहीं व्यक्तिगत जीवन में अपने को निस्सहाय न अनुभव करें, इसलिए वेदांत और भक्ति-शास्त्र, रामायण और भागवत को कबीर, तुलसी और सूर तथा उनके असंख्य अनुयायियों ने सबके लिए सुलभ बना दिया। विदेशियों के बीच ऐसे कुछ सूफी थे, जो खड्ग के बदले प्रेम से विजय प्राप्त करने में विश्वास रखते थे, उन्होंने भी अपना धर्म और दर्शन हिन्दुओं तक उन्हीं की कहानी और भाषा के द्वारा पहुँचाने का प्रयास किया। चूँकि, इस युग में धर्म और दर्शन को जनसाधारण तक पहुँचाना अभीष्ट था, इसलिए उन्हें शास्त्रीय भाषा और रूपों के बदले लोक-भाषाएँ अपनानी पड़ीं और गीत

एव कथा के रूप ग्रहण करने पड़े। रस रहा तो शृंगार ही, किन्तु उसे पुष्ट वीरत्व ने नहीं, अध्यात्म ने किया।

अध्यात्म भारत के लिए कोई नवीन तत्त्व नहीं था, किन्तु पहले जहाँ वह पारिभाषिक संस्कृत में व्यक्त दार्शनिक खंडन-मंडन का विषय था, वहाँ वह अब लोक भाषाओं के छंदों, गीतों तथा रूपों में भक्ति से स्निग्ध-मधुर हो कर, सहज प्रेषणीय और सद्यः ग्राह्य बन गया। दर्शन के इस सामान्यकरण का विरोध निहित स्वार्थों के कारण विशेषज्ञों ने किया होगा, किन्तु इसके लिए सुदृढ बौद्धिक आधार शास्त्रज्ञ आचार्यों ने पहले से ही प्रस्तुत कर रखा था। यदि कबीर और तुलसी को यह रामानंद से मिला, तो सूर को वल्लभ से, तसव्वुफ के भारतीयकरण की परंपरा भी जायसी के पूर्व ही प्रवर्तित हो चुकी थी।

रामानन्द की प्रत्यक्ष प्रेरणा से, किन्तु साथ ही साथ बौद्धों नाथों, वैष्णवों अद्वैतवादियों और सूफियों की परस्पर-विरोधी-सी प्रतीत होने वाली परम्पराओं एवं मान्यताओं के समन्वय के फल-स्वरूप भी, कबीर ने ऊँच नीच, जाँत-पाँत, विधि-निषेध के बंधनों से मुक्त एक ऐसा मानववाद उद्भावित किया, जो समय से बहुत पहले होने के बावजूद, विस्मयजनक रूप में अमोघ सिद्ध हुआ। रैदास, सधना, पीपा, धना आदि अपेक्षया प्राग्भावी तथा दादू, सुन्दर, सिख गुरु, मलूक, अक्षर अनन्य, धरनी, गुलाल, गरीब, दरिया, चरण, शिवनारायण, दयाबाई, सहजोबाई आदि प्राग्भावी संत, अपनी न्यूनाधिक भिन्नताओं के बावजूद, उस निर्गुण-मार्ग के उल्लेखनीय प्रतिनिधि हैं जिसके शीर्ष-स्थान के अधिकारी कबीर हैं। पंथों के रूप में इनमें से अधिकांश की परंपरा अद्यावधि अविच्छिन्न है।

निर्गुण मार्ग

'म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु' और 'गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेषु' 'कृष्ण एव गतिर्मम' में विश्वास रखनेवाले वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ के आठ प्रधान शिष्यों—'अष्टछाप'— ने मुख्यतः जयदेव, विद्यापति, चंडीदास आदि की गीत-शैली में विषयानुरूप मधुर व्रजभाषा में, कृष्ण लीलाओं का वर्णन किया है। सूरदास, कृष्णदास, परमानंद दास और कुंभनदास, तो स्वयं वल्लभ के शिष्य थे और नंददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी और गोविन्दस्वामी विट्ठलनाथ के, ये ही 'अष्टछाप' में परिगणित होनेवाले भक्त कवि हैं। इनके अतिरिक्त मीराबाई, हितहरिवंश, सूरदास, मदनमोहन, नरोत्तमदास, स्वामी हरिदास निपट निरंजन, बलभद्र मिश्र, मुबारक, रहीम, गंग, रसखान, ध्रुवदास आनन्दघन, नागरीदास, अलबेली अलि, चाचा वृन्दावनदास, भागवत रसिक, हठी, सहचरिशरण, गुणमंजरीदास आदि कृष्ण-भक्ति की विभिन्न धाराओं के असंख्य कवियों में उल्लेख्य हैं।

कृष्ण-भक्ति

यदि रामानंद का मानववाद कबीर में मुखरित हुआ था, तो उन्हीं की शिष्य-परंपरा में

परिगणित होनेवाले तुलसीदास ने उनके शास्त्र तथा साहित्य-बोध को भक्ति और कवित्व के योग से उदात्त रूप प्रदान किया। उनका अवधी में रचित प्रबंध 'रामचरित मानस' उनकी श्रेष्ठ कृति है, किन्तु उन्होंने युग-प्रचलित अन्य काव्य-रूपों और भाषाओं में राम के अतिरिक्त कृष्ण पर भी, काव्य लिख कर, अपनी समन्वयवादिता और प्रतिभा का परिचय दिया है। तुलसी के वैदुष्य और कवित्व का अनुकरण संभव नहीं था, अतः रामावत वैष्णव कवि हुए तो अनेकानेक, किंतु विशेष यश या महत्त्व नहीं प्राप्त कर सके। इनमें अग्रदास, नाभादास, प्रियादास, केशवदास उदयराम, प्राणचंद चौहान, लालदास, विश्वनाथ सिंह, रामचरणदास, जीवाराम, बाल अली जू आदि का उल्लेख किया जा सकता है। इनके बीच एक मात्र केशवदास ही ऐसे कवि थे, जो तुलसी की तुलना में हीनतर होते हुए भी वे हिन्दी-साहित्येतिहास के अगले युग के आचार्य-कवियों के बीच, जिन्हें समय की दृष्टि से उन्होंने पूर्वाशित किया था, किसी से कम महत्त्व के नहीं हैं।

राम-भक्ति

भक्ति की इस त्रिवेणी में एक और धारा आ मिली थी, जिसमें इस्लाम से भिन्न होते हुए भी उसका अंगभूत सूफी-मत प्रधान तत्त्व था, यद्यपि आख्यान, छंद, भाषा आदि के अन्य तत्त्व सर्वथा भारतीय थे। प्रेमाख्यान के व्याज से तसव्वुफ के सिद्धांतों को लोकप्रिय बनाने का यह प्रयास बड़ा ही व्यापक था। इस धारा के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कवि पद्मावत के प्रणेता जायसी के पूर्ववर्त्तियों में मुल्ला दाऊद, कुतबन, मंझन आदि और परवर्त्तियों में उस्मान, जान कवि, कासिम शाह, शेख निसार प्रभृति उल्लेख के योग्य हैं। धरणीदास और दुखहरन-जैसे संतों ने भी कुछेक प्रेमाख्यानमूलक काव्यों की रचना की है। इस युग में एक और प्रकार के प्रेमाख्यान की भी परंपरा प्रचलित थी, जिसमें लौकिक प्रेम का ही वर्णन पाया जाता है। इस श्रेणी के प्रतिनिधि कवि हैं कुशललाभ, छीहल कवि, सुमति हंस, निगम कायस्थ, मुरली, हरसेवक मिश्र, भद्रसेन, प्रताप कुँवर और काशीराम आदि।

सूफियों की प्रेमाश्रयी धारा

यों तो भक्ति की विभिन्न धाराओं से प्रभावित साहित्य का निर्माण बाद में भी होता रहा, किंतु सोलहवीं शताब्दी के मध्य में हम हिन्दी को धर्म, दर्शन, भक्ति या वीर-चरित के वर्णन के अतिरिक्त शुद्ध साहित्य का माध्यम बनने के लिए सचेष्ट पाते हैं। इस युग के कवि भी 'राधिका-गोविंद का 'सुमिरन' करके ही काव्य की रचना में प्रवृत्त होते हैं—वस्तुतः साधारणतया ये ही उनके काव्य के आलंबन हैं—किंतु उनकी महत्त्वाकांक्षा यह अवश्य है कि 'आगे के सुकवि' उनकी 'कविताई' पर रीझें। हिन्दी अब इतनी समृद्ध हो चुकी थी कि 'शिवेतरक्षति' के अतिरिक्त यश और अर्थ की भी कामना उसके कवि कर सकते थे। इस युग में हिन्दी के कवियों ने संस्कृत के विशाल साहित्य-शास्त्र का सार सर्वस्व तो प्रस्तुत किया ही, साथ-ही-साथ, उदाहरणों के रूप में, असंख्य चमत्कारपूर्ण पद्य भी रचे। एक साथ ही आचार्य और कवि के कर्त्तव्यों के सफल निर्वाह के लिए सचेष्ट इन कवियों के संबंध में यह स्मरण रखना चाहिए कि इसकी परंपरा संस्कृत में भी थी और इस युग के आरम्भ के कुछ पूर्व कविराज जगन्नाथ के द्वारा वह पराकाष्ठा को पहुँचाई जा चुकी थी, जिनका दावा था कि 'कस्तूरिका-जनन-शक्ति से संपन्न मृग सुमनों

रीति-काल

की सुगंध का सेवन मन से नहीं कर सकता' और इसीलिए जिन्होंने रस-गंगाधर में स्व-रचित उदाहरण ही दिये थे। अन्य भारतीय भाषाओं में भी, इस युग में, या कुछ पहले, कुछ बाद, साहित्य-शास्त्र-विषयक कृतियाँ पाई जाती हैं, किंतु साहित्यिक क्षेत्र में हिन्दी को संस्कृत का समकक्ष तथा स्वयं-पूर्ण बनाने का यह प्रयास प्रकारतः एवं परिमाणतः विलक्षण था।

यों तो भक्ति-काल में ही केशवदास, रहीम, नंददास, सेनापति, कृपाराम प्रभृति ने साहित्य-रीति-विषयक काव्य के प्रणयन का आरंभ कर दिया था, किंतु समय तथा प्रवृत्ति दोनों ही दृष्टियों से रीति-काल के प्रतिनिधि कवि हैं चिंतामणि, भूषण, मतिराम, जसवंत सिंह, बिहारी, मंडन, भिखारीदास, कुलपति, कालिदास, नेवाज, सुखदेव, श्रीधर, सूरति मिश्र कवींद्र उदयनाथ, श्रीपति, देव, मणिलाल, गंजन, सोमनाथ, रूपसाहि, रतन कवि, जनराज थान कवि, गुरुदीन, 'रसलीन', दूलह, बंदीजन बेनी, द्विजदेव, बेनी प्रवीन, पद्माकर, ग्वाल, बोधा, ठाकुर, प्रतापसाहि आदि। इन कवियों ने साहित्यांगों के संक्षिप्त लक्षण देते हुए—बिहारी प्रमुख अपवाद हैं—उनके स्व-रचित उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। चूँकि प्राय सभी कवियों ने रस में शृंगार को ही विशेष महत्त्व दिया है—भूषण प्रसिद्ध अपवाद हैं—अतः हिन्दी के कुछ साहित्येतिहासकार इस युग को शृंगार-काल कहना पसंद करते हैं। रीति-काल में, युग की प्रधान प्रवृत्तियों से अप्रभावित रह कर वृंद, बैताल गिरिधर कविराय आदि ने नीति और उपदेश की लोकप्रिय रचनाएँ कीं तथा पुहकर, लाल कवि, जोधराज, सूदन, गोकुलनाथ, गोपीनाथ, मणिदेव, महाराज विश्वनाथ सिंह आदि ने प्रबंध-काव्यों का निर्माण किया।

ब्रजभाषा में साहित्य-रीतिविषयक तथा शृंगार-रस-प्रधान काव्य की रचना बीसवीं शताब्दी के आरंभ तक होती रही, किंतु उसका उत्कर्ष-काल अट्ठारहवीं शताब्दी के अंत तक ही माना जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ के कुछ पूर्व से ही हिन्दी, पद्य की भाषा के रूप में पुष्ट और विकसित हो लेने के बाद, गद्य की भाषा के रूप में भी समृद्ध होने को सचेष्ट दीख पड़ती है। मैथिली, राजस्थानी, गोरखपंथी, ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली गद्य की जो अपरिणत गद्य-परंपराएँ वर्त्तमान थीं, उनमें से अंतिम ही सर्वाधिक व्यापक और सक्षम सिद्ध हुई और स्वतंत्र रूप से तथा विदेशी शासन का प्रश्रय पा कर वह शीघ्र ही सर्वाङ्गपूर्ण बन गई। खड़ी बोली के प्रारंभिक गद्य-लेखकों में अट्ठारहवीं शताब्दी के रामप्रसाद निरंजनी और दौलतराम तथा उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में इंशाअल्ला खाँ, सदासुखलाल, लल्लूलाल तथा सदल मिश्र, और राजा राममोहन राय महत्त्वपूर्ण हैं। विदेशी शासकों ने फोर्ट विलियम कॉलेज, आगरा-कॉलेज, कलकत्ता बुक सोसायटी तथा पादरियों के माध्यम से हिन्दी के विकास में योग-दान किया तो अवश्य, किंतु बाद में हिन्दी-उर्दू का जो विवाद इतना जटिल बन गया, उसका सूत्रपात भी इन्होंने ही किया। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही उदंत मार्त्तण्ड, बंग-दूत, प्रजामित्र, बनारस, मार्त्तण्ड आदि समाचार पत्र प्रकाशित होने लगे थे, जिनके कारण हिन्दी गद्य का द्रुत विकास संभव हो सका। सन् १८५७ ई० के भारतीय विद्रोह के बाद शिक्षालयों तथा न्यायालयों के माध्यम के रूप में हिन्दी को अपेक्षित स्थान नहीं मिला और

उसे बहुत दिनों तक राज्याश्रय से वंचित रहकर अपनी प्राणवत्ता और उपादेयता बढ़ानी पड़ी।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रारंभ में राजा शिव प्रसाद सितारे-हिन्द और राजा लक्ष्मण सिंह ने हिंदी-गद्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इनमें प्रथम ने हिंदी-गद्य को उर्दू से अभिन्न सिद्ध करने के प्रयत्न में उसे कृत्रिम और विकलांग बना डाला, किंतु दूसरे ने उसका प्रकृत और शोभन रूप प्रवर्त्तित किया। इनके साथ-ही-साथ ब्राह्म-समाजी नवीन चंद्र राय, श्रद्धाराम फुलौरी, आर्य-समाज के संस्थापक दयानन्द आदि तथा अनेक समाचार-पत्रों ने हिंदी के प्रचार तथा उसके गद्य के परिमार्जन में योग दिया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिंदी-गद्य को भारतेंदु ने अपने नाटकों, निबंधों, टिप्पणियों आदि के लिए प्रयुक्त कर उसे उच्च साहित्यिक स्तर पर उन्नत किया।

प्राग्भारतेंदु-युग हिन्दी-गद्य की विकास-प्रक्रिया के अध्ययन की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण है; काव्य के क्षेत्र में रीति-काल प्रलंबित था। ऐसा काव्य अमर्यादित शृंगार, सस्ती चमत्कारिता, विषय के पिष्ट-पेषण और कृत्रिम शब्दावली के कारण, प्राचीनता-प्रेमियों का प्रश्रय पाकर भी आखिरी साँस ले रही थी।

भारतेंदु-युग

भारतेंदु ने अपनी बहुपथीन मतिमत्ता और असाधारण व्यक्तित्व से अनेक मेधावी साहित्यकारों का अनौपचारिक संघटन किया और रोचक तथा ज्ञानवर्द्धक साहित्यिक पत्रिकाओं एवं सामाजिक चेतना से युक्त काव्य, नाटक, उपन्यास, लघु-कथा, निबंध आदि के प्रकाशन की प्रेरणा दे कर हिन्दी के आधुनिक साहित्य को सर्वांङ्गपूर्ण बनाया। प्रताप-नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, जगमोहन सिंह, बद्रीनारायण चौधरी, श्रीनिवास दास, अम्बिकादत्त व्यास, सुधाकर द्विवेदी, राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्णदास, बाबू तोताराम, मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या आदि भारतेंदु-युग के प्रसिद्ध लेखक हैं।

भारतेंदु-युग में हिन्दी का विकास तो हुआ ही, प्रसार भी अत्यधिक हुआ। फलतः भाषा में अव्यवस्था आ गई और पद्य के लिए ब्रजभाषा तथा गद्य के लिए खड़ी बोली के प्रयोग से जो समस्या बनी हुई थी, उसका समाधान भी न हो सका। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सन् १६०३ ई० में 'सरस्वती' के संपादन के आरंभ से ही दृढ़तापूर्वक हिन्दी की इन त्रुटियों का मार्जन शुरू किया और उन्हें इस कार्य में पूरी सफलता भी मिली। इस युग में खड़ी बोली में काव्य-रचना करनेवालों में अग्रगण्य थे श्रीधर पाठक, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', स्वयं द्विवेदी जी, मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित्र उपाध्याय, लोचन प्रसाद पांडेय, रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पांडेय आदि। राय देवीप्रसाद पूर्ण नाथूराम शर्मा 'शंकर', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', सत्यनारायण 'कविरत्न' लाला भगवान दीन, जगन्नाथदास रत्नाकर, रघुवीर नारायण प्रभृति कवि भी इस युग में वर्त्तमान थे, यद्यपि इनमें से कम से-कम दो, 'रत्नाकर' और सत्यनारायण, भक्ति तथा रीति-काव्य की काव्य-शैलियों के अन्तिम उल्लेखनीय कवि माने जा सकते हैं, और शेष प्राचीन तथा नवीन शैलियों के प्रति द्विधा-विभक्त आस्था रखनेवाले कवि।

द्विवेदी-युग

इस युग में नाटकों का विशेष विकास नहीं हुआ। अधिकतर संस्कृत, बँगला और अँगरेजी के प्रसिद्ध नाटक ही अनूदित हुए। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, जयशंकर 'प्रसाद', प्रेमचन्द,

सुदर्शन और कौशिक ने इन्हीं दिनों उत्कृष्ट मौलिक कहानियाँ लिखीं और प्रेमचन्द के कुछ उपन्यास भी प्रकाशित हुए।

द्विवेदी-युग साहित्य तथा साहित्येतर विषयों पर लिखनेवाले जिन विद्वानों की कृतियों के कारण विशेष महत्त्व का अधिकारी है, उनमें मुख्य हैं—रामावतार शर्मा, काशीप्रसाद जायसवाल, बालमुकुन्द गुप्त, देवीप्रसाद 'पूर्ण', जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, पद्मसिंह शर्मा, रामचद्र शुक्ल, लाला भगवान दीन, मिश्रबंधु, आदि।

हिन्दी साहित्य के वर्त्तमान काल का आरंभ द्विवेदी जी के प्रभाव की समाप्ति के साथ माना जा सकता है। इस काल में हिन्दी का विस्मयजनक विकास हुआ है। बँगला के

वर्त्तमान-काल

रवीन्द्रनाथ तथा अँगरेजी के रोमानी कवियों एवं भारतीय दर्शन तथा संस्कृत-हिंदी के प्राचीन काव्यों से प्रेरणा पा कर जयशंकर 'प्रसाद', सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा, मोहनलाल महतो 'वियोगी', केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', जानकीवल्लभ शास्त्री ने ऐसा काव्य लिखा जिसे छायावादी-रहस्यवादी काव्य के नाम से अभिहित किया गया। इसी अवधि में माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' रामधारी सिंह दिनकर' प्रभृति ने राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित ओज पूर्ण कविताएँ भी लिखीं। हिन्दी मे प्रगतिवाद के नाम से मार्क्सवाद से प्रभावित काव्य भी रचा गया है, और प्रयोगवाद तथा प्रपद्यवाद के अभिधान से ख्यापित उसकी आधुनिक प्रवृत्तियाँ कविता मात्र की आधुनिक प्रवृत्तियाँ हैं।

इस अवधि में 'प्रसाद' से प्रारंभ होनेवाली हिंदी की आधुनिक नाट्य-परंपरा कृपानाथ मिश्र, लक्ष्मीनारायण मिश्र, रामकुमार वर्मा, उपेंद्रनाथ 'अश्क', रामवृक्ष बेनीपुरी और जगदीशचद्र माथुर के नाटकों में परिपूर्णता प्राप्त कर रही है। प्रेमचद, 'प्रसाद', व्रजनन्दन सहाय, 'उग्र', शिवपूजन सहाय, राधिकारमण सिंह, जैनेन्द्र, वृंदावनलाल वर्मा, 'अज्ञेय', यशपाल, प्रभृति हिन्दी के वर्त्तमान युग के महनीय उपन्यासकार और कथाकार हैं।

मध्य शताब्दी के हिन्दी साहित्य ने साहित्यालोचन तथा शोध के क्षेत्रों में इयत्तया और ईदृक्तया विलक्षण प्रगति की है। बडथ्वाल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, माताप्रसाद गुप्त, नगेन्द्र आदि ने शोध-कर्त्ताओं के रूप में और लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', नंददुलारे वाजपेयी, रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, केसरी कुमार, जानकीवल्लभ शास्त्री, नरेश तथा जगदीश पाण्डेय ने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में यश अर्जित किया है।

हिन्दी-साहित्य जहाँ स्वतंत्र सरणियों पर अग्रसर हो रहा है, वहीं उसने भारतीय तथा विदेशी भाषाओं की उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियों के अनुवादों से अपना भाण्डार समृद्ध किया है और इस दिशा में अधिकाधिक कार्य हो रहा है। इस दृष्टि से वह अँगरेजी से तुलनीय है, जिसमें जहाँ से, जो भी अच्छा मिल जाता है, उसे आदर के साथ ग्रहण करने की असाधारण रुचि पाई जाती है।

—नलिनविलोचन शर्मा

———

निबंधकार-परिचय

१—पंडित केदारनाथ शर्मा सारस्वत

श्री सारस्वतजी का जन्म फाल्गुन-शुक्ल चतुर्दशी (संवत् १९६०), तदनुसार १२ मार्च (सन् १९०३ ई०) को काशी में हुआ। आपके पितामह प० नित्यानन्दजी मीमांसक काशी के प्रसिद्ध मीमांसक और वेदान्ती थे। आपके पिता पं० पद्मनाभ शास्त्री भारत-प्रसिद्ध तार्किक विद्वान् हुए।

सारस्वतजी का मुख्य विषय साहित्य और दर्शन रहा है। दर्शन-शास्त्र का अध्ययन तो आपने अपने पिता और पितामह से किया पर साहित्य का अध्ययन महामहोपाध्याय प० रामावतार शर्मा, डॉ० प्रमथनाथ भट्टाचार्य तर्क-भूषण तथा महामहोपाध्याय पंडित देवीप्रसाद शुक्ल कवि चक्रवर्ती से किया।

सन् १९२१ ई० में आपने असहयोग-आन्दोलन के कारण विश्वविद्यालय का अध्ययन छोड़कर संस्कृत-छात्र-समिति का संघटन किया तथा आन्दोलन में भाग लिया। आपने सन् १९२३ ई० से हिन्दू-विश्वविद्यालय की 'रणवीर संस्कृत-पाठशाला, में अध्यापन-कार्य आरम्भ किया। इसके पश्चात् संस्कृत-साहित्य-समाज, काशी विद्वन्मण्डल आदि संस्थाओं की आपने स्थापना की और काशी से प्रकाशित होनेवाले अलङ्कृत 'सुप्रभातम्' नामक संस्कृत मासिक पत्र का दस-पन्द्रह वर्षों तक सम्पादन किया। 'सनातनधर्मोदय' हिन्दी पाक्षिक पत्र तथा 'जगद्गुरु' नामक पाक्षिक पत्र का भी आपने सम्पादन किया था।

आयुर्वेद का अध्ययन आपने स्वतंत्र रूप से किया है। आपने 'आयुर्वेद सम्मेलन-पत्रिका' 'वनौषधि', 'आयुर्वेद' आदि पत्रों तथा 'रसायन-सार', 'नाडी-तत्त्व-दर्शन' आदि ग्रंथों का सम्पादन किया था। काशी राजकीय संस्कृत महाविद्यालय की शोध-पत्रिका 'सरस्वती सुषमा' का भी आपने सम्पादन किया था। राजशेखर-कृत 'काव्य-मीमांसा' का आपने हिन्दी-अनुवाद किया है, जो बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् से प्रकाशित है।

आपने देश-विभाजन के बाद राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन के साथ अखिल भारतीय संस्कृति-सम्मेलन की स्थापना की है। उक्त सम्मेलन की त्रैमासिक पत्रिका 'भारतीय संस्कृति' के आप प्रधान सम्पादक हैं। इधर आपने ४० वर्षों की प्राचीन संस्था, अखिल भारतीय संस्कृत-साहित्य-सम्मेलन, के संचालन का कार्य अपने हाथों में लिया है। उसके आजकल आप महामंत्री हैं और उसके मुखपत्र 'संस्कृत-रत्नाकर' के सम्पादक भी हैं।

२—श्री एम्० सुब्रह्मण्यम् 'साहित्यरत्न'

आपका जन्म दक्षिणी-स्मार्त्त ब्राह्मण-परिवार में १८ अगस्त, (सन १९१८ ई०) को हुआ था। पिता तंजावूर जिले (मद्रास) के 'मरुवूर' गाँव के निवासी थे और अध्यापन कार्य करते थे। आपकी सामान्य शिक्षा मद्रास-विश्वविद्यालय की इण्टरमीडियेट कक्षा तक हुई। 'दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार-सभा' द्वारा संचालित हिन्दी-विद्यालयों में अध्ययन किया और उक्त सभा की उच्चतम परीक्षा 'राष्ट्रभाषा-प्रवीण' तथा 'प्रचारक परीक्षा' में उत्तीर्ण हुए। आपने कुछ महीने स्वतंत्र रूप से हिन्दी-प्रचार और कुछ महीने अखिल भारतीय चर्खा-संघ में खादी-प्रचार का काम किया। तत्पश्चात् १ दिसम्बर, १९४१ ई० से दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार-सभा की शाखा, तमिलनाडु-हिन्दी प्रचार-सभा (तिरुच्चिरापल्ली) के कार्यकर्त्ता नियुक्त हुए। करूर, तिरुची आदि स्थानों में हिन्दी-प्रचार करने के पश्चात् 'नीलगिरि' के विशारद विद्यालय और तिरुची तथा तिरूवनन्तपुरम् प्रशिक्षण विद्यालय में सन् १९४६ ई० से १९५१ ई० तक कार्य किया। बाद में आप डालमिया छात्रवृत्ति से लाभ उठाकर हिन्दी की उच्च शिक्षा प्राप्त करने आगरा गये और साहित्य सम्मेलन (प्रयाग) की साहित्य रत्न-परीक्षा में उत्तीर्ण हुए।
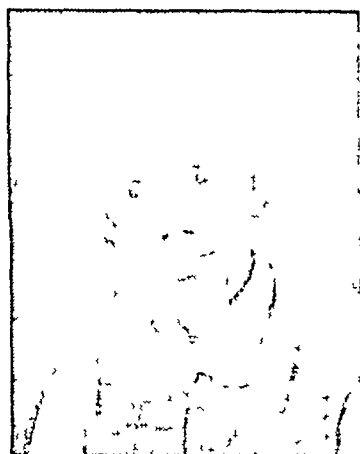
पश्चात् आपने अखिल भारतीय हिन्दी-परिषद् की ओर से आगरा में संचालित पारंगत-विद्यालय में लगभग दो वर्ष तक व्यवस्थापक और अध्यापक का कार्य किया। कुछ दिन संगठनकर्त्ता के रूप में कटक (उड़ीसा) के हिन्दी प्रशिक्षण-शिविर के संचालक रहे। मणिपुर (आसाम) के प्रशिक्षण-शिविर में भी कुछ दिनों तक पढ़ाने का कार्य किया। इसके अतिरिक्त 'नवभारत टाइम्स' (बम्बई), साप्ताहिक हिन्दुस्तान' (दिल्ली), 'साहित्य सन्देश', (आगरा), 'राष्ट्रभाषा-पत्र' (उड़ीसा), 'हिन्दी-प्रचार-समाचार' (मद्रास), 'दक्षिण-भारत' (दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार सभा का पत्र) आदि में आपके साहित्यिक और हिन्दी-प्रचार-संबंधी-लेख और अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दी से तमिल में अनुवाद करने की अपेक्षा तमिल से हिन्दी में अनुवाद करने के कार्य को अधिक पसन्द किया है और करते आ रहे हैं।

३—डॉक्टर जी० वी० सीतापति

आप सन् १९११ ई० से सन् १९३२ ई० तक अध्यापक थे। सन् १९३१-३२ ई० में आन्ध्र-विश्वविद्यालय की ओर से आदिवासियों के लोक-गीतों की स्वर-लिपि के सम्बन्ध मे खोज करते रहे। सन् १९३३ ई० में, तेलुगु-भाषा के प्रतिनिधि होकर लन्दन की पार्लमेंटरी कमिटी के समक्ष जो शिष्टमंडल गया था, उसके साथ आप भी गये थे। सन १९४० ई० में तेलुगु मासिक पत्रिका 'भारती' के आप सम्पादक थे। आप तेलुगु-विश्वकोष के प्रमुख संकलनकर्त्ता एवं सम्पादक भी थे। 'स्वर-गान', 'भारती शतकम्', 'बालनन्दम्' आदि ग्रन्थों के आप यशस्वी रचयिता हैं। आप तेलुगु-और संस्कृत-भाषा के वयोवृद्ध विद्वान् हैं।

४—श्री सिद्वन हल्लीकृष्ण शर्मा*

श्री सिद्वन हल्लीकृष्ण शर्मा कन्नड-भाषा और साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। आप कन्नड साहित्य-परिषद् के मंत्री एवं गांधी-साहित्य संघ के अध्यक्ष रह चुके हैं। आप गांधीवाद एवं सर्वोदयवाद के अन्यतम समर्थकों में हैं। आप 'कन्नड-हरिजन' 'कन्नड-सर्वोदय', 'कन्नड-भूदान', दैनिक एवं साप्ताहिक 'विश्व-कर्नाटक' आदि पत्र-पत्रिकाओं का संपादन कर चुके हैं। गांधीवाद और सर्वोदय-साहित्य के प्रति आपको विशेष आस्था रही है। आपने मैसूर गांधी-निधि के संचालन का कार्य भी सफलतापूर्वक सँभाला है।

---

* बहुत प्रयत्न करने पर भी आपका विशेष परिचय और चित्र नहीं उपलब्ध हो सका।

५—श्री पी० वी० कृष्णन नायर

श्री० पी० वी० कृष्णन नायर का जन्म, जगद्गुरु शंकराचार्य की पवित्र जन्मभूमि 'कालडी' के निकट एक ग्राम में, सन् १९१० ई० में, हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद
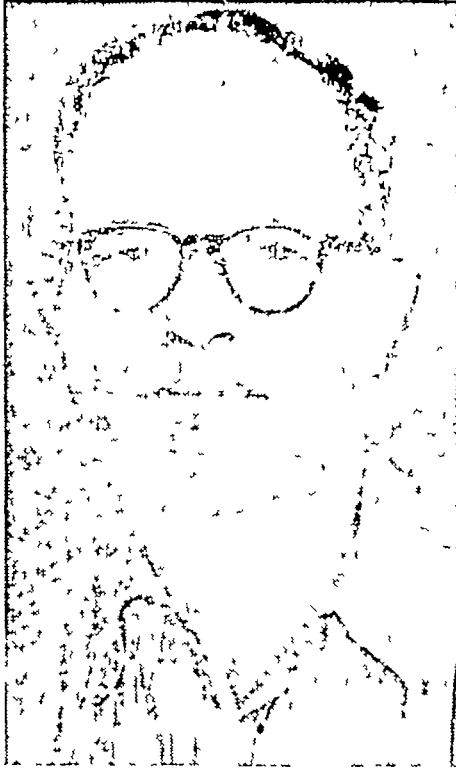
आपने ग्यारह वर्षों तक संस्कृत साहित्य और व्याकरण का विधिवत् अध्ययन किया। अपनी तीव्र प्रतिभा के कारण आपने त्रिवेन्द्रम् के महाराजा संस्कृत कॉलेज से 'महोपाध्याय' की उपाधि प्राप्त की और 'कोचीन-शिक्षा-सेवा' में भाषा-अध्यापक के रूप में प्रविष्ट हुए। आपने सन् १९३८ ई० में, मद्रास-विश्वविद्यालय के ओरियंटल अनुसंधान-विभाग में रिसर्च स्कालर होकर प्रवेश किया। इसके बाद आपने मद्रास-विश्वविद्यालय से मलयाला लेकर एम्० ए० की परीक्षा पास की। सन् १९४० ई० में 'एर्नाकुलम्' के महाराजा-कॉलेज में पूर्वीय भाषाओं के अध्यापक नियुक्त हुए।

आपने अपना साहित्यिक जीवन, मलयाला-भाषा में कविता, छोटी कहानी और जीवनी के लेखक के रूप में आरम्भ किया। किन्तु, आगे चलकर आप मलयाला के निबन्धकार और एकांकीकार के रूप में प्रसिद्ध हुए, जिसके फलस्वरूप आपका एकांकी नाटकों का संग्रह 'समागम' प्रकाशित हुआ।

६—प्रोफेसर केशवराम काशीराम शास्त्री

विक्रम संवत् १९६२ में, श्रावण-कृष्ण एकादशी (२८ जुलाई, सन् १९०५ ई०) को सौराष्ट्र-प्रान्त के मांगरोल नगर में जन्म। घर पर ही शिक्षा-दीक्षा का श्रीगणेश। पिता संस्कृत के विद्वान् हैं। उन्हीं से संस्कृत-व्याकरण, पंच काव्य-नाटकादि, भागवत पुराण, वल्लभवेदांत ग्रंथ, अणुभाष्यादि का अध्ययन। अध्यापन-काल में पाली-प्राकृत-अपभ्रंश, प्राचीन गुजराती, व्रजभाषा एवं भाषा-शास्त्र का स्वतंत्र रूप से अध्ययन। बम्बई-विश्वविद्यालय से प्रवेशिका परीक्षोत्तीर्ण। विभिन्न पाठशालाओं में लगभग तीन साल तक अध्यापक। वल्लभाचार्य के व्यान के 'सौन्दर्य-पद' की संस्कृत टीका का संपादन, और गुर्जरानुवाद का प्रकाशन। गुजराती-पिंगल 'वृत्तमंजरी' के संपादक। 'अमरकोश' और 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के गुजराती अनुवादक। गुजराती उच्चारण के बारे में विशिष्ट शोध। गुजराती-लिपि में संशोधन और
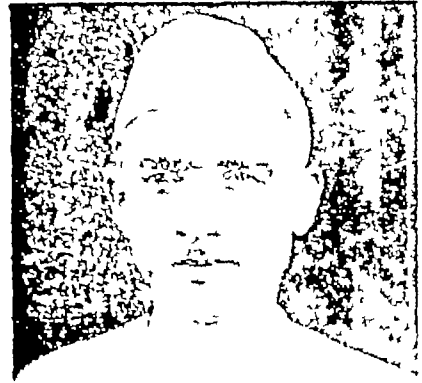
राष्ट्रलिपि का संस्करण। प्राचीन गुजराती के वल्लभाख्यान एवं महाभारत के पर्वों के संपादन में जीवन के इक्कीस वर्ष लगाये, जो अब प्रकाशित हो चुके हैं। सन् १९३७ ई० में गुजराती-भाषा के हस्तलिखित प्राचीन ग्रन्थों की पत्री तैयार करने के लिए अहमदाबाद की 'गुजरात-विद्या-सभा' में नियुक्ति। सन् १९३८ ई० में 'कवि-चरित' लिखा—प्रथम खंड संपूर्ण प्रकाशित, द्वितीय खंड के दो भाग छपे। 'आपणा कवियो' का पहला खंड अपभ्रंश-साहित्य का इतिहास तैयार किया। उक्त विद्यालय में क्यूरेटर के पद पर नियुक्ति। लगभग पचास छोटे-मोटे ग्रंथ प्रकाशित। इस समय का चालू काम 'गुजराती-भाषा का व्युत्पत्ति-कोश', गुजराती-भाषा-शास्त्र, प्रेमानन्द एक अध्ययन, नरसिंह मेहता : एक अध्ययन तथा प्रेमानन्द के काव्यों का शास्त्रीय संपादन। यद्यपि कॉलेज की शिक्षा नहीं पाई, तथापि सतत विद्या व्यासंग, विशिष्ट, अनुसंधान (रिसर्च), गंभीर स्वाध्याय एवं निरंतर अध्यापन-कार्य के कारण बम्बई तथा गुजरात के विश्वविद्यालयों में एम्० ए० के छात्रों के लिए गुजराती-भाषा-साहित्य के युनिवर्सिटी-प्रोफेसर। एस्० एन्० डी० टी० युनिवर्सिटी, 'युनिवर्सिटी ऑफ वीमेन' की ओर से भी एम्० ए० की छात्राओं के लिए युनिवर्सिटी-टीचर। बम्बई-सरकार द्वारा संघटित नागरी लिपि संशोधन-समिति के सदस्य। नागरी-लिपि-सुधार के कार्य में बीस वर्षों से अनवरत संलग्न। परम वैष्णव।

७—प्रोफेसर अरविन्द मंगरुलकर

बम्बई-विश्वविद्यालय की प्रवेशिका-परीक्षा में, संस्कृत में, सर्वप्रथम होने के कारण, प्रथम-श्रेणी की जगन्नाथशंकर सेठ-संस्कृत-छात्रवृत्ति प्राप्त की। पुनः उसी विश्वविद्यालय से बी० ए० की संस्कृत परीक्षा में, सर्वोच्च श्रेणी का सम्मान (ऑनर्स) प्राप्त करने के कारण 'भाऊ-दाजी-पारितोषिक' पाया। आजकल सर परशुराम भाऊ कॉलेज में संस्कृत-अर्द्धमागधी-विभाग के अध्यक्ष एवं अध्यापक। पूना-नगर में संस्कृत के सर्वोत्तम अध्यापकों में प्रसिद्ध एवं यशस्वी। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के सर्वाङ्गसुन्दर संस्करण के सम्पादक। महाराष्ट्र की प्रतिष्ठित शिक्षा-संस्थाओं में विख्यात 'शिक्षण-प्रसारक-मंडली' के आजीवन सदस्य। सम्प्रति 'आजीवन-

सदस्य संघ' के मंत्री और उक्त 'मंडली' के सहमंत्री। मराठी-भाषा-साहित्य की केन्द्रीय संस्था 'महाराष्ट्र साहित्य-परिषद्' के भी मंत्री। प्राचीन भारतीय पद्धति के संगीत के उद्भट मर्मज्ञ एवं समीक्षक के रूप में अत्यन्त प्रसिद्ध। प्राचीन रीति के भारतीय संगीत की संश्लेषणात्मक-विश्लेषणात्मक प्रणाली के आलोचन-विलोचन में विशेष लब्धकीर्त्ति। प्राचीन संगीत में सौन्दर्य-निरूपण कर साहित्यिक मधुरिमा प्रदर्शित की है। अनेक लेखों में संस्कृत-ज्ञान के साथ-साथ शैली का साहित्यिक सौन्दर्य मिश्रित।

८—रायबहादुर आर्त्तवल्लभ महन्ती

बाल्यावस्था से ही आपकी प्रवृत्ति धर्म की ओर रही। छात्रावस्था से ही साधु महात्माओं के सत्संग के अनुरागी। सन् १९१४ में ही एम्० ए० पास कर कटक के रावेन्शॉ-कालेज में संस्कृत और उत्कल के अध्यापक हुए। आपने 'प्राचीन समिति' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य साहित्य के प्रतिभाशाली विद्वानों के विषय में सर्वसाधारण में प्रचार करना था। सन् १९४८ ई० में, अवकाश ग्रहण करने पर, आपने अपनी ५३ प्रकाशित पुस्तकों का प्रकाशनाधिकार उत्कल-विश्वविद्यालय को अर्पित कर दिया। अपने संग्रह किये हुए तालपत्र-लिखित लगभग ५०० प्राचीन ग्रंथ भी आपने उत्कल-विश्वविद्यालय को दे दिये। आपने अनेक शिक्षण-संस्थाओं और साहित्यिक समितियों का संस्थापन एवं

संचालन किया है। उत्कल-साहित्य-समाज के आप सभापति हैं। विश्वविद्यालय

के साहित्य-विभाग (आर्ट्स) के आप 'डीन' (दशप) तथा संस्कृत एसोसिएशन के मान्य सदस्य भी हैं।

९—श्री रेवतीरंजन सिन्हा

श्री रेवतीरंजन सिन्हा का जन्म, बंगीय कायस्थ-परिवार में, सन् १९२० ई० में, २ सितंबर को, हुआ था। आपका आदि-निवास-स्थान मुर्शिदाबाद जिले के 'कान्दी' तहसील में 'वेले' गाँव है। वहाँ से आपके पूर्व-पुरुष दिनाजपुर चले गये थे। आपके पितामह स्व० मनोहर सिन्हा व्रजधाम प्राप्ति के लिए बंगाल छोड़कर वृन्दावन जाकर वैष्णव भक्त हो गये थे। उनका प्रभाव शिशु रेवतीरंजन पर पड़ा तथा तुलसीदास, सूरदास, मीरा आदि सन्त-कवियों की पीयूष-धारा से जैसे-जैसे आपके पितामह अपने को तृप्त करते थे, वैसे-वैसे अपने पौत्र को भी आकर्षित करते जाते थे। शिशु-काल के इस वातावरण का परिणाम यह निकला कि आपका अनुराग हिन्दी के प्रति बढ़ता गया और अध्ययन-काल में आपके हिन्दी के अध्ययन का क्रम भी चलता रहा।

आर्थिक दुरवस्था तथा अवरोधों के कारण किसी एक स्थान पर आपकी नियमित पढ़ाई न हो सकी, फलत बंगाल, विहार, उत्तर-प्रदेश, दिल्ली आदि प्रदेशों के विभिन्न स्थानो में शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला। इससे मातृभाषा बँगला के साथ साथ हिन्दी-ज्ञान भी पुष्ट होने लगा। उस शैशव का संस्कार इतना दृढ हुआ कि आप हिन्दी-ऑनर्स, साहित्यरत्न आदि की परीक्षाओं में स-सम्मान उत्तीर्ण हुए। कलकत्ता-विश्वविद्यालय की आई० ए० परीक्षा में, हिन्दी के विशेष प्रश्न पत्र में, आपने ८५ प्रतिशत अंक पाये थे। आज आप एकान्त-भाव से हिन्दी-सेवा में ही संलग्न हैं। हिन्दी-प्रचार तथा प्रसार के क्षेत्र में आप प्राय गत १५ वर्षों से लगे हुए हैं। छात्रावस्था से ही विशेष रुचि के साथ आप राष्ट्रभाषा के प्रचार का कार्य करते आ रहे हैं। इस समय 'पश्चिम बंग-राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति' (कलकत्ता) के अवैतनिक मंत्री तथा 'राष्ट्रभाषा-प्रचार-

७—प्रोफेसर अरविन्द मंगरुलकर

बम्बई-विश्वविद्यालय की प्रवेशिका-परीक्षा में, संस्कृत में, सर्वप्रथम होने के कारण, प्रथम-श्रेणी की जगन्नाथशंकर सेठ-संस्कृत-छात्रवृत्ति प्राप्त की। पुनः उसी विश्वविद्यालय से बी० ए० की संस्कृत परीक्षा में, सर्वोच्च श्रेणी का सम्मान (ऑनर्स) प्राप्त करने के कारण 'भाऊ-दाजी-पारितोषिक' पाया। आजकल सर परशुराम भाऊ-कॉलेज में संस्कृत-अर्द्धमागधी-विभाग के अध्यक्ष एवं अध्यापक। पूना-नगर में संस्कृत के सर्वोत्तम अध्यापकों में प्रसिद्ध एवं यशस्वी। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के सर्वाङ्गसुन्दर संस्करण के सम्पादक। महाराष्ट्र की प्रतिष्ठित शिक्षा-संस्थाओं में विख्यात 'शिक्षण-प्रसारक-मंडली' के आजीवन सदस्य। सम्प्रति 'आजीवन-सदस्य संघ' के मंत्री और उक्त 'मंडली' के सहमंत्री। मराठी-भाषा-साहित्य की केन्द्रीय संस्था 'महाराष्ट्र साहित्य-परिषद्' के भी मंत्री। प्राचीन भारतीय पद्धति के संगीत के उद्भट मर्मज्ञ एवं समीक्षक के रूप में अत्यन्त प्रसिद्ध। प्राचीन रीति के भारतीय संगीत की संश्लेषणात्मक-विश्लेषणात्मक प्रणाली के आलोचन-विलोचन में विशेष लब्धकीर्त्ति। प्राचीन संगीत में सौन्दर्य-निरूपण कर साहित्यिक मधुरिमा प्रदर्शित की है। अनेक लेखों में संस्कृत ज्ञान के साथ-साथ शैली का साहित्यिक सौन्दर्य मिश्रित।

८—रायबहादुर आर्त्तवल्लभ महन्ती

बाल्यावस्था से ही आपकी प्रवृत्ति धर्म की ओर रही। छात्रावस्था से ही साधु महात्माओं के सत्संग के अनुरागी। सन् १९१४ में ही एम्० ए० पास कर कटक के रावेन्शॉ-कालेज में संस्कृत और उत्कल के अध्यापक हुए। आपने 'प्राचीन समिति' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य साहित्य के प्रतिभाशाली विद्वानों के विषय में सर्वसाधारण में प्रचार करना था। सन् १९४८ ई० में, अवकाश ग्रहण करने पर, आपने अपनी ५३ प्रकाशित पुस्तकों का प्रकाशनाधिकार उत्कल-विश्वविद्यालय को अर्पित कर दिया। अपने संग्रह किये हुए तालपत्र-लिखित लगभग ५०० प्राचीन ग्रंथ भी आपने उत्कल-विश्वविद्यालय को दे दिये। आपने अनेक शिक्षण-संस्थाओं और साहित्यिक समितियों का संस्थापन एवं संचालन किया है। उत्कल-साहित्य-समाज के आप सभापति हैं। विश्वविद्यालय

के साहित्य-विभाग (आर्ट्स) के आप 'डीन' (दशप) तथा संस्कृत एसोसिएशन के मान्य सदस्य भी हैं।

९—श्री रेवतीरंजन सिन्हा

श्री रेवतीरंजन सिन्हा का जन्म, बंगीय कायस्थ-परिवार में, सन् १९२० ई० में, २ सितंबर को, हुआ था। आपका आदि-निवास-स्थान मुर्शिदाबाद जिले के 'कान्दी' तहसील में 'बेले' गाँव है। वहाँ से आपके पूर्व-पुरुष दिनाजपुर चले गये थे। आपके पितामह स्व० मनोहर सिन्हा ब्रजधाम प्राप्ति के लिए बंगाल छोड़कर वृन्दावन जाकर वैष्णव भक्त हो गये थे। उनका प्रभाव शिशु रेवतीरंजन पर पड़ा तथा तुलसीदास, सूरदास, मीरा आदि सन्त-कवियों की पीयूष-धारा से जैसे-जैसे आपके पितामह अपने को तृप्त करते थे, वैसे-वैसे अपने पौत्र को भी आकर्षित करते जाते थे। शिशु-काल के इस वातावरण का परिणाम यह निकला कि आपका अनुराग हिन्दी के प्रति बढ़ता गया और अध्ययन काल में आपके हिन्दी के अध्ययन का क्रम भी चलता रहा।
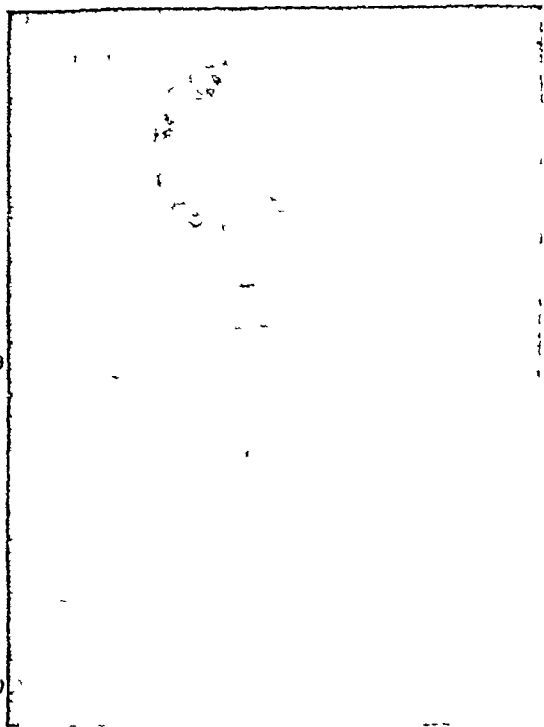
आर्थिक दुरवस्था तथा अवरोधों के कारण किसी एक स्थान पर आपकी नियमित पढ़ाई न हो सकी। फलतः बंगाल, बिहार, उत्तर-प्रदेश, दिल्ली आदि प्रदेशों के विभिन्न स्थानों में शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला। इससे मातृभाषा बँगला के साथ साथ हिन्दी-ज्ञान भी पुष्ट होने लगा। इस शैशव का संस्कार इतना दृढ़ हुआ कि आप हिन्दी-ऑनर्स, साहित्यरत्न आदि की परीक्षाओं में स-सम्मान उत्तीर्ण हुए। कलकत्ता-विश्वविद्यालय की आई० ए० परीक्षा में हिन्दी के विशेष प्रश्न पत्र में, आपने ८५ प्रतिशत अंक पाये थे। आज आप एकान्त-भाव से हिन्दी-सेवा में ही संलग्न हैं। हिन्दी-प्रचार तथा प्रसार के क्षेत्र में आप प्रायः गत १५ वर्षों से लगे हुए हैं। छात्रावस्था से ही विशेष रुचि के साथ आप राष्ट्रभाषा के प्रचार का कार्य करते आ रहे हैं। इस समय 'पश्चिम बंग-राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति' (कलकत्ता) के अवैतनिक मंत्री तथा 'राष्ट्रभाषा-प्रचार-

समिति' (वर्धा) के प्रान्तीय सचालक हैं। बीच-बीच में आप स्कूलों, कॉलेजो और सरकारी सस्थाओं में नौकरियाँ करते रहे, पर राष्ट्रभाषा-प्रचार कार्य के लिए बार-बार छुट्टी लेने और प्रवास में रहने के कारण अब आप इन नौकरियों से सदा के लिए मुक्त हो गये हैं।

हिन्दी तथा बँगला के विभिन्न पत्रों में आपके कितने ही निबंध आदि प्रकाशित हुए हैं। आपने बहुत-सी पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें से कई पुस्तकों के पाँच सस्करण निकल चुके हैं। आपकी लिखी बँगला-माध्यम से हिन्दी सीखने की कई पुस्तकें बड़ी ही उपयोगी सिद्ध हुई हैं। वे पुस्तकें श्रेष्ठ पत्र-पत्रिकाओं सम्पादकों, केन्द्रीय शिक्षा-विभाग तथा उच्च शिक्षित व्यक्तियों एव विद्वानो की प्रशसा प्राप्त कर चुकी हैं। कलकत्ता-आकाशवाणी द्वारा आप तीन वर्ष तक बँगला-माध्यम से हिन्दी सिखाने का कार्य सँभालते रहे। इस काम में आपने विशेष ख्याति अर्जित की। बँगला से हिन्दी तथा हिन्दी से बँगला अनुवाद का कार्य भी सुन्दर रूप से करने का यश आपने प्राप्त किया है।

१०—श्री छगनलाल जैन

असम राज्य के गुवाहाटी नगर से कुछ दूरी पर पलासबाटी एक छोटा-सा शहर है। यही श्री छगनलाल जैन का जन्मस्थान है। सन् '६२४ ई० में वसन्त पचमी को आपका जन्म हुआ था। आपके पिता का नाम स्व० प्रेमसुख जैन है।

आपने अपनी पढाई की ओर कदम बढाया ही था कि आपके पिता चल बसे। आर्थिक कठिनाई ने स्कूल छोडने को मजबूर कर दिया। किन्तु, आपके चचेरे भाई श्री गुलाबचंद्र जी ने तिनसुकिया के हाई स्कूल में आपका नाम लिखा दिया। सन् १६४१ ई० में आप मैट्रिक की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। गुवाहाटी के 'कटन कॉलेज' से आपने आई० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। सन् १६४५ ई० में आपने अँगरेजी में ऑनर्स के साथ बी० ए० पास किया। आपने कलकत्ता-विश्वविद्यालय से अँगरेजी में एम्० ए० की

उपाधि ली। कलकत्ता में आप ट्यूशन से अपनी पढाई के खर्च का अधिकाश उपार्जित कर लेते थे। आपने कानून की परीक्षा गुवाहाटी-विश्वविद्यालय से पास की और सन् १६५२ ई० में असम-हाईकोर्ट के एक एडवोकेट बन गये।

आप मारवाड़ी-जाति के एक बडे प्रसिद्ध समाज सुधारक हैं। जब आप पूर्व-ज्योति प्रेस के मालिक बने, तब आपने 'पूर्व-ज्योति'-नामक एक मासिक पत्रिका निकाली। उसके द्वारा आपने समाज सुधार के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। मैट्रिक से लेकर बी० ए० तक आपने असमीया भाषा को ही मातृभाषा के रूप में पढा था।

जितनी आपमें सामाजिक संस्कृति को दुरुस्त करने की लगन है, उससे कहीं अधिक साहित्य सेवा का ध्यान है। आप भावुक कवि भी हैं। आप नाटक, उपन्यास और कहानी आदि भी लिखते हैं। असमीया भाषा में आपकी कई अच्छी रचनाएँ भी प्रकाशित हुई हैं। उनमें 'एटि प्रश्न' कहानी सग्रह और 'सन्यास ने संसार' नाटक को लोगों ने बहुत पसंद किया है। असमीया-साहित्य में आपको ऊँचा स्थान प्राप्त है। इसके अलावा आप रेडियो-लेखक भी हैं।

हिन्दी में भी आपकी कई बढिया रचनाएँ हैं। 'हँसते-हँसते जीना', 'इन्सान की खोज' और 'सघर्ष' आदि रचनाएँ हिन्दी साहित्य के भाडार में अपनी जगह बनाने में समर्थ हैं।

आपने राष्ट्र-भाषा प्रचार में भी अपना अमूल्य समय देकर राष्ट्र की सेवा की है। स्व० प्रो० रजन ने आपको राष्ट्रभाषा-प्रचार की प्रेरणा दी थी। आपने वर्धा-राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति का सचालन भी बड़ी योग्यता से किया था। असम प्रदेश में भी आपने चार-पाँच वर्षों तक इस दिशा में कठिन परिश्रम किया था। जब असम रा० भा० प्रचार-समिति के साथ वर्धा-समिति ने एकीकरण का प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया तब आप असम-राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, गुवाहाटी के साहित्य-मत्री चुने गये। अब भी आप इस पद को सुशोभित कर रहे हैं। आपने अनेक पुस्तकों का सपादन किया है। असम-राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति की परीक्षा और प्रचार-समितियों के आप भी सदस्य हैं। समिति के कार्यों में आपका मुख्य हाथ रहा है। समिति द्वारा प्रकाशित मासिक पत्रिका 'राष्ट्र-सेवक' के आप सपादक हैं। कई शिक्षण-सस्थाओं के आप मत्री और सभापति भी हैं। आपके परिश्रम से ही 'हिन्दी-असमीया-शब्द-कोश' तैयार हुआ है।

११—सरदार करतार सिंह दुग्गल

आपका जन्म पश्चिम पंजाब के रावलपिंडी जिले में सन् १९१७ ई० के मार्च महीने में हुआ। लाहौर के फार्मन क्रिश्चियन कॉलेज से आपने अँगरेजी में एम्० ए० पास किया। इसके बाद पंजाब-विश्वविद्यालय में 'पंजाब के लोक-साहित्य' पर दो वर्षों तक अनुसंधान किया। विद्यार्थी जीवन में तो आपने केवल कविताएँ ही लिखीं। बाद में आपने उपन्यास, कहानी और नाटक लिखे। आप रेडियो के लिए रूपक लिखने में सिद्धहस्त हैं। साहित्य की प्रेरणा आपको अपने दो पितृव्यों से मिली थी।

पंजाबी-भाषा की दस पुस्तकें आपने लिखी हैं, जो प्रकाशित हैं। हिन्दी के भी 'अमानिशा' और 'नया घर' नामक आपके दो कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। आपके पंजाबी-भाषा के दो उपन्यास 'नवतेमास', और 'आन्दरा' भी प्रकाशित हैं। हिन्दी के 'चील और चट्टान' एवं 'चोली-दामन' उपन्यास भी मुद्रित हैं। आपके लिखे छह नाटक भी पंजाबी में निकल चुके हैं और हिन्दी में 'मीठा पानी', 'पसन्द अपनी-अपनी' तथा 'शोर और संगीत' ये तीन नाटक प्रकशित हो चुके हैं। 'दिया बुझ गया' नामक उर्दू-नाटक भी आपका प्रकाशित है। आपकी लिखी 'कण्डे कण्डे'-नामक एक कविता-पुस्तक भी पंजाबी में मुद्रित है। 'भगवान और रेडियो'-नामक आपकी लिखी कहानी सर्वश्रेष्ठ कहानी मानी गई है। आप अत्यन्त मेधावी छात्र थे। जब छठी श्रेणी में पढ़ते थे तभी अखिल भारतीय कवि सम्मेलन में आप अपनी कविता के लिए पदक प्राप्त कर चुके थे। आजकल आप हैदराबाद (दक्षिण) के ऑल-इण्डिया रेडियो में कार्यक्रम-संचालक हैं।

१२—प्रोफेसर पृथ्वीनाथ 'पुष्प'

जन्मस्थान : कश्मीर।

जन्म-तिथि : १६ नवम्बर, १६१७ ई०।

शिक्षा : बी० ए० (ऑनर्स), एम्० ए०, हिन्दी-प्रभाकर, संस्कृत-शास्त्री, एम्० ओ० एल्०।

धन्धा : सन् १६४० ई० से जम्मू और कश्मीर-राज्य के विभिन्न कॉलेजों में हिन्दी तथा संस्कृत का अध्यापन।

व्यसन : तुकबन्दी, भाषाविज्ञान-परिशीलन, लोक-संस्कृति का अध्ययन, बालसाहित्य का सर्जन।

आयोजन : साहित्य-संस्थाओं का प्रतिष्ठापन तथा संचालन।

सन् १६५६ ई० में कश्मीर के प्रथम हिन्दी साप्ताहिक 'चन्द्रोदय' के प्रधान सम्पादक।

सन् १६४८ ई० में जम्मू-रेडियो में कश्मीरी-प्रोग्राम का प्रारम्भिक संचालन, ऑल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस के अधिवेशनों पर निबन्ध-पाठ।

सन् १६५१ ई० में भारत-सरकार द्वारा आयोजित अखिल भारतीय विश्वविद्यालय हिन्दी-प्राध्यापक-सम्मेलन (दिल्ली) में जम्मू और कश्मीर-विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व।

सन् १६५३ ई० में भारतीय संविधान की कश्मीरी-अनुवाद-समिति की सदस्यता।

सन् १६५५-५६ ई० राजभाषा- आयोग की सदस्यता।

सन् १६५५ ई० में आकाशवाणी-समारोह (दिल्ली) में कश्मीरी का प्रतिनिधित्व।

सन् १६५६ ई० से साहित्य-अकादेमी, कश्मीरी-परामर्श-समिति की सदस्यता।

सन् १६५७ ई० में लिंग्विष्टिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया की कार्यकारिणी की सदस्यता।

शोध-कार्य—(क) कश्मीर की प्राचीन संस्कृति, (ख) कश्मीर में संस्कृत साहित्य का विकास (ग) कश्मीरी लोकगीत और लोकोक्तियाँ, (घ) कश्मीरी-भाषा और साहित्य, (ङ) आधुनिक हिन्दी कविता में मानव-दर्शन।

रचना—(क) पत्र पत्रिकाओं में कश्मीरी-भाषा, साहित्य और संस्कृति पर अँगरेजी, कश्मीरी, हिन्दी और उर्दू में बीसियों लेख।

(ख) निबन्ध—

१. Modern Trends in Hindi Poetry, 1942 Jammu
२ Kashmir's Contribution to Sanskrit Literature. Poona; 1951
३. Kshemendra's Satire 1953
४ कश्मीरी-साहित्य की रहस्यधारा १९५२
५ कश्मीरी-भाषा में राम-चर्चा १९५३
६ कश्मीरी-लोकगीत में लोक-जीवन १९५३
७ कश्मीरी भाषा का ध्वनि संस्थान १९५४
८ राजतरङ्गिणियों में समाज-चित्रण १९५४
९ काव्यशास्त्र को कश्मीर की देन १९५५

(ग) प्रकाश्यमान—

१ कश्मीरी-भावगीत
२ कश्मीरी-भाषा और साहित्य
३ क्षेमेन्द्र : एक अध्ययन
४ संस्कृत साहित्य को कश्मीर की देन
५ कश्मीरी-लोकोक्ति में लोक-जीवन

(घ) संकलन तथा सम्पादन—

१ आधुनिकहिन्दी-पद्य-परिचय १९५१
३ तरङ्गिणी (संस्कृत) १९५३
४ सरस पद्य-प्रवेशिका १९५३
५ नन्हा हिन्दी-व्याकरण १९५४
२. पद्य-पुष्पांजलि (हिन्दी) १९५६

१३—श्री सुहैल अजीमाबादी

आप पटना जिले (बिहार) के निवासी हैं। आप उर्दू के मशहूर शायर और लेखक हैं। उर्दू की 'तहजीब' पत्रिका के आप वर्षों सम्पादक रह चुके हैं। आप उर्दू-साहित्य में कथाकार, समालोचक और पत्रकार के रूप में पूर्ण प्रसिद्ध हैं। आजकल आप कश्मीर (श्रीनगर)-रेडियो के एक कार्याधिकारी हैं।

१४— प्रोफेसर नलिनविलोचन शर्मा

श्री शर्मा जी का जन्म सन १६१७ ई० में पटना में हुआ था। आपके पिता महामहोपाध्याय प० रामावतार शर्मा की विद्वत्ता देश-विदेश में विख्यात थी। आपके पूर्वज छपरा नगर के निवासी थे।

आपकी शिक्षा पटना नगर में ही हुई। सन १६३२ ई० में आपने मैट्रिक की परीक्षा पास की और सन् १६३६ ई० में बी० ए० (ऑनर्स) पास किया। सन् १६३८ ई० में आपने पटना-विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम० ए० और सन १६४२ ई० में हिन्दी में एम० ए० पास किया।

आपका साहित्यिक कार्यारंभ सन् १६३२ ई० में हुआ। आपके निबन्धों का संग्रह 'दृष्टि-कोण' नाम से प्रकाशित है। एक कहानी संग्रह भी 'विष के दाँत' के नाम से प्रकाशित है। 'साहित्य का इतिहास-दर्शन' विषय पर आपका भाषण परिषद् में हुआ है, जो पुस्तक-रूप में शीघ्र ही प्रकाशित होगा। बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से प्रकाशित होनेवाले त्रैमासिक 'साहित्य' के अतिरिक्त त्रमासिक 'दृष्टिकोण' तथा 'कविता' पत्रिकाओं के भी आप संपादक हैं। आप नवीन दृष्टिकोण के सम्मानित आलोचक और निबन्धकार तथा पत्रकार हैं। बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के आप अनेक वर्षों से साहित्य-मंत्री हैं।

आप जैन-कॉलेज (आरा) और सरकारी कॉलेज (राँची) में भी अध्यापन का कार्य कर चुके हैं। आजकल आप पटना कॉलेज में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हैं। बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा संस्थापित 'श्री बदरीनाथ सर्वभाषा-महाविद्यालय' के आप प्राचार्य हैं।